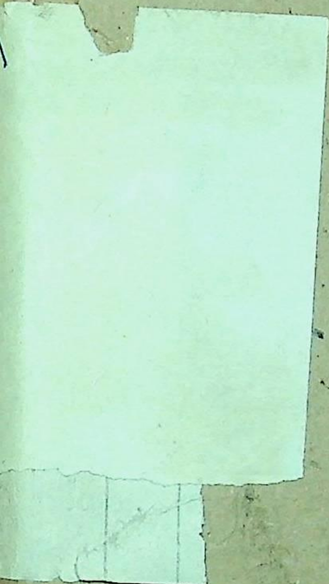




वैदिक वन्दन

—स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

दार्शनिक अध्यात्मतत्त्व

स्वामी ब्रह्ममुनि कृत इस पुस्तक में छहों दर्शनों का ईश्वर, जीवात्मा, मन, ध्यान आदि २० अध्यात्म विषयों का सूत्र व्याख्यान सहित विशद वर्णन तथा प्रत्येक विषय वेद से सम्पुट किया गया है। दर्शन ज्ञान के लिये अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। पृष्ठ १३४, मूल्य १॥)

वैदिक योगामृत

स्वामी जी की लिखी इस पुस्तक में अहिंसा से लेकर समाधि पर्यन्त योगाङ्गों का वैदिक सुन्दर व्याख्यान भारतीय संस्कृति का अनुपम वर्णन है।

मूल्य ॥=)

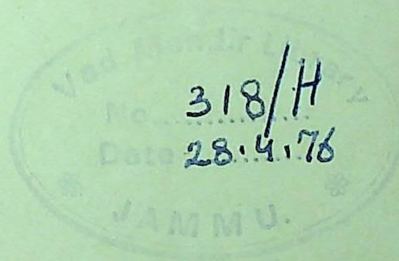
मिलने का पता :—

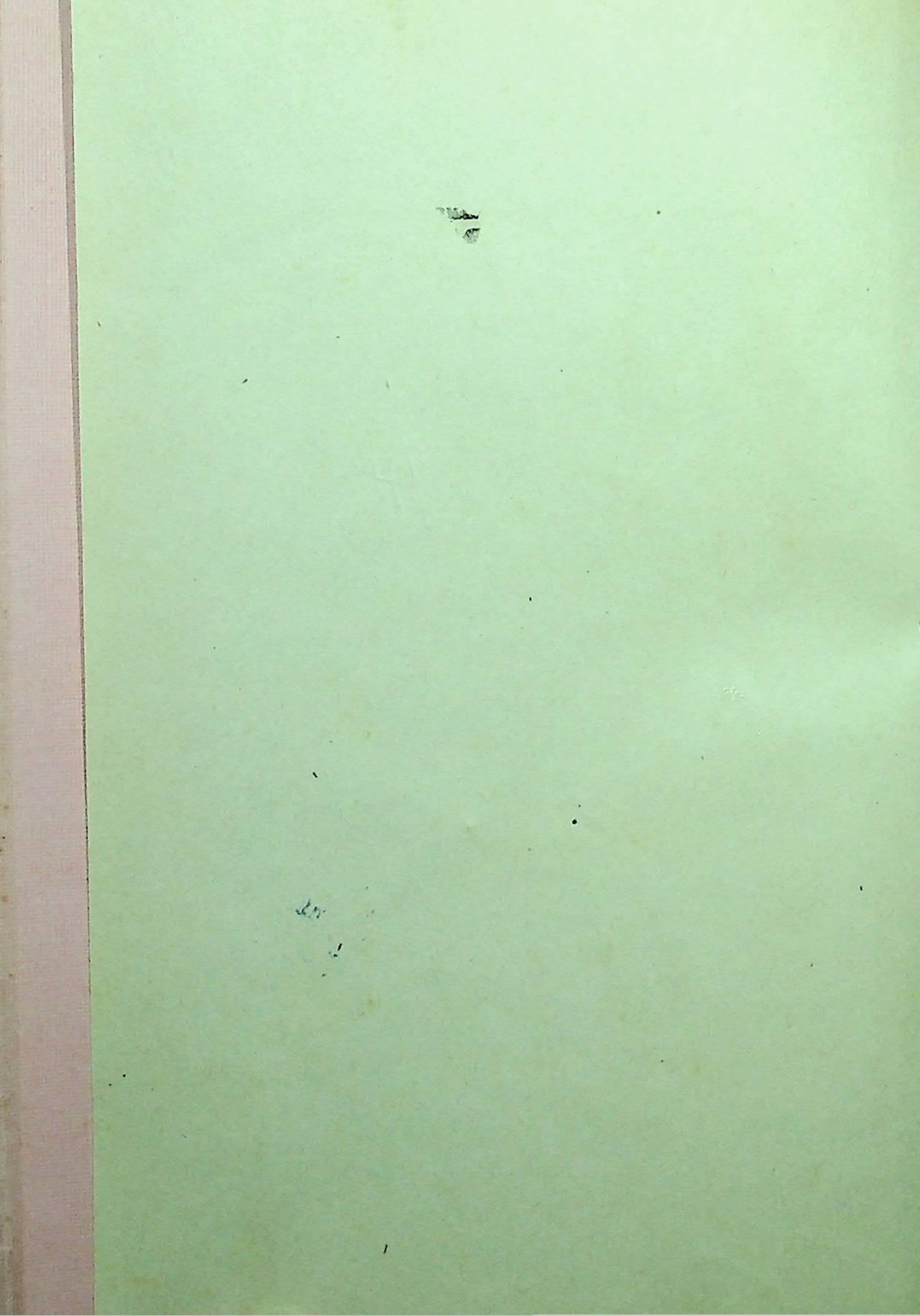
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

१४२ दयानन्द भवन,

नई दिल्ली-१

8/2/79





प्रिय-ग्रन्थमाला-पुष्प ४६
ब्रह्ममुनि-ग्रन्थमाला-पुष्प १४

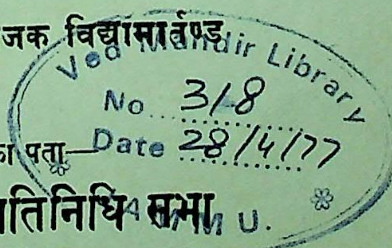
वैदिक वन्दन

जिसमें—

वेदों के अध्यात्मविषयक १४ सूक्त-अध्याय और ईश्वर, जीवात्मा, मन, मोक्ष, ध्यान, अभ्यास, वैराग्य आदि १३ विषयों के अतिरिक्त १६० प्रकीर्णमन्त्र अर्थ-व्याख्या सहित हैं। दैनिक सत्सङ्ग स्वाध्याय में उपयुक्त, साथ ही ऋषिका देवता से सम्बन्ध और मन्त्रार्थ में उपयोग प्रदर्शित है।

लेखक और प्रकाशक—

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड



पुस्तक मिलने का पता—

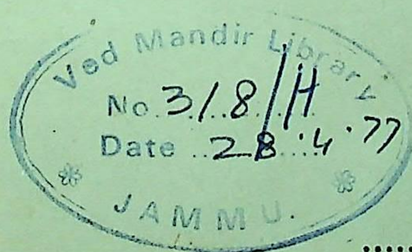
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
१४२, दयानन्द भवन,
नई दिल्ली-१

द्वितीय संस्करण १००० | पौष २०१७ वि० दिसम्बर १९६० ई० | मूल्य ५)

उपहार

श्री
———..के करकमलों में
प्रिय

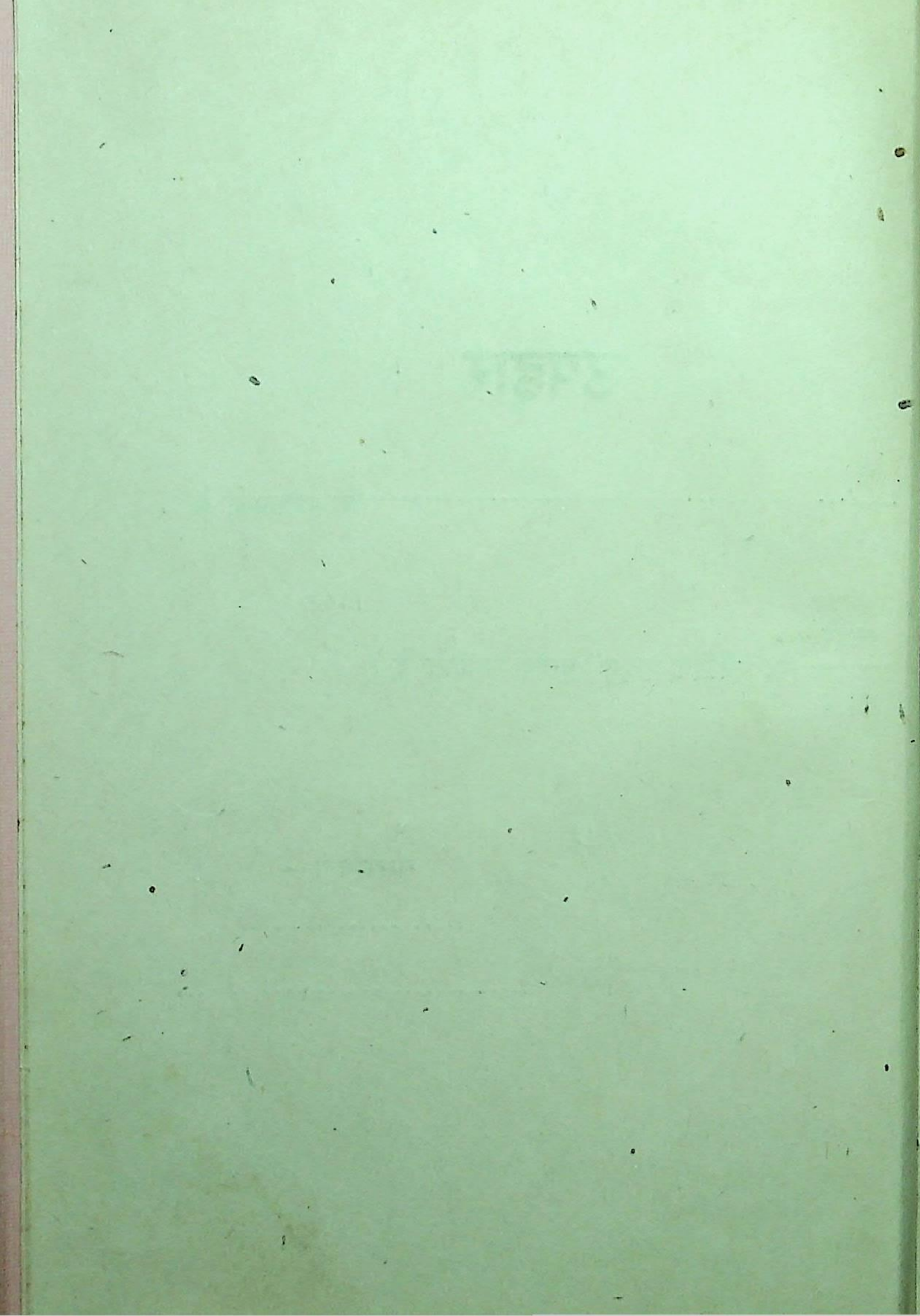
सादर
———यह "वैदिक वन्दन" पुस्तक समर्पित है।
सप्रेम



समर्पयिता—

....

....



विषयसूची



प्राक्कथन

यह बात सिद्ध है कि "श्रवणमन्तरेण न कस्य चिज्ज्ञानं भवति" श्रवण अर्थात् उपदेश या शिक्षा के विना किसी को कोई ज्ञान नहीं होता। श्रवण का आदि साधन है वेद, अतएव वेद को श्रुति भी कहते हैं। वेद "विद ज्ञाने" (अदादि०) से बना भी है, वह मानवोपयोगी ज्ञान का प्रेरक है। मानव का मन ज्ञान का पात्र है ज्ञान उसमें आकर गिरता है पुनः वह प्रवृद्ध होता है, ज्ञान का प्रेरक है ईश्वररचित ज्ञानसूर्य वेद। जैसे नेत्र रूप का पात्र है रूप का प्रेरक है ईश्वररचित सूर्य, सूर्य की रूपकिरणें—प्रकाश किरणें स्वतः सीधी सूर्य से या परतः अग्नि प्रदीप आदि के द्वारा नेत्र में पडने पर नेत्रवान् देखने में समर्थ होता है एवं ईश्वररचित ज्ञानसूर्य वेद की ज्ञानकिरणें स्वतः सीधी वेद से या परतः वेद के व्याख्यान-ग्रन्थों वैदिक ऋषियों के प्रवचनों परम्परागत लोकप्रचरित वैदिक वादों विचारों के द्वारा मन में पडने पर ही मनस्वी ज्ञान करने में ज्ञान की ओर बढने में समर्थ होता है।

अध्यात्मविद्या एवं अध्यात्म विषय सर्वोपरि विद्या या सर्व श्रेष्ठ विषय है क्योंकि बाह्य जीवन का आधार आन्तरिक जीवन-अध्यात्म जीवन है, वस्तुतः यह मानव का मौलिक जीवन है। जैसे वृक्ष का मौलिक जीवन उसके समस्त बाहिरी विकास का कारण या आधार है एवं अध्यात्म जीवन भी मानव के बाहिरी विकास का कारण या आधार है। वृक्ष के मौलिक जीवन या आन्तरिक जीवन के पदार्थ हैं अङ्कुर, मूल, बीज। एवं मनुष्य के मौलिक जीवन या आन्तरिक जीवन के पदार्थ हैं अन्तःकरण (मन), अन्तरात्मा (अपना आत्मा) अन्तर्यामी (परमात्मा)। अन्य अध्यात्म चर्चा ध्यानोपासन वैराग्य मोक्ष आदि इन ही तीनों मन, आत्मा, परमात्मा पर आश्रित हैं

इन्हीं को लक्ष्य बनाती हैं। वेद समस्त विद्याओंका अधिकरण होने से अध्यात्मविद्या का भी वेद में होना अनिवार्य है। वेद से हमने अनेक विषयों पर "अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र, वैदिक ज्योतिष्-शास्त्र, वेद में दो बडी वैज्ञानिक शक्तियां" आदि पुस्तकें विस्तृतरूप में लिखी हैं परन्तु अध्यात्म विषय में एक दो छोटी-छोटी पुस्तकें ही लिख सके थे। गत वर्ष ध्यान आया कि वेद के अध्यात्म विषय पर भी विस्तृतरूप में लिखा जावे। सो वह विचार ग्रन्थरूप में निबद्ध होकर पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ में प्रथम सूक्त और अध्यायों का प्रकरण होगा पश्चात् प्रकीर्ण मन्त्र। प्रत्येक सूक्त एवं मन्त्र के ऊपर उसके ऋषि और देवता को उनके वाच्यार्थ के साथ दिया है मन्त्रार्थों में उनके उपयोगी होने से उनका स्पष्टीकरण किया है। देवता तो मन्त्र की प्रधान वस्तु या अभीष्ट है यह तो स्पष्ट एवं प्रसिद्ध ही है परन्तु ऋषि भी मन्त्रार्थ में उपयोगी है और देवता के साथ उसका विशेष सम्बन्ध है, यह अब स्पष्ट करते हैं।

सायणाचार्य से पूर्व वेदभाष्यकार स्कन्द स्वामी ने लिखा है "तत्रार्षदैवतयोः अर्थबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते" मन्त्रार्थ बोध में ऋषि देवता का उपयाग होने से वे दिखाए जायेंगे।

छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि "यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोस्यन् स्यात्तां देवतामुपधावेद् येन छन्दसा स्तोष्यन् स्यात्तच्छन्द उपधावेत्" (छान्दो० १।३।९-१०) वेद का विद्यार्थी मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द को लक्ष्य में रखता हुआ योग्यता सम्पादन करे। छन्द और देवता तो मन्त्र में स्थिर रहते हैं उनको समझना तो आवश्यक है परन्तु ऋषि पर ध्यान रखना तो तभी आवश्यक है जबकि देवता और छन्द की भांति ऋषि का मन्त्र के साथ कोई स्थिर सम्बन्ध हो। हम देखते हैं विद्यार्थी को पाठ्य पुस्तकें (कोर्स) पाठ्य विषय (सब्जेकट) और पाठ्य के अध्ययन ज्ञान से योग्यता-

रूप शास्त्री आचार्य डि० लिट् डाक्टर आदि उपाधि को भी लक्ष्य में रखना होता है। जैसे अकेले पद के लिये शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का व्यवहार होता है। अकेले पद का नाम शब्द है तो अनेक पदों के समुदायरूप मन्त्र में छन्द है[1]। अकेले पद का अर्थ पदसमुदाय मन्त्र में देवता के रूप में है। अकेले पद का सम्बन्ध (अर्थ के साथ सम्बन्ध) पदसमुदायरूप मन्त्र में ऋषि नाम से प्रसिद्ध होता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होता है जिससे कि अर्थ निर्धारित होता है, सम्बन्ध के अनुसार शब्द और अर्थ को जान लेने वाला ज्ञाता भी सम्बन्धमय हो जाता है। कहा भी है "महान् देवः शब्द, महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्" (महाभाष्य व्याकरणम्) शब्द महान् देव है उसके साथ हमारी समता होजावे अतः उसके अर्थज्ञान के लिये व्याकरण पढना चाहिए। अकेले शब्द का अर्थद्वारा ज्ञातृरूप सम्बन्धधर्म मन्त्र में अर्थरूप देवता का ज्ञाता ऋषिरूप है जो कि यौगिक एवं उपाधिवाचक है।

ऋषि मन्त्रों एवं सूक्तों का द्रष्टा ज्ञानानुसार अनुभूतिकर्ता यौगिक एवं उपाधिरूप में है। इस विषय में निरुक्त के कुछ प्रमाण देते हैं—

"ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्" (निरु० ३।११) कुत्स ऋषि का नाम है स्तोमों का प्रयोगकर्ता होने से।

"कनिक्रदज्जनुषं···"(ऋ० २।४२।१) पर गृत्समद के प्रसङ्ग में "गृत्समदः-गृत्समदनः-गृत्स इति मेधाविनाम" (निरु० ६।५) मेधावी और हर्षालु 'गृत्समद' हुआ।

"इमं तं पश्य वृषभस्य।" (ऋ० १०।१०२।६) इस भार्म्यश्व-मुद्गल वाली=ऋचा के प्रसङ्ग में 'मुद्गलो मुद्गवान् मुद्गंगिलो वा

---

१. "छन्दो भाषाधर्मः" अनेक पदों का भाषाविन्यास छन्द है।

मदनं गिलतीति वा मदं गिलो वा मुदं गिलो वा। भार्म्यश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रः। भृम्यश्वो भृमयोऽस्याश्वा अश्वभरणाद्वा"(निरु० ६।२४) मुद्गल ऋषि का नाम है मुद्गवाला या मुद्ग खाने वाला या मदन अर्थात् कामभाव को पचाने वाला जितेन्द्रिय मद-गर्व का पचाने वाला गर्वरहित शान्त या मुद—हर्ष को पचाने वाला निःस्पृह। भार्म्यश्व-भ्रमणशील घोड़ों वाला या वैद्युत शक्तिसम्पन्न घोड़ों का भरण पोषण करने वाला वैद्युत शक्ति के आविष्कर्ता का पुत्र। यहां पिता का नाम भी यौगिक है।

"आर्ष्टिषेणो होत्रमृषि निषीदन्।" (ऋ० १०।९८।५) का ऋषि देवापि है, उस पर कहा है "देवानामाप्तया स्तुत्या प्रदानेन च" (निरु० २।११) देवों की प्राप्ति, स्तुति और प्रदान से देवापि ऋषि है।

"सं मा तपन्त्य····" (ऋ० १।१०५।८) इस त्रित ऋषिवाली ऋचा पर "त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव" (नि० ४।६) मेधा से प्रवृद्ध त्रित ऋषि कहा।

कहीं-कहीं ऋषि का ताद्धित विशेषण भी साथ दिया हुआ है जो कि पिता, गुरु, कुल (पितृकुल तथा गुरुकुल) का सूचक है पर वह भी यौगिक है यह भी निरुक्त में दर्शाया है—

ऊपर 'भार्म्यश्व मुद्गल' मुद्गल ऋषि के पिता भार्म्यश्व को यौगिक कहा गया है।

"कुशिकस्य सूनुः···कुशिकः क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः साधु क्रोशयिताऽर्थानिति वा" (निरु० २।२५) शब्द अर्थवाले क्रुश धातुसे या प्रकाश अर्थवाले क्रंश धातु से अर्थों का अच्छा प्रकाशक होने से कुशिक है उसका पुत्र, शिष्य या उससे सम्बन्ध रखने वाला कौशिक विश्वामित्र हुआ।

"औशिजः कक्षीवान्···कक्ष्यावान्—औशिज उशिजः पुत्रः"

उशिग् वष्टे: कान्तिकर्मण:" (निरु० ६।११) कक्षीवान् कक्ष्यावान् कर्मठ संयमी औशिज उशिक् का पुत्र, उशिक् कान्ति अर्थ वाले वश धातु से बना है उशिक् कान्तिमान् ब्रह्मतेजोयुक्त महानुभाव हुआ।

तद्धितसम्बन्ध से पिता ही नहीं किन्तु गुरु, कुल (पितृकुल गुरुकुल) अपितु कला विद्या आदि से निष्पन्न या उसमें व्युत्पन्न नि:ष्णात भी लिया जाता है ऐसे भी स्थल मिलते हैं। इसके लिये देखो हमारी लिखी "वेद में इतिहास नहीं" पुस्तक की 'ऋषिर्मीमांसा।'

किन्हीं पदार्थों के ज्ञाता एवं प्रचारक होने से उन उन नामों से भी ऋषि कहे जाते हैं जैसा कि "पुनरेहि वृषाकपे"...(ऋ० १३। ८६।११) इस वृषाकपि ऋषि वाले मन्त्र में "अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपि र्भवति वृषाकम्पन:" (निरु० १२।२८) किरणों द्वारा सूर्य कम्पता हुआ आता है वह वृषाकपि है। वृषाकपि सूर्य का ज्ञाता भी ऋषि वृषाकपि उपाधिप्राप्त है।

ऋषि और देवता का परस्पर सम्बन्ध भी होता है और वह उपयोक्ता-उपयोज्य, ज्ञाता-ज्ञेय, प्रार्थी-प्रार्थनीय, साधक-साध्य, भावुक-भावनीय, उत्पादक-उत्पाद्य, उपासक-उपास्य आदि रूप में होता है:—

उपयोक्ता-उपयोज्य—

"या ओषधी: पूर्वा जाता:..." (ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ९७) का देवता ओषधि और ऋषि भिषक् ओषधि का उपयोग कर्ता।

ज्ञाता-ज्ञेय—

"बृहस्पते प्रथमं वाचो..." (ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७१) का देवता ज्ञान और ऋषि बृहस्पति (उपाध्याय) ज्ञान का प्रवचन करने वाला ज्ञाता।

प्रार्थी-प्रार्थनीय--

"न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं···"(ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १७) का देवता धनान्नदानप्रशंसा और ऋषि भिक्षुक-धनान्न का प्रार्थी।[1]

"यां मेधां देवगणा···" (यजु० ३२।१४) का देवता परमात्मा प्रार्थनीय अर्चनीय है मेधार्थ—मेधा के लिये उससे प्रार्थना है और ऋषि है मेधाकाम—मेधा का चाहने वाला प्रार्थी।[2]

साधक-साध्य--

अथर्व० ५।१३, ७।८८, १०।४, का देवता सर्प, तक्षक, सर्प-विषनाशन और ऋषि गरुत्मान्—गर अर्थात् विष का उत्तम्भन करने खींचने वाला बाहिर निकालने वाला नष्ट करने वाला प्रयोगकर्ता साधक गरुत्मान्। गरुड पक्षी विष का नाशक होता है सर्प को खा जाता तक है, सर्पविषनिवारक जन को ग्रामों में गारुडी-गारुड़िया कहते भी हैं।

"मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय···" (ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १६१) का देवता राजयक्ष्मघ्न प्रयोग और ऋषि यक्ष्मनाशन—राजयक्ष्म रोग को नष्ट करने वाला हविप्रयोगकर्ता साधक।

भावुक-भावनीय--

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं···तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" (यजु० ३४।१-६) का देवता मन भावनीय और ऋषि शिवसङ्कल्प-कल्याणकर सङ्कल्प वाला भावुक।

उत्पादक-उत्पाद्य

"नासदासीन्नो सदासीत्···"(ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२९)

---

१. यहां प्रार्थनीय है अभीष्ट वस्तु।

२. यहां प्रार्थनीय है अभीष्ट वस्तु का दाता इष्टदेव।

का देवता भाववृत्त—उत्पत्तिवृत्त उत्पाद्य है और ऋषि प्रजापति परमेष्ठी उत्पादक है।

उपासक-उपास्य—

"उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि" (ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ८६—८६) का देवता वरुण वरणीय उपास्य परमात्मा और ऋषि वसिष्ठ परमात्मा में अतिशय वसने वाला उपासक। अस्तु।

इस ग्रन्थ में मन्त्रों के समस्त ऋषि और देवताओं का स्पष्टीकरण हम प्रत्येक मन्त्र या सूक्त पर करेंगे। ऋषियों के अर्थ स्पष्टीकरण में समान नाम ऋषि का सर्वत्र ही समान स्पष्टीकरण नहीं होगा किन्तु उसके देवता और मन्त्र के अनुसार अन्य स्पष्टीकरण भी होगा जो वहां सम्भव एवं युक्त होगा।

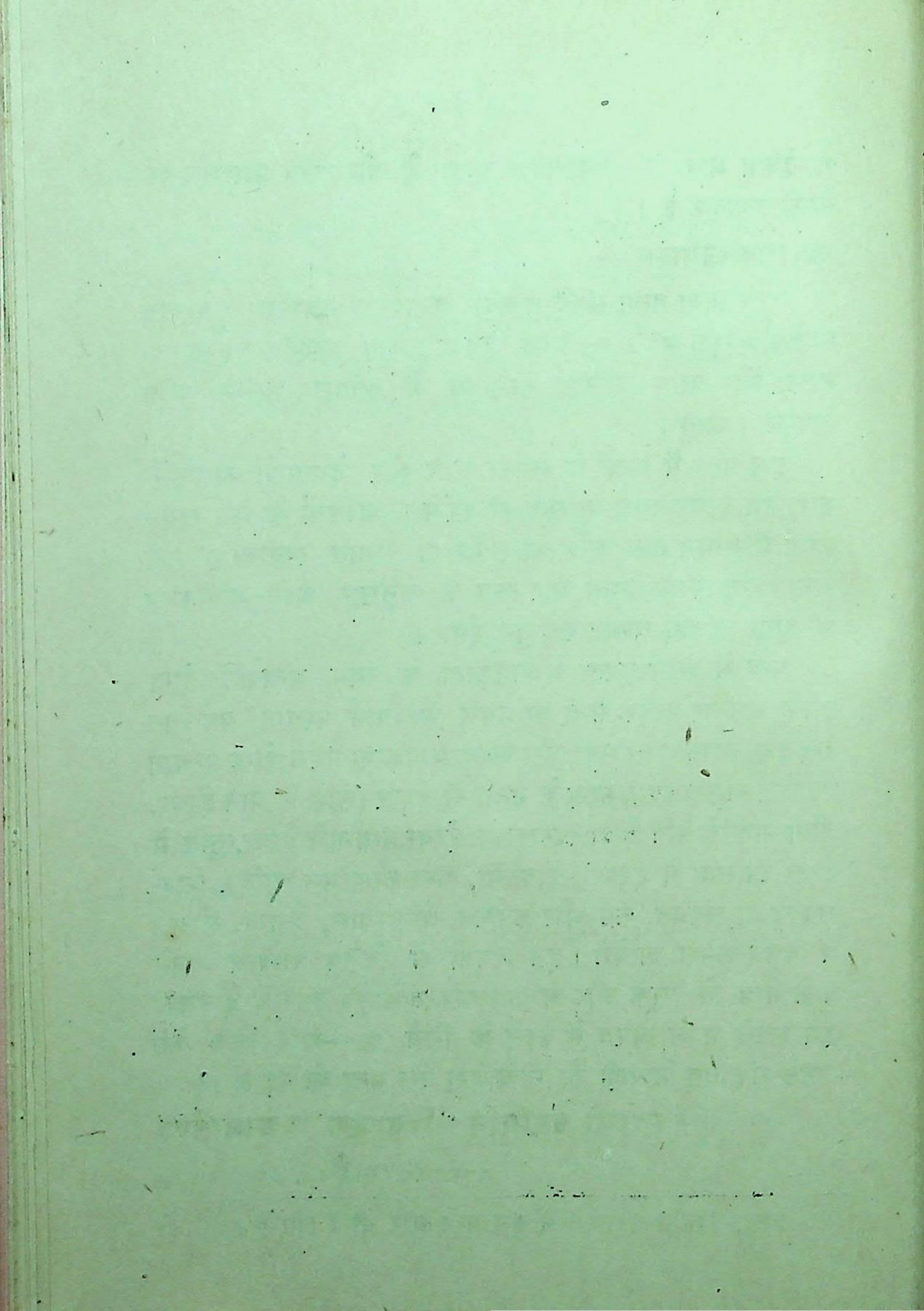
ग्रन्थ में ऋषि देवता के स्पष्टकरण के साथ मन्त्रपाठ होगा उसके अनन्तर प्रत्येक मन्त्र का प्रथम अन्वयार्थ पश्चात् यथोचित वन्दन या व्याख्या। "सूक्त और अध्याय" प्रकरण प्रथम होगा पश्चात् "प्रकीर्ण समन्वय" प्रकरण के मन्त्रों में ईश्वर (सृष्टि के प्रति ईश्वर, जीवात्माओं के प्रति ईश्वर, स्वस्वरूपतः ईश्वर, प्रार्थना में ईश्वर, स्तुति में ईश्वर, उपासना में ईश्वर), जीवात्मा, अन्तःकरण (मन आदि), शिवसङ्कल्प या सद्व्रत, कर्म और कर्मफल, योगाभ्यास, वैराग्य, मोक्ष। ये विषय क्रमशः आवेंगे। इन विषयों से विशेष सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र जो "सूक्त और अध्याय" प्रकरण में पूर्व आचुके हैं उनका इन अपने अपने विषय में पढ़ने के लिये ❋—यह संकेत देंगे पाठक संकेतित टिप्पणी को नीचे देख उस मन्त्र को पढ़ लें।[1]

— स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

२-९-१९५७ ई०

---

१. प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में कुछ मन्त्र भौर भी दे दिए हैं।



॥ ओ३म् ॥

वैदिक वन्दन



सूक्त और अध्याय



ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १

ऋषिः—मधुच्छन्दाः=मधु मीठी इच्छा रखने वाला तथा बाहिरी जीवन में और अन्तरात्मा में मिठास का इच्छुक प्रेमी एवं मधुतन्त्र मधुपरायण मन वाणी कर्म में मधुमय बना हुआ। जैसे वेद में अन्यत्र कहा है कि मेरा निकट का रहन-सहन व्यवहार जाना-आना मधुमय हो तथा दूर का रहन-सहन व्यवहार जाना-आना मधुमय हो, वाणी से मीठा बोलूं और मधु का चित्र बन जाऊं[1]।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा।

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥

(यज्ञस्य) जड़ चेतन वस्तुमात्र का यजन अर्थात् अवस्थान्तर परिणाम जिसमें हो रहा है ऐसे यजनस्थान जगदीशमहिमारूप

---

१. "मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः (अथर्व० १।३४।३)

ब्रह्माण्ड—समष्टिसृष्टि यज्ञ के[२] (पुरोहितम्) पूर्व से ही वर्तमान धारक अर्थात् जगत् से पूर्व—कारणरूप अव्यक्त प्रकृति में भी प्रथम स्थित और उसे अपने अन्दर धारण करने वाले (देवम्) प्रकाशक प्रेरक भोगसुख और मोक्षानन्द के प्रदाता (ऋत्विजम्) ऋतु ऋतु में जड़-जङ्गम सृष्टि के संस्रष्टा निष्पादक (होतारम्) होमने वाले सृष्टियज्ञ के यजमान (रत्नधातमम्) नाना परिणाम को प्राप्त होने वाले रमणीय अर्थात् रमणयोग्य पदार्थों के अत्यन्त धारक आधार-रूप (अग्निम्) ज्ञानप्रकाशस्वरूप अधिनायक परमात्मा को (ईडे) मानूं स्वीकारूं उसकी स्तुति करूं उसकी शरण प्राप्त करूं ।

विश्व एक अद्भुत यज्ञ है, यज्ञ तो बहुतेरे देखे पर यह तो उनसे सर्वथा निराला है । अन्य यज्ञों में यज्ञ का पुरोहित, होता-यजमान, ऋत्विक, देव—देवता इन्द्र वरुण सोम आदि, अग्नि, रत्नधातम-हव्यपदार्थ पात्र कुण्ड आदि से सुसज्जित मण्डप । ये छः साधक पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र व्यक्तियां हुआ करती हैं पर इस समष्टि यज्ञ में तो एक ही व्यक्ति परमात्मा सब कुछ है । परमात्मा इस विश्व यज्ञ का पुरोहित भी देव भी होता भी ऋत्विक् भी रत्न-धातम भी और अग्नि भी वही अकेला है । विवेकी जन जहां इस विश्व को यज्ञ के रूप में देखता है साथ ही छहों यज्ञसाधकों की शक्ति से सम्पन्न परमात्मा को भी देखता है, भांति-भांति के जड़ और जङ्गमपदार्थ नाना प्रकार के परिणामों को पा रहे हैं और निरन्तर पा रहे हैं । यह ठीक हैं मैं इस में किसी प्रकार का भाग नहीं ले सकता पर उस पुरोहित, होता, ऋत्विक, रत्नधातम, देव, अग्नि के रूप में वर्तमान जगदीश देव परमात्मा का स्तवन

---

२. "यज्ञो वै महिमा" (शत० ६।३।१।१८)
"एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः" (ऋ० १०।९०।३)
"यज्ञो वै भुवनज्येष्ठम्" (कौ० २५।१२)

गुणगान तो कर सकता हूँ, इतना तो मुझ दर्शक का अधिकार है ही। अतः हे मेरे प्रभो! इस तेरे निराले आकर्षक आश्चर्यजनक यज्ञ का दर्शक बना हुआ मैं इसमें तेरी छवि निहारता रहूँ तेरी स्तुति उपासना में तत्पर रहूँ यह मेरी आकांक्षा है पूरी करो अवश्य पूरी करो। मैं अपनी शुभ भावनाओं को और अपने आपको तेरे समर्पित करता हूँ स्वीकार करो अवश्य स्वीकार करो ॥ १ ॥

परमात्मा की स्तुति-आराधना क्यों करनी चाहिए इसके सम्बन्ध में अगला मन्त्र देखें—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।

स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

(अग्निः) ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा (पूर्वेभिः) पुरातन-(उत) और (नूतनैः) नूतन-नए (ऋषिभिः) ऋषियों साक्षात्कृतधर्मा तत्त्ववेत्ता परमविद्वानों द्वारा[1] भी (ईड्यः) स्तुति करने योग्य आराधनीय है, इसलिए। तथा (सः-इह) वह इस विश्वरूप यज्ञ अर्थात् जगत् में (देवान्) विद्युत् सूर्य वायु आदि देवों—दिव्यगुण प्रभावशाली पदार्थों को (आवक्षति) प्रेरित करता तथा धारण करता है। अतः 'ईडे' उसकी मैं स्तुति करता हूँ ॥

ईश्वर की रची सृष्टि जड़ और जङ्गम के भेद से दो प्रकार की है। जङ्गम सृष्टि में मनुष्य का ऊंचा पद है, जोकि समस्त कर्मसाधनों और ज्ञानसाधनों एवं अङ्गों से पूर्ण है, मनुष्यों में भी ऊंचे हैं ऋषि अर्थात् सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता परम विद्वान् जन हैं जो कि अपनी विद्या और बुद्धि से जगदीशदेव परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर तथा उसकी स्तुति करते हैं उसका गुणगान और व्याख्यान करते हैं एवं उसकी आराधना उपासना में लगे रहते हैं। यह एक आदर्श

---

१. "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः" (निरु० १।२०)

मनुष्यों के लिये है, जबकि उत्कृष्ट मस्तिष्क वाले विद्वान् ऋषि मुनि जन भी उसकी स्तुति में रत हैं तब हमें भी उनका अनुकरण करना चाहिए, वे महानुभाव उस प्रभु परमात्मा की उपासना से अपने को कृतकृत्य कर गये और करते हैं तब हम भी क्यों न कृतकृत्य हों अवश्य हों। आदर्श को सम्मुख रखना मधुपरायण जीवन की दृष्टि है। दूसरी बात है—जड़ जगत् की, सो जडसृष्टि के विद्युत् सूर्य वायु आदि दिव्यशक्ति वाले पदार्थ भी अपना अपना कार्य करने में उस ही जगदीशदेव परमात्मा के आश्रित हैं, उसी के नियन्त्रण में उसी के शासन में वर्तमान हुए अपनी अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं तब इन जड़ देवों के शक्तिदाता सञ्चालक जगदीशदेव की ओर हमारा भी झुकना अत्यावश्यक है। उक्त जड़ देवों का उपभोग लेते हुए इनके रचयिता नायक की स्तुति उपासना करनी है न कि इन जड़ देवों में ही रत रहना नकि इनको स्तुत्य मानना। इस प्रकार नास्तिकता और जड़पूजा से दूर रहना और आस्तिकभाव को जीवन में क्रियात्मक स्थान देना उसकी स्तुति करना मानव का कर्तव्य है। जड़ देवों को देखना है उपभोग लेने की दृष्टि से किन्तु स्तुत्य या उपास्य तो इनके अधिनायक परमेश्वर ही को मानना चाहिए ॥ २ ॥

यह तो थी आदर्श और विवेचनासिद्ध आस्तिकता की बात ईश्वर की स्तुति के लिये, अब उसकी स्तुति या उपासना के विशेष-फलार्थ स्तुतिविधान है—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

(अग्निना) स्तुत किए हुए परमात्मा से[1] अर्थात् परमात्मा की स्तुति से (दिवे दिवे) प्रतिदिन–उत्तरोत्तर–निरन्तर (पोषम्-एव) पुष्ट करने वाले तथा पुष्ट होने वाले बढ़ने वाले ही (यशसम्) यशस्कर-

१. "अग्निना स्तुतेन" (वेङ्कटमाधवभाष्यम्)

अपयश के नाशक पाप के विनाशक (वीरवत्तमम्) अत्यन्तप्राणप्रद[2] साहस निर्भयता निश्चिन्तता के वर्धक (रयिम्) ऐश्वर्य अध्यात्मैश्वर्य को (अश्नवत् (स्तुतिकर्ता जन प्राप्त करता है ॥

ज्ञान प्रकाशस्वरूप परमात्मा की स्तुति उपासना से आत्मप्रकाश ज्ञानप्रकाश और शारीरिक कान्ति का लाभ होता है। शरीर, मन और आत्मा में अनोखा ऐश्वर्य अद्भुत विभूति प्राप्त होती है, जो कि यह अनुपम ऐश्वर्य या वैभव आत्मा में आत्मिक बल को निरन्तर बढाता रहता है या यों कहिए वह स्वयं निरन्तर बढता ही जाता है उसमें किसी प्रकार का भङ्ग या क्षयप्रसङ्ग नहीं और वह बढता बढाता एक दिन मोक्ष का कारण बन जाता है। मन भी परम पवित्र होकर अपयश के कार्यों से अलग हो जाता है और यशोवर्धक कर्मों में लग जाता है। शरीर भी संयम से स्वस्थ और कान्तिमान बन जाता है। एवं शारीरिक मानसिक और आत्मिक ऐश्वर्य ईश्वर की उपासना से प्राप्त होता है और जब तक जीवन है तब तक वह निरन्तर बढता ही रहता है। क्या यह मानवजीवन का कम लाभ है, यही तो वास्तविक लाभ है। आओ! उस ईश्वर की स्तुति के लिये आज से नित्य का नियम या व्रत धारण करें ॥ ३ ॥

वह यह यज्ञ कैसा है या इसकी सीमा और स्थिरता क्या है अब यह अगले मन्त्र में देखें—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ।

स इद् देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

(अग्ने) हे ज्ञान प्रकाशस्वरूप जगदीश्वर! तू (यम्) जिस (अध्वरम्) किसी से भी बाधित या विचालित न होने योग्य (यज्ञम्) विश्वरूप समष्टि यज्ञ को (विश्वतः) सब ओर से (परिभूः–

---

२. "प्राणा वै दश वीराः" (शत० १२ । ८ । १ । २२)

असि) परिगृहीत करके—स्वायत्त करके स्वाधीन करके विराजमान है (सः-इत्) सचमुच वह (देवेषु गच्छति) विद्युत् सूर्य वायु आदि प्रमुख दिव्यगुण पदार्थों में वर्त रहा है हो रहा है चल रहा है तथा विद्वानों में भी विवेचनीय रूप से प्राप्त हो रहा है ॥

ईश्वर का रचाया यह सृष्टियज्ञ किसी से विचालित नहीं किया जा सकता, मनुष्य द्वारा रचाए अन्य यज्ञों को दूसरे जन राक्षस आदि नष्ट भ्रष्ट कर सकते हैं और कर देते हैं, पर इस सृष्टियज्ञ को कोई नष्ट भ्रष्ट नहीं कर सकता। नष्ट भ्रष्ट करना तो दूर रहा किन्तु इसके किसी एक क्रम का उल्लङ्घन भी कोई नहीं कर सकता, इस ऐसे यज्ञ की रक्षा या सीमा उसके रचयिता नायक परमात्मा के अधीन है, मनुष्य की दृष्टि में तो यह सृष्टियज्ञ असीम लगता है। पृथिक का खोदो तो भी इसका पूरा पता न लगे और आकाश में दृष्टि फैलाओं तो वहां की भी सीमा न मिले किन्तु उस रचयिता के सन्मुख तो यह समस्त विश्व तुच्छ ही है अन्यत्र वेद में कहा भी है जिसमें यह विश्व एक घोंसले समान[३] है। हां कुछ जड़ देवों का भी प्रभाव अनुभव होता है जिन जड़ देवों विद्युत् सूर्य वायु आदि में यह विश्व विस्तार पाता रहता है तथा चेतन देवों विद्वानों ने भी इस सृष्टि के नियमों को यथाशक्ति कुछ समझा है इसके क्रम को जाना है उनके अन्दर भी यह ज्ञानदृष्टि से बसा रहता है, वे इसके विज्ञान में लगे रहते हैं। परन्तु जो साधारण पदार्थ हैं वे तो नित नये बनते बिगड़ते रहते हैं वे तो इस सृष्टि में पुनः पुनः परिणाम-चक्र में घूमते रहते हैं नितान्त अस्थिर हैं तुच्छ हैं तथा देवों-विद्वानों को छोड़कर अन्य साधारण जन भी उन्हीं भोग विलासों में रत रहने के कारण नित नये परिणामी पदार्थों के समान तुच्छ अयोग्य बने रहते हैं वे इस समष्टि को क्या जाने क्या पहिचानें ॥ ४ ॥

---

३. "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (यजु० ३२।८)

इस ऐसे सृष्टियज्ञ का अधिनायक रचयिता कैसा है यह देखें—

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरागमत् ।।५।।

(कविक्रतुः) व्यापक कर्मवाला—विभुगतिमान् तथा सर्वत्र अप्रतिहत सर्वज्ञत्वगतिशक्तिमान्[1] (सत्यः) नित्य अनित्य सब सत्तावाले पदार्थों में विराजमान उनका आधार अविनाशी (चित्रश्रवस्तमः) अद्भुत महिमा वाला[2] अनुपममहिमावाला (होता) सृष्टियज्ञ का रचयिता धर्ता संहर्ता (देवः) प्रकाशमान (अग्निः) परमेश्वर (देवेभिः) स्व-महिमारूप दिव्यपदार्थों के सहित (आगमत्) आया हुआ है—आप्त है प्राप्त है।

सृष्टियज्ञ का स्वामी परमात्मा इसका रचयिता धर्ता संहर्ता व्याप्तकर्मा विभुगतिमान् तथा दिव्य शक्तिवाले प्रमुख पदार्थों में निहितसत्तावान् है। वह अपने महिमारूप प्रमुख दिव्य पदार्थों द्वारा ही सृष्टि को विस्तार देता है तथा इस सृष्टियज्ञ के द्रष्टा जीवात्मा के सम्मुख भी उन्हीं महिमारूप दिव्य पदार्थों के साथ अनुभूत होता है। जो मनुष्य ईश्वर को देखना चाहे वह इन दिव्य-पदार्थों का विवेचन करे, इनमें जो शक्ति है वह सब उसकी महिमा है। तथा जो उसकी अनुभूति करेगा वह इन शक्तियों के साथ अनुभव करेगा क्योंकि महिमा से महिमावान् शक्ति से शक्तिमान् जाना जाता है। महिमा या शक्ति के द्वारा महिमावाले या शक्तिमान् की ओर चलना भी वीरों विद्वानों का काम है अवीर

---

१. "कविःक्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा" (निरु० १२।१३)
"कवते गतिकर्मा" (निघं० २।१४)
"क्रतुः कर्मनाम" (निघं० २।४)
"क्रान्तं गतं सर्वत्राप्रतिहतं प्रज्ञानं कर्म वा यस्य सः" (स्कन्दस्वामी)

२, श्रव इच्छमानः प्रशंसामिच्छमानः" (निरु० ६।१०)

अविद्वान् की दृष्टि दूर की नहीं होती, वह तो भोग-विलासों में फिसल कर नीचे-नीचे ही जाया करता है, वह कभी उस दिव्य देव परमात्मा की छाया को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः मानव को भोग-विलास की प्रवृत्ति गौण करके महिमावाले की महिमा को पहिचानना उस महान् महिमावान् का दर्शन करना चाहिए ॥५॥

वह परमेश्वर आत्मसमर्पण करने वाले का कल्याण साधता है।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥६॥

(अङ्ग) हे प्यारे परमात्मन् ! (यत्) जिससे कि (त्वम्) तू (दाशुषे) देनेवाले--तेरे प्रति स्वात्मसमर्पण कर चुकनेवाले के लिए (भद्रम्) भजनीय आत्मप्रसादरूप या मोक्षफलरूप कल्याण को (करिष्यसि) करता है—देता है—प्रदान करता है[1] (तव-इत्) निश्चित तेरा ही (अङ्गिरः) हे प्राणस्वरूप तथा अंगों के स्वामी आत्मा को रसीला बनाने वाले[2] परमेश्वर ! (सत्यम्) यथावत् स्वभाव है।

इस सृष्टियज्ञ में कोई मनुष्य क्या भाग ले सकता है ऐसी कोई वस्तु उसकी निजी नहीं जिसके द्वारा वह साधिकार इसमें अपना भी भाग ले सके क्योंकि सब तो उसी सृष्टियज्ञ के रचयिता परमात्मा की रची हुई और दी हुई वस्तुएं हैं, बाहिरी वस्तुओं की बात तो दूर रही भीतरी वस्तुएं अर्थात् शरीर की वस्तुएं भी तो ईश्वर की व्यवस्था से इस यज्ञ का भाग अनायास बना हुआ है, फिर मनुष्य को इस विश्वयज्ञ में भाग लेने का श्रेय कैसे मिल सके यह प्रश्न है ? बस यही एक बात है कि अपने आपको

१. "करोतिः क्रियासामान्यवचनो दाने वर्तते" (स्कन्द स्वामी)
२. "अङ्गानां स्वामिनमङ्गिनं जीवात्मानं रसयतीति-अङ्गिराः

अपने आत्मा को इसमें प्रदान करे, सो कैसे ? आत्मा तो चेतन वस्तु है वह इस सृष्टियज्ञ के नहीं अपितु इसके रचयिता के प्रति अपना—स्वात्मा का समर्पण करे, इस सृष्टियज्ञ में जब तक व्यवहार करे तो वह इस रचयिता के आदेशानुसार करे उसके शासन में उसके विधान में त्याग उदारता तथा निष्काम भाव से क्रियाकलाप करे तथा अपने आत्मा का झुकाव परमात्मा की ओर रहे यथावसर उसकी स्तुति प्रार्थना, उपासना निरन्तर करता रहे। निःसन्देह वह परमात्मा इसे अपना प्रसाद, दर्शन और मोक्ष अवश्य प्रदान करेंगे क्योंकि वह अङ्गिरा है अङ्गों के स्वामी अङ्गी आत्मा को आनन्दरस से पूरित करने वाला है परन्तु जबकि कोई अपने को उसके प्रति दे देता है ॥६॥

उस परमात्माके प्रति समर्पण कैसे और कब करना सो कहते हैं—

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।

नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

(अग्ने) हे तेजःस्वरूप परमात्मन् ! (वयम्) हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन निरन्तर[1] (दोषावस्तः) सायं प्रातः[2] (धिया) धारणा से ध्यान समाधि से (नमः-भरन्तः) नमस्कार—गुणकीर्तन तथा नमन—अपने आत्मा का समर्पण करते हुए—अन्यत्र से हटाकर तुझ में रखते हुए (त्वा) तुझको (उप-आ-इमसि=उपैमसि) प्राप्त होवें ॥

प्रभु परमात्मा के प्रति स्वात्मसमर्पण करने या उसकी समीपता प्राप्त करने के लिए प्रातः सायं सुन्दर वेला हैं, इन दोनों वेलाओं में प्रतिदिन निरन्तर आत्मभाव से उसे अपनानें की कामना करना है, कामना भी एक ध्यान से दूसरी नमस्कार से। ध्यान से तात्पर्य

---

१. "दिवे दिवे-अहर्नाम" (निघं० १। ८)

२. "सायं प्रातः" (वेङ्कटमाधवभाष्यं तथा च दयानन्दभाष्यम्)

है उसके गुणचिन्तन से उसमें अनुरागरूप परवैराग्य से और नमस्कार से तात्पर्य है सारी प्रवृत्ति अन्यत्र से हटाकर अपने को कोमल और निर्विषय बनाकर परमात्मसङ्ग के योग्य उसके प्रियगुणों से सुभूषित होकर अपने में उन गुणों को धारण करके अर्थात् अभ्यास का अवलम्बन करके उसे प्राप्त किया जाता है। लोहे को जैसे अग्नि का प्रकाश और तेज धारण करने के लिए अपनी कालिमा कठोरता छोड़नी ही होती है, जब वह कालिमा और कठोरता छोड़ देता है तो तभी वह प्रकाशमान और तापवान् हो जाता है। लोहे के दृष्टान्त से मानव को भी कालिमा और कठोरता को छोड़ना होगा ही, कालिमा अर्थात् दुर्वासना को ध्यान से और कठोरता अर्थात् कृतघ्नता नास्तिकता को अन्यत्र से प्रवृत्ति या लगाव हटाकर परमात्मा में सर्व-कर्मसमर्पण आत्मसमर्पण से करना होगा पुनः परमात्मा की कृपा भी अवश्य होगी। इस प्रकार मानव की जीवनयात्रा के दिन रात या प्रातः सायं उसे अपने मन्तव्य एवं परमात्मदेव तक पहुंचा देंगे ॥७॥

इस सृष्टियज्ञ का रचयिता परमात्मा तो अनन्त है, आत्मा-अल्पस्थानी एक देशी शरीरवर्ती अणु है पुनः उसके प्रति समर्पण एवं उपासना या स्तुति कहां करे, यह अगले मन्त्र में देखें—

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम्।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

(अध्वराणां राजन्तम्) प्राणों के[1] ईशान-स्वामी[2] (ऋतस्य गोपाम्) मन[3] के रक्षक[4] तथा (दीदिविम्) शुभ्र-प्रकाशमान[5]

---

१. "प्राणोऽध्वरः" (शत० ७।३।१।५)

२. "राजति-ऐश्वर्यकर्मा" (निघं० २।२१)

३. 'मनो वा ऋतम्" (जै० उ० ३।३६।५)

४. "गुपू रक्षणे" (भ्वादिः) गोपयतीति गोपः-छान्दसोऽमि सवर्णदीर्घः।

५. "दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य" (उणा० ४।५५)

(वर्धमानम्) प्रवृद्ध—परिपूर्ण—अनन्त तुझ परमेश्वर को (स्वे दमे) अपने चित्तदमन करने के स्थान तथा स्वात्मा के स्थान हृदय में 'उप-आ-इमसि=जग्मसि' प्राप्त हों ॥

सृष्टियज्ञ के रचयिता परमात्मा को प्राप्त करने उसके पास जाने को इधर उधर भटकने की क्या आवश्यकता ? यह ठीक है वह अनन्त है असीम है पर है तो सर्वत्र और यह भी ठीक है मैं अल्प-स्थानीय एक देशी और अणु हूं परन्तु क्या हुआ, जहां मैं हूं वहां वह भी तो है और फिर मैं भी तो उसमें हूं, पुनः वह प्राणों का स्वामी मेरा प्राणपति प्राणों से प्यारा प्राणों का भी प्राण, प्राणों के भी साथ है और फिर मन का रक्षक मन का प्रेरक मन में ज्योति प्रदान करने वाला परमात्मा अशिवसङ्कल्पों--अकल्याण भावनाओं से हटाकर शिवसङ्कल्पों का प्रदान करने वाला स्वयं प्रकाशमान सर्वत्र विराजमान है, उस ऐसे सर्वत्र विश्व में परिपूर्ण तथा विश्व से भी महान् परमात्मदेव को मैं अपने ही घर में अपने रहने के स्थान हृदय में पा सकता हूं मिल सकता हूं भलीभांति मिल सकता हूं, अपितु जैसा मिलन अपने घर में हो सकता है वैसा अन्यत्र नहीं, अन्यत्र तो अन्य वस्तुएं बाधक हो सकती है और मेरी पहुंच भी अपने स्थान से बाहिर कैसे हो ? बाहिरी मिलन तो दिखावा है विडम्बना आत्म-वञ्चना है घर में मिलना सुगम है वास्तविक है और सम्भव है ॥८॥

वह परमात्मा न केवल आत्मा के घर में विराजमान सहवासी साथी सखा होने के नाते ही सुगमता से मिलने प्राप्त होने योग्य हैं, अपितु—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥९॥

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (सः) वह तू (सूनवे

पिता-इव) सन्तान के लिये पिता की भांति (सूपायनः-भव) सुख से प्राप्त होने योग्य-सुगमता से प्राप्त होने योग्य हो[1] तथा (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये (नः सचस्व) हमें अपना बना—अङ्गीकार कर[2] ॥

परमात्मा मुझ आत्मा के घर हृदय में विराजमान होने से केवल सहवासी होने का ही नाता तो उसके साथ नहीं अपितु वह तो सह-वासी होने के साथ साथ मेरे तथा मेरे निवास के सब ओर वर्तमान होने से मुझे अपने शरण में लेने से मेरा पिता भी तो है और पिता भी वह नश्वर नहीं किन्तु शाश्वत पिता है एवं मैं भी उसका शाश्वत पुत्र हूं—अमृत पुत्र हूं । तो क्या पिता होते हुए वह प्राप्त न किया जा सकेगा या वह न प्राप्त होगा या न मिल सकेगा ? ऐसी बात नहीं । वह पूर्ण कृपालु और दयालु है निःस्वार्थ सच्चा पिता है अवश्य ही हम पुत्रों पर दयालु होंगे और हमारा कल्याण करेंगे, क्योंकि वह हमारे सच्चे पिता हैं शाश्वत पिता है हम अपने पुत्रों को सुगमता से प्राप्त होता है । हमारा कल्याण साधने को हमें अङ्गीकार करता है । परन्तु हम जब अपने को उसके पुत्र समझ पुत्रवत् नम्र हों और अपने घर में उससे मिलने को उत्सुक होकर अन्यत्र की सुध बुध विसराकर उसका स्वात्मा में आमन्त्रण स्तवन और ध्यान मान करें तो फिर अन्तरात्मा में उसका साक्षात् भान हो । अतः हम पुत्रवत् नम्र हो निवेदन करते है कि हमें स्वीका करो ॥ ९ ॥

—o—

१. "सूपायनः सूपक्रमः सुखोपसर्गः" (स्कन्द स्वामी) "सूपचरः" (वैङ्कटमाधवः) शोभनप्राप्तियुक्तः (सायणः)

२. सचस्व, सेवस्व नः-अस्मान् । (स्कन्द स्वामी)

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त २४

ऋषि:—शुन:शेप आजीगर्ति:कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरात:=विश्वामित्र सर्वमित्र परमात्मा से प्रेरित हुआ मैं देवों के दिए भोगों-इन्द्रिय-भोगों को भोगता हूं ऐसा मान जन्म जन्मान्तर की दौड़ के गर्त शरीररूप गर्त में आया हुआ कर्मों से निष्पन्न—गतिप्रवृत्तिवाले कर्मों से संसक्त इन्द्रियविषय लोलुप भोगी शरीरी आत्मा[1] ।

देवता—१प्रजापति:='क:' अनिरुक्त-अस्पष्ट कथन से प्रजा का स्वामी परमात्मा । २ अग्नि:=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा । ३ सविता= जन्मप्रदाता ईश्वर । ४—५ सविता भगो वा=जन्मप्रदाता ईश्वर या ऐश्वर्य । ६—१५ वरुण:=वरने योग्य एवं वरने वाला जगदीश अन्तर्यामी ।

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्व नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।।१।।

(अमृतानाम्) अविनश्वर-नित्यपदार्थों में से (कतमस्य कस्य देवस्य) कौन से तथा किस गुण वाले देव का (चारु नाम मनामहे) सुन्दर नाम हम मानें-जानें-स्मरण करें (क:-न:) कौन हमें (मह्यै-अदितये पुन:-दात्) मही-महती अखण्डसुखसम्पत्ति—मुक्ति के लिये पुन: देता है (पितरं च मातरं च दृशेयम्) और फिर किससे प्रेरणा पाकर पिता और माता को देखूं-देखा करता हूं ।।

उत्तर—

---

१. "देवरात: शुन: शेपो वैश्वामित्रो देवा वा इमं मह्यमरासतेति स ह देवरातो वैश्वामित्र:" (ऐ० ७ । १७)

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥

(वयम्) हम (अमृतानाम्) अविनश्वर-नित्यपदार्थों में से (प्रथमस्य-अग्नेः-देवस्य) प्रमुख ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मदेव का (चारु नाम मनामहे) सुन्दर नाम मानें-जानें-स्मरण करें (सः-नः) वह हमें (मह्यै-अदितये पुनः-दात्) मही महती अदिति-अखण्ड-सुखसम्पत्ति-मुक्ति के लिये पुनः देता है (पितरं च मातरं च दृशेयम्) और फिर उससे प्रेरणा पाकर पिता और माता को देखूं-देखा करता हूं ॥

मैं भोग विलास के वश इस नश्वर संसार में आया देहरूप एक अधोगर्त में आ गिरा अब मैं अविनश्वर पदार्थों में से कौन से और किस विशेषतायुक्त देव का सुन्दर नाम अपने कल्याणार्थ मानूं जानूं स्मरण करूं जो कि इस नश्वर जगत् से पृथक् महती अखण्ड सुखसम्पत्तिरूप मुक्ति के लिये इस वर्तमान संसार से छूटने पर मुझे फिर समर्पित कर देता है और पिता माता को भी दिखलाता है—जन्मधारण कराता है ? हां मुझे ध्यान आया पता चला, वह ऐसा प्रमुख देव ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा है, वही फिर मुक्ति में पहुंचाता है वही पिता माता के द्वारा संसार में लाता है। जन्म-धारण करना फिर मुक्ति पाना पुनः जन्म धारण करना और फिर मुक्ति पाना यह क्रम नित्य जीवात्मा का चलता रहता है। यह तो मुक्ति से पुनरावृत्ति की सूचना है, ठीक है यदि ऐसा न हो तो परमात्मा में विलीन हो जाना ही मुक्ति कहलावे, तब मुक्ति का सुख कौन भोगे और मुक्ति का स्वरूप भी क्या हो ? सदा वहां बना रहे तो परमात्मा और मुक्तात्मा में स्पर्द्धा सम्भावनीय है, सदा परमात्मा रहता है सदा मुक्तात्मा भी रहेगा, इस प्रकार मुक्ति में मुक्तात्मा का परमात्मा के साथ कालसादृश्य से गुणसादृश्य और कर्मसादृश्य की

आपत्ति खड़ी हो जावेगी, वेदान्तदर्शन में तो "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" (वेदा० ४।४।१७) मुक्तात्मा जगत् की उत्पत्ति आदि कार्य नहीं कर सकता, अतः मुक्ति के समय को पूरा करके मुक्ति से पुनरावृत्ति होना ही वैदिक मन्तव्य यथार्थ-है—ठीक है। संसार में जन्म देने वाला परमात्मा है और पुनः मुक्तिसुख को भुगाने वाला भी परमातमा है। तब हम उस ऐसे देव के सुन्दर नाम ओ३म् का स्मरण करें उसका सार्थक जप करें जो कि सांसारिक अभ्युदयलाभ कराता हुआ मुक्ति के आनन्द को प्राप्त कराता है ॥ १—२ ॥

अतः—

अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम् ।
सदावन् भागमीमहे ॥ ३ ॥

(सवितः सदा-अवन् देव) हे जन्मप्रदाता सदा रक्षा करते हुए परमात्मदेव! (वार्याणाम्-ईशानं त्वा भागम्-अभीमहे) वरणीय पदार्थों के तुझ स्वामी से भजनीय अभीष्ट सुख को हम मांगते हैं ॥[1]

मांगना बुरा है, मांगने वाले को नीचा होना पड़ता है उसके सम्मुख साष्टाङ्ग होता है, आतमग्लानि होती है अपने पर भार पड़ता और ऋण चढ़ता है! हां एक मांगना निर्दोष है वह है जन्मप्रदाता सकलैश्वर्यवान् परमात्मा से मांगना क्योंकि परमात्मा सदा रक्षा-करने वाला है हमारी रक्षा करना उसका स्वभाव है अतः तदर्थ उसका हमारे प्रति प्रदान करना भी स्वाभाविक हुआ उससे मांगने में सङ्कोच का और दोष का प्रसङ्ग नहीं और वह मांगनेयोग्य वरणीय कामनाओं का अनुपम स्वामी है उससे मांगने में आत्मग्लानि नहीं होती किन्तु आतमबल बढ़ता है। हां उससे मांगना बाहिरी साष्टाङ्ग झुक कर नहीं अपितु भीतरी सचतुर्दशाङ्ग झुक कर

१. "ईमहे याच्ञाकर्मा" (निघ० ३ । १८)

कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण चतुष्टय को नमाकर बनेगा; वहां दिखावट का काम नहीं, न वहां दिखावट बहकावट चलती है। किसी संसारी जन से मांगने के समान वहां परमात्मा से मांगने पर न दोषों का उद्भव और न उनका सम्पर्क होता है। संसारी जन दोषों से युक्त होते हैं उनसे मांगने पर मांगी गई वस्तु के साथ उस दाता का दोष भी तो विना मांगा आ जाता ही है। उसके दोषों को कहने के लिये मुँह भी फिर नहीं खुलता, अपितु दोषों को गुण कहना तक पड़ता है। असत्य कथन का पाप लगे सो तो लगे साथ में सङ्गदोष का भी भय रहता है, पापी के आगे झुकना भी तो पाप है आत्महत्या है। परमात्मा तो नितान्त निर्दोष निष्पाप है सद्गुणों का भण्डार है उसके आगे झुकने से उसका सद्गुणप्रसाद और आशीर्वाद ही मिलता है पर वह यह सब भीतरी भावना से नम्रता से आर्द्रता से मांगना होना चाहिये। जितनी भीतरी भावना नम्रता आर्द्रता से मांगा जावेगा उतने प्रबल प्रवाह से मांगी हुई वस्तु पहुंचेगी और उतना ही अधिक कल्याण सिद्ध होगा ॥ ३ ॥

कैसे वरणीय भाग को, कि—

यश्चिद्धि त इत्था भगः शशमानः पुरा निदः।

अद्वेषो हस्तयोर्दधे ॥ ४ ॥

(यः-चित्-हि ते इत्था शशमानः-भगः) हे जन्मप्रदाता परमात्मदेव ! जो भी ही तेरा ऐसा प्रशंसनीय सुखैश्वर्य है, उसे जिसे (निदः पुरा) निन्दनीय कर्म से पूर्व पाप कर्म से पूर्व (अद्वेषः) मैं द्वेषरहित हुआ (हस्तयोः-दधे) अपने हाथों में धारण करता था।

हां मेरे पूजनीय देव मैं अपने पाप कर्म से पूर्व निष्काम निर्दोष होता हुआ जिस मोक्षैश्वर्य को साधिकार सेवन करता था। उसे प्राप्त करना तुझसे मांगना चाहता हूं परमात्मन् ! तू सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी है अपने उस ऐश्वर्य को प्रदान तो करता है मैं यह जानता और

मानता हूं पर अज्ञानतः स्वार्थवश सहसा पात्र अपात्र देखे विना तू नहीं देता किन्तु जो निन्दित कर्म से पाप कर्म से अलग हो और किसी के प्रति द्वेष न रखता हो वह तेरे प्रसाद को पा सकता है। तू चाटुकारिताप्रिय नहीं है जो पाप करते रहने पर भी तेरी कृपा का पात्र वन जावे। अनेक ऐसा तुझे समझते हैं "राम नाम जपते चलो पराया माल हरते रहो" पर ऐसी वात नहीं। साथ में एक वात यह और विशेष है कि तेरा उपासक होता हुआ कहीं कुसङ्गवश निन्दित-कर्म पाप कर्म कर वैठे या किसी के लिये अपने अन्दर द्वेष को स्थान देदे तो फिर तू उसे अपने प्रसाद से वञ्चित कर देता है यह तेरा स्वभाव सचमुच हम मानवों के कल्याणार्थ ही है ऐसे न्यायशील पात्राभिज्ञ से हम सदाचरण करते हुए बहुत कुछ पा सकते हैं ॥४॥

अतः—

भगभक्तस्य ते वयमुदशेम तवासा।
मूर्धानं राय आरभे ॥ ५ ॥

(वयं ते भगभक्तस्य) हम तुझ ऐश्वर्यविभाजक—ऐश्वर्यवितरण-कर्ता परमात्मा के (रायः-मूर्धानम्) ऐश्वर्यों में मूर्धारूप—सर्वोपरि ऐश्वर्य को (तव-अवसा) तेरी रक्षाद्वारा तेरे आदेश पालन से (आरभे) जीवन के अनुष्ठातव्यव्यवहार में (उदशेम) ऊपर उठ कर प्राप्त करें ॥

परमात्मा की रक्षा में रहना क्या है उसके आदेश में रहना है। उसका आदेश है पापों से बचना, परन्तु मानव प्रायः इन्द्रियों के आदेश में भटकता रहता है नाना प्रकार के पाप कर्म करता है जिस का परिणाम निकृष्टफल दुःखभोग को वह प्राप्त होता रहता है विषम यात्रा में अपने अमूल्य जीवन को समाप्त कर देता है। यह सच है जब मनुष्य निष्पाप हो ऊपर उठ जाता है और उसके अन्दर किसी के प्रति द्वेष भी नहीं रहता, तब उसपर ईश्वर की कृपा बरसती

है वह उस ऐश्वर्यविभाजक परमात्मा से ऊंचा ऐश्वर्य प्राप्त करता है और उसे प्राप्त करके उसका दुरुपयोग नहीं करता किन्तु प्रभु की रक्षा में आदेश में चलता हुआ जीवन को सुव्यवहार में लगाकर उत्तम लाभ को प्राप्त करता है। वस्तुतः ईश्वर के आदेश में उसकी अनुमति में उसकी उपासना में मानवजीवन का साफल्य है परम-कल्याण है मोक्षप्राप्ति है ॥ ५ ॥

पुनः परमात्मा की स्तुति शुनःशेप करता है—

न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।
नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्॥६॥

(न हि ते क्षत्रम्) हे जगदीश्वर! न ही तेरे शासन को (न सहः) न बल को (न मन्युम्) न पराक्रमप्रभाव को (अमी पतयन्त:-चन वय:-आपु:) वे दूर दूर गति करती हुई[1] सूर्य किरणें[2] भी प्राप्त नहीं कर सकती हैं (न-इमा:-अनिमिषं चरन्ती:-आप:) न ये पृथिवी और आकाश पर निरन्तर बहने वाले जलप्रवाह प्राप्त कर सकते हैं (न ये वातस्य-अभ्वं प्रमिनन्ति) न जो वायु के वेग हैं वे महत्त्व को[3] प्राप्त कर सकते हैं ॥

जगत् में वेगवान् और प्रभावशाली पदार्थ यथा दूर दूर गमन-शील सूर्य किरणें, पृथिवी और आकाश पर निरन्तर प्रगतिशील बहने वाले जल और वात के वेगवान् झोंके भी परमात्मा के शासन, बल, पराक्रम और महत्ता को नहीं पा सकते अर्थात् उसके शासन का उल्लङ्घन, उसके बल की समानता—बराबरी, उसके पराक्रमप्रभाव का तिरस्कार, उसकी महत्ता का अन्त नहीं कर सकते। यह ठीक है

१. "पतति गतिकर्मा" (निघं० २ । १४)
२. "वयः सुपर्णा आदित्यरश्मयः" (निरु० ४ । ३)
३. "अभ्वं महन्नाम" (निघं० १ । १७)

संसार में ये पदार्थ बड़े शक्तिसम्पन्न और वेगवान् हैं परन्तु इनकी शक्ति इनका वेग इनका बड़प्पन केवल अन्य छोटे छोटे आकार रखने वाले पुनः पुनः उत्पत्ति-विनाश-धर्मी पदार्थों के सम्मुख ही है न कि महामहिमावाले सर्वशक्तिमान् अनन्त परमात्मा के सम्मुख, उसके सम्मुख तो ये तुच्छ अकिञ्चन ही हैं क्योंकि उसी के तो ये रचे हुए उसी से तो बल पाये हुए ये ऐसे हैं। यदि वह जगदीश अपनी दी हुई शक्ति को इनमें से खींच ले तो फिर जलों का बहना वायु का वेग और किरणों का प्रसार बन्द हो जावे—रुक जावे। अतः इनको देख इनकी पूजा करना अज्ञता है अदूरदर्शिता है किन्तु इनकी पूजा न करके इनके रचयिता एवं प्रेरक देव की उपासना करनी चाहिये यही कल्याण का मार्ग है ॥ ६ ॥

तथा—

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः ।
नीचीनाःस्थुरुपरिबुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताःकेतवःस्युः॥

(पूतदक्षः-राजा वरुणः) पवित्र बलवाला सर्वत्र राजमान वरने योग्य वरनेवाला परमात्मा (अबुध्ने) मूलरहित—अनाधार बन्धनरहित आकाश में (वनस्य स्तूपम्-ऊर्ध्वं ददते) किरणों के सञ्चित करनेवाले किरणपुञ्ज सूर्य को[1] को ऊपर धरता है—रखता है[2] (नीचीनाः स्थुः) किरणें पृथिवी आदि पर स्थिर होती हैं (एषां बुध्नः-उपरि) इन किरणों का मूल या बन्धनस्थान सूर्य ऊपर ही रहता है (अस्मे-अन्तः) हमारे अन्दर, हमारे मन में (केतवः-निहिताः स्युः) वे सूर्य किरणें उस परमात्मा के केतु—प्रज्ञान-सूचक

---

१. "वनं रश्मिनाम' (निघं० १।५)
२. "दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः । अक्रूरो ददते मणिम्" (निरु० २:२)
"ददते धारयति" (स्कन्द स्वामी)।

बोधक रूप में स्थिर हो जावें।[२]

पपरमात्माने अधर आकाश में सूर्य को रखा, सूर्य से किरणें नीचे पृथिवी आदि पर आती हैं। सूर्य तो वहीं ऊपर ही रहता है, वह रहे ऊपर, उसकी किरणें जड वस्तुओं में तो प्रकाश और ताप देती हैं वे दें, परन्तु उपासक के लिये उस रचयिता संस्थापक सञ्चालक परमात्मा के लिये ये केतु हैं प्रज्ञान हैं सूचक या बोधक हो जाते हैं और उसके सूचक होने भी चाहिए, उसके रचे उसके प्रेरे हुए पदार्थ उसके सूचक होंगे ही पर हां हमारे अन्दर इस प्रकार बुद्धि उत्पन्न हो जावे कि हम सम्मुख वस्तु के बाह्य रूप या आकार को देख उसमें रत न हो जावें अपितु उसके निर्माता या उसके प्रेरक की ओर हम प्रवृत्ति रखें, तब निःसन्देह कल्याण दूर नहीं ॥ ७ ॥

और—

उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।
अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्॥८॥

(राजा वरुणः) सर्वत्र राजमान परमात्मा ने (सूर्याय पन्थाम्-अन्वेतवै-उ) सूर्य के लिये गति करने को मार्ग (उरुं हि चकार) निश्चय विस्तृत बनाया (अपदे पादा प्रतिधातवे) पैर न रखे जा सकने वाले अन्तरिक्ष में गतिक्रम रूप पाद रखने के लिये (अकः) सूर्यगति की व्यवस्था की (उत) तथा (हृदयविधः-चित्-अपवक्ता) वह परमात्मा पश्चात्तापरूप वैराग्य से स्वकीय हृदय को बीन्धने वाले पापकर्मकर्ता का अपवादकर्ता निराकर्ता उद्धर्ता हैं।

सूर्य इस जगत् का अति प्रचण्ड और प्रखरतापवान् और महान् पिण्ड है यद्यपि अन्य पिण्ड सूर्य को लक्षित करके गति करते हैं, इससे यह नहीं समझना कि सूर्य गति नहीं करता, परन्तु यह भी गति

---

२. केतुः प्रज्ञाननाम" (निघं० ३।९)

करता है इसकी गति के लिये ईश्वर ने मार्ग नियत किया हुआ है वह विस्तृत मार्ग है, उस नियत किये मार्ग से यह विचलित नहीं हो सकता। इसकी प्रचण्डता और प्रखरतापवत्ता उस परमात्मा के सम्मुख तुच्छ है। अतः दुर्व्यवहारकर्ता पापी जन को ध्यान रखना चाहिए जो परमात्मा इस महान् प्रचण्ड प्रखरतापवान् जिसके ताप से बचने को अनेक उपाय करते हैं, पर्वतों पर चले जाते हैं उसे सहन नहीं कर सकते हैं वह उस सूर्य पर भी अधिकार किये हुए है। वह परमात्मा पूर्ण पश्चात्ताप से अपने हृदय को बीन्धने वाले का उद्धारकर्ता है ॥ ८ ॥

अतः अभीष्ट प्रार्थना है—

शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्रमुमुग्ध्यस्मत्॥९॥

(राजन्) हे विश्व के राजा परमात्मन्! (ते) तेरी (शतं सहस्रम्) सैकड़ों हजारों (भिषजः) हमें अच्छा बनाने के लिये भैषज्य शक्तियां हों। और (ते) तेरी (उर्वी गभीरा सुमतिः-अस्तु) बड़ी गम्भीर कल्याण करने वाली मति हो (निर्ऋतिं पराचैः-दूरे बाधस्व) दुर्गति को दूर फेंकनेवाले उपायों से दूर हटादे (कृतं चित्-एनः-अस्मत् प्रमुमुग्धि) जो कर्म पापरूप है उसे हमसे पृथक् करदे—हम पाप कर्म न कर सकें॥

मानव को बुराई से बचाने तथा अच्छा बनाने के लिये तुझ विश्वराट् परमात्मा की बहुतेरी सुधासदृश शक्तियां हैं, भगवन्! वे हमें प्राप्त हों, और तेरी जो कल्याणमयी सुमति है वह भी हमें प्राप्त हो तथा दुर्गति को भी हमसे दूर रहने दे एवं पाप कर्म भी हमसे पृथक् करदे। यह तो हुई प्रार्थना, पर हे अन्तर्यामिन्! इस प्रार्थना में हमारे कर्तव्य का भी निर्देश है और वह यह निर्देश है कि तेरी सुमति में रहना और पाप से बचना। अपने को समर्थ

बनाने का उपाय है पाप से बचना। क्योंकि बिना पाप से बचे समर्थ नहीं हो सकता, यह निज सामर्थ्यरक्षा की बात है परन्तु सुमति का प्राप्त करना विशिष्ट बल या योग्यता का पाना है। जब सुमति प्राप्त हो गई तो विशिष्ट बल एवं योग्यता से सम्पन्न हो गए। अब क्या था इधर अपने पैरों पर खड़े हो गये तो गिरावट दूर हो गई उधर अनन्तशक्तिवाले ने आगे बढने ऊंचे चढने को हाथ पकड लिया फिर तो ऊंचे से ऊंचे शिखर पर पहुंच सकते हैं। तब संकट भय समाप्त और ऊंचा पद प्राप्त हो ही जाता है॥ ९॥

आन्तरिक आस्तिकभावना का प्रदर्शनरूप गुणगान—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुहचिद् दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥

(ये-अमी-ऋक्षाः-उच्चाः-निहितासः) जो ये नक्षत्र ऊंचे रखे हुए (नक्तं ददृश्रे) रात्रि में दीखते हैं (दिवा कुह चित्-ईयुः) दिन में कहीं भी चले जाते हैं अथवा कभी ही दिन में प्राप्त होते हैं—सर्वसूर्यग्रहण के अवसर पर ही दीखते हैं। हां (चन्द्रमाः-नक्तं विचाकशत्-एति) चन्द्रमा रात को चमकता हुआ आता है (वरुणस्य) संसार को वरण करनेवाले—स्वाधीन रखने वाले परमात्मा के (अदब्धानि व्रतानि) स्थिर अकाट्य नियम हैं, मानव का इन पर अधिकार नहीं है॥

रात्रि में आकाश की ओर दृष्टि डालो तो असंख्य ग्रहतारे नक्षत्र सितारे चमचमा रहे होते हैं, ये रात में दीखते हैं दिन में नहीं, दिन में कहीं चले जाते हैं छिप-जाते हैं हां कभी दिन में दीख पडते हैं ऐसा भी अवसर सर्वसूर्यग्रहण का आता है जबकि दिन में भी तारे दीखने लगते हैं। चन्द्रमा भी तो रात्रि में चमकता हुआ आता है। इस प्रकार इन सबका आना जाना उस नियामक परमात्मा के अधीन है उसके अटल नियमों के अनुसार है, हम उसके

नियमों को जानें जहां हमें उस विज्ञान का लाभ होगा साथ ही उस परमात्मा के गुणों का भी बोध होगा। वस्तु वस्तु को देखते हुए उसकी महिमा को भी देखना मानव का कर्तव्य है, महिमा पर विचार करने से उस विशाल महिमावान् का बोध होता है ॥५०॥

अत:----

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेलमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः ॥११

(तत् त्वा ब्रह्मणा यामि) उस पुण्य स्थिर जीवन को तुझसे महत्त्वपूर्ण मन्त्रपद्धति के द्वारा[1] चाहताहूं(अहेडमान:)अनादर न करता हुआ। अपितु (वन्दमान:) वन्दना करता हुआ—आस्तिक भावना रखता हुआ स्तुति करता हुआ (हविर्भि:-यजमान:) आन्तरिक समर्पण भावनाओंसे यजन करता हुआ वह मैं तेरा यजमान((तत्-आशास्ते) उस पुण्य जीवन की आशा करता है। अत: (उरुशंस वरुण) हे बहुत प्रशंसनीय वरुण परमात्मन् ! (इह बोधि) इस अवसर पर मेरी भावना जान और स्वीकार कर (न:-आयु: मा प्रमोषी:) हमारी आयु को इस अधोगर्त में मत गुम करे नष्ट न करे–नहीं करता है ऐसा तू है यह निश्चय है ॥

उस परमात्मा के नियम में जैसे संसार के बड़े बड़े दिव्य पदार्थ रहते है, उन पर किसी प्रकार की बाधा नहीं आती, ठीक हम भी उसके नियम में रहते हुए उससे अपना स्थिर पुण्य जीवन को मांगते हैं। हमें विश्वास है कि वह नम्र प्रार्थना को स्वीकार कर हमारे जीवन को दीर्घ करेगा और अकाल में प्राणान्त न करेगा। मांगने वाले मांगते हैं पर मांगने का प्रकार प्रायः वे नहीं जानते, मागने वाले में आत्मग्लानि न आवे और देनेवाला न पछताथे या देकर

---

१. "यामि याचामि, अथापि वर्णलोपो भवति" (निरु० २। १)

लेने की इच्छा न करे वह मांगना तथा देना सफल है निर्दोष है। पर यह कैसे बने ? सो कहा है कि मांगने वाला किसी से मांगे तो खाली हाथ न मांगे कुछ भेंट ले जावे, प्रभु से मांगने का प्रकार ब्रह्म अर्थात वेदमन्त्रों में दिया है कि उसकी स्तुति भेंट देना लोगों को वेद का उपदेश देना पुनः हृदय में प्रभु के प्रति नम्रता श्रद्धा प्रेम को रखना। संसार से वृत्तियों को हटाकर अपना पूरा समर्पण प्रभु के प्रति करदे तो वह स्वागत कर मनोवाञ्छा पूरी करेगा ॥११॥

और फिर—

तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आविचष्टे।
शुनःशेपो यमह्वद्गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु ॥

(तत्-इत्-नक्तं तत्-दिवा) उसी वृत्त को रात्रि में उसी को दिन में (मह्यम्-आहुः) मुझे विद्वान् जन् बतलाते सुझाते हैं (तत्-अयं हृदः केतः) उसी वृत्त को यह मेरे हृदय का संकेत भी (आविचष्टे) घोषित करता है—प्रकाशित करता है कि वरुण परमात्मा बन्धन से छुड़ानेवाला है (यं गृभीतः शुनःशेपः-अह्वत्) जिस वरुण परमात्मा को बन्धन में गृहीत-पकड़ा हुआ इन्द्रियसुखलोलुप आत्मा रक्षार्थ बन्धनमोचनार्थ पुकारता है उसे वह बन्धन से छुड़ाता है। अतः (सः-राजा वरुणः-अस्मान् मुमोक्तु) वह सर्वत्र राजमान परमात्मा हमें बन्धन से छोड़दे मुक्तिप्रदान करे ॥

इन्द्रियों के विषयों में लोलुप रहना बुरा है अधःपतन महारोगी बनने अपकीर्तिभागी होने और अनेक दारिद्र्य आदि अनिष्टों

---

१. इन्द्रियसुखलोलुप जीवात्मा की यह शाश्वतिक प्रार्थना है, स्कन्द स्वामी ने भी कहा है "अपि देवस्य नित्यत्वात् तत्कथमात्मानित्यता कल्पे कल्पे तस्मादतीते कल्पे यः शुनःशेपः स्ययमाहूतवान् अयमेव वा सः" (स्कन्द स्वामी)

का हेतु है। तभी तो कहा है "विषस्य विषयाणां च दृश्यते महदन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि॥" विष और विषयों के बीच में भारी अन्तर है विष तो खाया पीया हुआ मारता है परन्तु विषय तो स्मरणमात्र से मार देते हैं। इन्द्रियविषयलोलुप जन विषयवासना में पकड़ा हुआ व्यसनबन्धन में जकड़ा हुआ बन्धन-मोचन परमात्मा को पूर्ण पश्चात्ताप के साथ पुकारता है कि हे पमरात्मन्! मुझे इस बन्धन से इस सङ्कट से मुक्त करो मैं पुनः इसमें न पड़ूंगा। परमात्मन्! तू बन्धनमोचक है बन्धन से मुक्त कर देगा यह विद्वान् जन कह रहे हैं और मेरे हृदय का भाव-घोष भी यही है, देव! तू दयालु है मेरी पुकार अवश्य सुनेगा। यह ठीक है तू न्यायशील है जैसा कर्म होगा वैसा फल देगा परन्तु तू सर्वज्ञ और अन्तर्यामी भी तो है यह मेरी पुकार दिखावा नहीं अपात्रता या व्यर्थ रोदन नहीं किन्तु भीतरी है वास्तविक है पूर्ण पश्चात्ताप के साथ है अन्तःस्थल से है पाप की ओर पग न रखने के निश्चयरूप मानस कर्म के साथ है अतः मुझे बन्धन से मुक्त करो मेरा आप उद्धार करो।

पुनः—

शुनः शेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः। अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो विमुमोक्तु पाशान्॥ १३॥

(शुनःशेपः) इन्द्रियसुखलोलुप जीवात्मा (गृभीतः) वासनाओं से निगृहीत हुआ—वासनाओं से घिरा हुआ (त्रिषु द्रुपदेषु बद्धः) कारणसूक्ष्मस्थूल शरीररूप तीन खूटों में बन्धा हुआ (आदित्यम्-अह्वत) जब अदिति—अखण्डसुखसम्पत्तिरूप मुक्ति के स्वामी वरुण परमात्मा को पुकारता है स्मरण करता है। पुनः (राजा वरुणः-एनम्-अवससृज्यात) तो राजमान वरुण परमात्मा बन्धन से इसे

छोड़ सकता है। अतः (विद्वान्-अदब्धः पाशान् मुमोक्तु) इसकी दशा को तथा नम्र स्तुति स्मरण को जानता हुआ वह अदम्य शासक परमात्मा पाशों को छोड़ सके ॥

इन्द्रियसुखलोलुप जीवात्मा वासनाओं से निगृहीत है-वासनाओं से भरपूर होता है-परिपूर्णरूप से घिरा हुआ होता है। अतएव वह कारण सूक्ष्म स्थूल शरीररूप तीन खूटों में बन्ध जाता है क्योंकि वासना बन्धन का कारण है। जब स्वाध्याय सत्सङ्ग आदि द्वारा समझ आती है तो यह मुक्ति के स्वामी परमानन्द का स्मरण स्तवन कीर्तन करता है, अपनी सारी प्रवृत्ति को उस ओर कर देता है, वाञ्छा केवल मुक्ति की ही होती है तब वह परमात्मा इसे बन्धन से छोड़ने में समर्थ होने के कारण इसकी व्यथा दशा तथा आचार व्यवहार एवं नम्रभावयुक्त प्रेमपूर्ण आराधन स्तुतिस्मरण को जानता हुआ देखता हुआ इसे बन्धन से छोड़ देता है क्योंकि इसके कदाचार अनाचार व्यसन वासना आदि दोषों के कारण इसे बन्धन में डालने वाला है तो साथ ही सदाचार सत्सङ्ग ध्यानोपासना आदि सद्‌गुणों से युक्त होने पर बन्धन से छोड़ने वाला भी है मुक्ति प्रदान करने वाला भी है। वह न्यायाधीश है कर्मानुसार फलप्रदाता है। हम उस सच्चे हितैषी की सुमति में रहते हुए मुक्ति को प्राप्त करें यही मानव जीवन का विशेष फल है ॥ १३ ॥

और—

अव ते हेलो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः ।
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि ॥१४

(वरुण) हे वरने योग्य वरने वाले परमात्मन्। (ते हेडः) जो तेरा क्रोध है तेरा अकृपाभाव है (नमोभिः-अवेमहे) उसे—स्तुतियों से शान्त करते हैं (यज्ञेभिः-हविर्भिः-अव) एवं यज्ञों—प्रार्थनाओं से और हवियों–आत्मसमर्पणरूप उपासनाओं से शान्त करते हैं (असुर

प्रचेत:-राजन्) हे प्राणप्रद ज्ञानप्रद राजमान परमात्मन् ! तू (क्षयन्-एनांसि कृतानि शिश्रथ:) हमारे अन्तरात्मा में निवास करता हुआ पाप कर्मों को शिथिल करदे—हमें पापों से परे करदे--पापों से बचाले ॥

ईश्वर सर्वव्यापक होने से हमारे शरीर में हृदय में मन में आत्मा में निवास करता हुआ हमें पाप कर्मों से बचा सकता है परन्तु जबकि उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते रहें। स्तुति प्रार्थना और उपासना से ईश्वर का अपने अन्तरात्मा में साधारण निवास से ऊपर तादात्म्य निवास हो जाया करता है उस ऐसे तादात्म्य निवास के साथ उसका अकृपाभाव स्वत: ही दूर हो जाता है पुन: पाप कर्म की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है क्योंकि स्तुति से अकृतज्ञता दूर होती है प्रार्थना से गर्व आदि दोषपर ग्लानि होती है और उपासना से नास्तिक्य आदि भावनाओं का क्षालन शोधन होता है और साथ में दिव्यगुणों की प्राप्ति हो जाती है। बस फिर पाप का प्रसङ्ग कहां ? स्तुति प्रार्थना उपासना ये तीनों पाप को दग्ध करने के अमोघ साधन या परम उपाय हैं अथवा पाप रोग को दूर करने के लिये महौषधरूप हैं ॥१४॥

अत:--

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥१५॥

(वरुण) हे वरने योग्य और वरने वाले परमात्मन् ! (अस्मत) हमसे (उत्तमं पाशम्-उच्छ्रथय) अविवेककृत कारणशरीररूप संसक्त लोह बन्धन को उखाड़ दे-तोड़दे (मध्यमं वि०) वासनाकृत सूक्ष्म शरीररूप आवरण बन्धन को विच्छिन्न करदे-फाड़दे (अधमम्-अव-) भोगकृत स्थूल शरीररूप ग्रन्थि-बन्धन को अवनत करदे ढीला करदे-खोलदे (अथ) अनन्तर-तीनों बन्धनों के पृथक् हो जाने पर (वयम्)

हम (अनागसः) पापरहित-बन्धनरहित हुए (आदित्य) हे अदिति-अखण्डसुखसम्पत्ति के स्वामिन् ! (तव व्रते-अदितये स्याम) तेरे सद्व्रत में—उपासना ध्यान में रहते हुए अदिति—अखण्डसुख-सम्पत्ति मुक्ति के लिये हो जावें-अखण्डसुखसम्पत्तिरूप मुक्ति में स्थिर हो जावें ॥

परमात्मा के बताए सदाचरणों में रहते हुए निष्पाप होकर उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना की जावे तो निःसन्देह हमारे तीन बन्धन स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर कारणशरीर रूप तीन बन्धन छिन्न-भिन्न होकर हम अखण्ड सुखसम्पत्तिरूप मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। परमात्मा की शरण में या मुक्ति में जाने का उपाय तो बस यही है कि उसके सदुपदेशों पर चलते हुए उसकी समीपता के लिये स्तुति प्रार्थना और उपासना निरन्तर चलती रहे। वह मनुष्य बड़ा अभागा है जो मानवदेह को पाकर मुक्तिमार्ग का अवलम्बन न कर संसार के झमेलों में ही जीवनयात्रा समाप्त कर देता है और पुनः पुनः भिन्न भिन्न योनिरूप बन्धीघरों में ही भटकता फिरता है। तथा वह मानव बड़ा भाग्यवान् है जो ईश्वर के सद्व्रतों में रहकर उसका ध्यानोपासन करके संसार में भी अभ्युदय लाभ करता हुआ मुक्ति को पाता है ॥ १५ ॥

—:o:—

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १७०

ऋषिः—अगस्त्यः—अग—वृक्ष, संसाररूप वृक्ष [1] एवं शरीररूप वृक्ष को [2] कर्म करणार्थ और भोगफलार्थ प्राप्त होने वाला जीवात्मा। तथा—अगः पाप का संग्रहकर्ता बद्ध [3] और पाप को त्याग चुकने वाला मुमुक्षु आत्मा [4]।

---

१. अगं वृक्षं वृक्षरूपं ससारं स्त्यायति संगृह्णाति-अगस्त्यः। अग वृक्ष संसाररूप वृक्ष को भोगार्थ प्राप्त होने वाला, जैसे वेद में कहा है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥"

(ऋग्वेद १। १६४। २०)

यहां मन्त्र में संसार को वृक्ष कहा है और जीवात्मा पक्षीरूप में फल खाने वाला कहा है।

२. 'अगं, वृक्षं वृक्षरूपं शरीरं स्त्यायति संगृह्णाति-अगस्त्यः। अग वृक्ष शरीररूप वृक्ष को भोगार्थ प्राप्त होने वाला, जैसे उपनिषद् में—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।" (कठोप०वल्ली ६।१) यहां शरीर को ऊर्ध्वमूल नीचे शाखावाला अश्वत्थ वृक्ष कहा है। दोनों अर्थों में 'अग--स्त्या--कः' "आतोऽनुपसर्गे कः" (अष्टा० ३। १। २)।

३. अगः पापं स्त्यायति संगृह्णाति—सकारलोपश्छान्दसः=अगः—पाप का संग्रहकर्ता संसारी जन।

४. अगः पापं त्यजति 'अगः-त्यज्-ड' "अन्येभ्योऽपि दृश्यते"(अष्टा० ३। २। १०१) अगः-पाप को त्याग चुकने वाला मुमुक्षु। इस प्रकार पापकर्मकर्ता और पाप कर्म त्यागने वाला पुण्यकर्मकर्ता, पाप पुण्य कर्म-कर्ता तथा अध्यात्मकर्मकर्ता आत्मा।

देवता—इन्द्रः—ऐश्वर्यवान् परमात्मा ।

वक्तव्य—इस सूक्त पर निरुक्तकार यास्क ने निरुक्त में कुछ आलङ्कारिक रूप देते हुए प्रतिपादन किया है कि अगस्त्य ने इन्द्र के लिये हवि देना निश्चित करके मरुतों के लिए समर्पित कर दिया—सौंप दिया वह इन्द्र आकर परिदेवना करने लगा उपालम्भ देने लगा कि तूने मेरे लिये भेंट देना निश्चय करके सौंपदिया मरुतों को, भला आज भेंट न दी कल देगा यह सम्भव नहीं एवं कल भी न दे सकेगा इत्यादि कथन किया है[1]। यहां सूक्त में अगस्त्य जीवात्मा और इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमात्मा है तथा मरुत हैं यहां प्राण "प्राणा वै मरुत-" (ऐ० ३ । १६) । सूक्त में यज्ञ की चर्चा है, यहां अध्यात्मयज्ञ का निरूपण है । इस अध्यात्मयज्ञ का यजमान अगस्त्य जीवात्मा, देव इन्द्र परमात्मा और ऋत्विक्स्थानीय यहां मरुत अर्थात् प्राण हैं । जीवात्मा द्वारा परमात्मा को हवि निरूपण की कथा मरुतों के प्रति सौंपने को आलङ्कारिकरूप में इस प्रकार है कि जैसे ही गर्भ में जीवात्मा आया तो अध्यात्मयज्ञ करने का सङ्कल्प हुआ कि मैं हे ईश्वर तेरा यजन करूंगा—तेरा सत्संग करूंगा किसी भी प्रकार गर्भपीड़ा से बचाओ गर्भ से मुक्त करो यह सङ्कल्प जीवात्मा का गर्भ में आने पर शाश्वतिक है, जैसा कि निरुक्त में दिया है कि मैं मरा फिर जन्मा, जन्मा फिर मरा, भांति-भांति की सहस्रों योनियों में वसा इस प्रकार नीचे मुख किए जीव सब ओर से पीड़ित हुआ सांख्य और योग का अभ्यास करने को या २४ पदार्थों से ऊपर पच्चीसवें परमात्मा का ध्यानोपासन करने की सोचता है परन्तु गर्भ से बाहिर आते ही बाहिरी वातावरण के छूते ही स्मरण नहीं करता है

---

१. अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुभ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे—"न नूनमस्ति नो श्वः..." (निरु० १ । ५)

सब भूल जाता है[1] ऐसा ही कुछ गर्भोपनिषद् में भी कहा है कि पूर्व जन्मों की सहस्रों योनियों को देख भोग कर जीवात्मा गर्भ में स्मरण करता है कि मैंने विविध आहार खाए नाना-विध स्तन पीए, पुनः पुनः जन्मा और मरा, अहो दुःखसागर में मग्न हुआ मैं इसका प्रतीकार नहीं देखता हूँ। यदि मैं योनि से बाहिर निकलूं तो परमेश्वर को प्राप्त होऊं जो कि अशुभ अकल्याण का नाशक मुक्तिफल प्रदाता है। यदि योनि से छूटूं तो सांख्य और योग का वैराग्य और अभ्यास का सेवन करूं। सनातन ब्रह्म का ध्यान करूं। पुनः वह योनिद्वार को प्राप्त हुआ नियन्त्रण करने वाले योनि ढांचे से पीड़ित हुआ अतिदुःख से उत्पन्न होते ही बाहिरी फैले हुए वायु से छूते ही तब स्मरण नहीं करता है।[2]

ऐसी स्थिति में अगस्त्य—जीवात्मा और इन्द्र—परमात्मा का संवाद आलङ्कारिक दृष्टि से सूक्त में निम्न प्रकार है—

---

१. "मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नाना योनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै···
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः।
साख्यं योगं समभ्यस्येत् पुरुषं वा पच्चविंशकम्॥
जातश्च वायुना स्पृष्टस्तन्न स्मरति" (निरु० १४। ७)

२. "पूर्वयोनिसस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया। आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः। जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः। य महादुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्। यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं प्रपद्ये महेश्वरम्। अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्ति-प्रदायकम्॥···· यदि योन्याः प्रमुच्येयं प्रपद्ये तत्सांख्यं योग-मभ्यसे···ध्याये ब्रह्मसनातनम्। अथ योनिद्वारसम्प्राप्तो यन्त्रेणापीड्य मानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति।" (गर्भो० ४)

इन्द्रवचन—ईश्वर की ओर से कथन—

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम् ।
अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमुताधीतं विनश्यति ॥१॥

(नूनं न-अस्ति नो श्वः) आज नहीं हैं तो कल भी नहीं, हे जीवात्मन् ! आज[2] तेरी अध्यात्म आहुति मुझे न मिली तो कल भी न मिल सकेगी, क्योंकि (कः-तत्-वेद यत्-अद्भुतम्) कौन जानता है जो हुआ नहीं[3] होने वाला है (अन्यस्य चित्तम्-अभि-सञ्चरेण्यम्) दूसरे का चित्त फिसलने वाला है—अविश्वसनीय है (आधीतम्-उत विनश्यति) निश्चित किया हुआ भी—धारा हुआ भी विनष्ट हो जाता है ।

मनुष्य जब बन्धन में होता है—विपत्ति में पडा होता है तो नाना प्रकार के शिव सङ्कल्प ईश्वर का स्मरण भविष्य में उसके प्रति समर्पण उसका ध्यानोपासन करने का निश्चय करता है परन्तु जैसे ही संकट से छूटता है तो साथ ही वे समस्त सङ्कल्प भूल जाता है सारी प्रतिज्ञाओं की उपेक्षा करने लगता है, करे भी क्या प्रायः फिसलने का स्वभाव संसारी जनों का हुआ करता है । आज की बात को कल भूल जाता है आज की बात को कल न भूले या आज के सङ्कल्प से कल न फिसले इसका कोई प्रमाण नहीं गारण्टी नहीं । हां यदि आरम्भ से ही सङ्कल्प एवं प्रतिज्ञा को पूरा करता रहे तो भविष्य में भी पूरा कर सकता है परन्तु जब आज ही के कर्तव्य को आज न करके कल पर छोडता है तो इसका क्या ठिकाना वह कल कर सकेगा या नहीं । अतः आज का कार्य कर पर नहीं छोडना चाहिए कौन जाने कल क्या होगा ? साधन रहें या न रहें

---

२ "न नूनमस्त्यद्यतनम्" (निरु० १ । ६)

३. "यदद्भुतं यदभूतम्": (निरु० १ । ६)

कार्यशक्ति रहे न रहे जीवन रहे या न रहे "को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति" (महाभा० शान्ति मोक्ष अ० १७५) कौन जानता है कि आज किसका मृत्युकाल होगा वस्तुत: आज का भी क्या पता सो ठीक है कि "श्व: कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्" (महाभा० शान्ति० मोक्ष अ० २७७ । १३) " जो कल करना सो आज करले जो आज करना सो अब करले" "युवैव धर्मशील: स्यात्" (महा० शान्ति० मो० १७५) यौवनकाल में ही धर्मशील होना चाहिए। अपने वर्तमान को स्वाधीन और पुण्य बनाना ही श्रेष्ठ है। इसी में ही जीवन की सफलता है इससे न केवल साधारण विषयों की प्राप्ति होगी या साधारण जनों का प्रेमपात्र बनेगा, अपितु मोक्ष जैसे उच्च पद को भी प्राप्त कर सकेगा और महात्मजनों तथा परमात्मा का भी प्रेमपात्र बन कर जीवन का सच्चा सुखलाभ ले सकेगा अध्यात्म यज्ञ रचाने के लिये ईश्वर की ओर से प्राण मिले हैं परन्तु प्राणी प्राणों का यापन केवल प्राणपोषण में करते रहते हैं और निरन्तर भोग भोगने ही में लगे रहते हैं जब उन्हें कभी ईश्वर की ओर लगाने का विचार होता भी है तो प्राय: वे समझने लगते हैं कि प्राण होते हुए उन्हें भोगविलासों में न लगाना यह तो उनका न होने या मर जाने के समान है। परन्तु मनुष्य मननशील है उसे मनन करना चाहिए कि यदि प्राणपोषण के लिये ही मनुष्य-जन्म है तो मनुष्यजन्म की फिर क्या विशेषता है ? ॥१॥

मरुतों—प्राणों का वचन इन्द्र—परमात्मा के प्रति—

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।

तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ॥२॥

(इन्द्र नः किं जिघांससि) हे परमात्मन् ! तू हमें क्या मारना चाहता है जो जीवात्मा से सीधा हवि लेने को उद्यत है (मरुत:-ते भ्रातरः) हम प्राण तेरे भरणीय हैं (तेभिः साधुया कल्पस्व)

उन इस प्राणों के साथ अच्छी भेंट अच्छा समर्पण प्राप्त कर[1] (नः समरणे मा वधीः) हमें संग्राम[2] संघर्ष में मत मार।

कभी कभी ईश्वर के प्रति इतना उद्वेग हो जाता है कि प्राणों को भी मनुष्य संशय में डाल देता है प्राण जाएं भले ही शरीर सूखे अन्यथा व्रतोपवास में शरीर को निर्बल करदेता है परन्तु यह भी ठीक नहीं। किन्तु मानव जीवनकी वास्तविकता तो यह है कि प्राणपोषण भी होता रहे और साथ साथ ईश्वरचिन्तनरूप अध्यात्मयज्ञ भी चलता रहे। इस प्रकार न प्राणों का नाश और न अध्यात्मयज्ञ का विलोप या ईश्वर से विमुखता। बस यही मानव के प्राणों का लक्ष्य है और जीवन की सफलता है ॥ २ ॥

मरुतों-प्राणों का वचन अगस्त्य-जीवात्मा के प्रति—

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे ।

विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ॥३॥

(भ्रातः-अगस्त्य सखा सन् नः किम्-अतिमन्यसे) हे भरणीय जीवात्मन्! तू सखा होता हुआ समानस्थान वाला जन्म से मरण-पर्यन्त साथी होता हुआ हमसे स्नेह करता हुआ भी तू हमें क्यों तिरस्कृत करता है--हमारी उपेक्षा करता है जो सीधे इन्द्र-परमात्मा के लिये हवि देने को तैयार हो रहा है(ते यथा मनः-विद्म-अस्मभ्यम्-इत्-न दित्ससि) तेरा जैसा मन है हम जानते हैं कि हमारे लिये हवि क्यों नहीं देना चाहता है ॥

आस्तिकता के आवेश में प्राणों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए उनकी उपेक्षा करना अज्ञान की बात है क्योंकि प्राणपुष्ट होते रहेंगे प्राण बने रहेंगे तो ईश्वर का समागम भी हो सकेगा निर्बल प्राणवाले

१, "साधुया" सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०…(अष्टा० ७ । ३ । ३९) से याच्

२. "समरणे संग्रामनाम" (निघं० २ । १७)

या मुर्दे को नहीं, यदि ऐसा हो तो शरीर ही ईश्वर क्यों देता प्राणों को क्यों देता मानव ही क्यों बनाता ? जीवात्मा की सत्ता तो पूर्व से ही विद्यमान थी प्रथम अपना समागम लाभ जीवात्मा को ईश्वर दे देता। परन्तु ईश्वर निठल्ले को कैसे देदेता ? प्राण धारण कराए कि कर्म करो योग्य बनो प्राणों के साथ मेरा चिन्तन ध्यान करो तो समागम लाभ लो, यह तो साधन देकर उनसे उपयोग लेकर निज प्रयत्न का फल पाने के लिये परीक्षा में उत्तीर्ण हो फलवान् बनने की बात है। अतः प्राणों की उपेक्षा करके इष्टिसिद्धि नहीं हुआ करती, प्राणों का पोषण भी चलता रहे और ईश्वर का ध्यान भी होता रहे यही मानव जीवन का स्वरूप और साफल्य है यही अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति है ॥ ३ ॥

अगस्त्य-जीवात्मा का वचन मरुतों-प्राणों के प्रति—

अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः ।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै ॥४॥

(ते वेदिम्-अरंकृण्वन्तु) प्राणो ! मैं आपकी उपेक्षा नहीं करूंगा वे आप सब शरीर वेदि को अलंकृत करो स्वस्थ-सुन्दर कान्तियुक्त बनाओ (पुरः-अग्निं समिन्धताम्) प्रथम अध्यात्म अग्निको प्रकाशित करो (तत्र) वहां (अमृतस्य चेतनं यज्ञं तनवावहै) अमरपन मोक्ष के चेताने वाले अध्यात्म यज्ञ को मैं जीवात्मा और परमात्मा दोनों सम्पन्न करें—बढावें ॥ ४ ॥

प्राणों द्वारा शरीर वेदि अलङ्कृत होनी चाहिए अलङ्कृत नहीं हो तो उसपर यजमान को बैठने में रुचि नहीं होगी और न वहां देव का आगमन होसकता है। स्वस्थ सुन्दर कान्तियुक्त शरीर रहता हुआ ही अध्यात्म यज्ञ की वेदि बना करती है, निष्प्राण या निर्बल प्राणवाला शरीर न अभ्युदय की भूमि पर खडा हो सकता है और न निःश्रेयस की छाया को पासकता है। सबलप्राण ही प्राणायाम आदि योगा-

भ्यास को साध सकता है और मोक्ष प्राप्ति के लिये परमात्मा की उपासना में आगे बढ सकता है। शारीरिक स्वास्थ्यरूप भौतिक अमृत का लाभ जिस मनुष्य ने नहीं पाया और जो रोगरूप प्राणसंशयों—मृत्यु के परिजनों का पुनः पुनः ग्रास बनता रहता है वह ऐसा व्रतहीन मनुष्य उस ऊंचे अमृत सुख-मोक्ष काभागीकैसे बन सकता है ? कभी नहीं बन सकता अतः सात्विक आहार व्यवहारों का आचरण करना और सृष्टिक्रम का उल्लङ्घन न कर शरीर को स्वस्थ सतेज रखते हुए प्राणशक्ति प्रबल सम्पन्न करते हुए मोक्षपद को साधना चाहिए ॥ ४ ॥

अगस्त्य—जीवात्मा का इन्द्र—परमात्मा के प्रति वचन—

त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठ ।

इन्द्र त्वं मरुद्भिः संवदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि ॥५॥

(वसुपते त्वं वसूनाम्-ईशिषे) हे मेरे वसानेवाले-जीवनतत्त्वों को वसाने वाले प्राणों के[1] स्वामिन्! तू उन जीवनतत्त्ववसाने वाले प्राणों पर स्वामित्व करता है। तथा (मित्रपते त्वं मित्राणां धेष्ठ) हे दोषों को हटाकर गुणों को बढाने वाले प्राणों के स्वामिन्! तू निर्दोष जीवन बनाने वाले प्राणों को[2] स्वशासन में अत्यन्त धारण करता है (इन्द्र त्वं मरुद्भिः संवदस्व) हे परमात्मन्! तू इन प्राणों के साथ संवाद कर प्रत्येक प्राणप्रवाह और चेष्टा में तेरी ध्वनि तेरा जप हो (अध-ऋतुधा हवींषि प्रशान) अनन्तर समय समय पर आत्म-समर्पण भावपूर्ण उपासना भेंट को सेवन कर॥

शरीर में प्राणों के दो कार्य हैं एक तो जीवनीय शक्ति देना दूसरा दूषित अग्राह्य तत्त्वों को शरीर से बाहिर निकाल देना। जो

---

१. प्राणा वाव वसवः प्राणा हीद सर्व वस्वाददते (जै० उ० ४।२।३।)

२, "प्राणो मित्रम्" (जै० उ० ३।३।६)

जीवनीय शक्ति देनेवाले प्राण अशन आदि हैं वे वसु प्राण हैं और जो प्रेरणा देने वाले नासिका जिह्वा नेत्रादि इन्द्रियरूप प्राण हैं वे मित्र प्राण हैं। इन दोनों प्रकार के प्राणों का स्वामी[1] तथा धारक[2] परमात्मा है। यह भारी भूल है जो मनुष्य समझ लेता है कि प्राण मेरे अधीन हैं प्राण तो मानव की अचेतावस्था मूर्च्छा सुषुप्ति में भी चलते रहते हैं एवं स्वप्न में भी इन्द्रिय विषयों का सूक्ष्मरूप प्रवर्तन होता रहता है। प्राण जगदीश के ही अधीन हैं। अतः उसकी आराधना के साथ इन प्राणों का सञ्चालन पोषण करना मानव जीवन का ध्येय होना चाहिये। कोई प्राण ऐसा न जाए जिसमें केवल प्राणपोषण ही हुआ हो और परमात्मा का आराधन न बना हो। ध्यान उपासना के समय में अन्य सब कार्य छोड़कर अवश्य उसका ध्यान-उपासना करना चाहिये, इसी लिये प्राणों का पाना है ॥५॥



१. "स उ प्राणस्य प्राणः" (केनो० १।२) "केन प्राणः प्रणीयते" (केनो० १।१)

२. यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति" (केनो० १।)

ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ८६

ऋषिः—वसिष्ठः=परमात्मा में अतिशय से वसनेवाला उपासक[1]।

देवता—वरुणः=वरनेयोग्य तथा वरनेवाला उभयगुणसम्पन्न परमात्मा[2]।

---

१. वसिष्ठ=वसुतम। और—

वसुः—जो वसता है वस्तु परामत्मा में वस्तु मात्र वसती है-रहती है व्याप्य बनकर रहती है अतः जड़ जङ्गम वस्तुमात्र वसु है जैसा कि वेद में कहा है "ईशा वास्यमिदँ सर्वम्" (यजु० ४०। १)

वसीयान्—वसुतर पूर्वापेक्षया अधिक वसने वाला आस्तिकमनवाला मनुष्य, व्यापक परमात्मा में तादात्म्य-सम्बन्ध से वसने वाला रहने वाला होने मनुष्य, जैसे मिष्ट के साथ अन्न मिष्टान्नरूप में होता है।

वसिष्ठः—वसुतम उपासक जन,उपास्य देव परमात्मा में तद्धर्मवान् होकर उस के ज्ञान प्रकाश और आनन्द गुण को अपने अन्दर धारण कर परमात्मा में वसने वाला उपासक आत्मा, जैसे दूध में जल वसता है। उपास्य के गुणों का आधान वेद में भी कहा है। 'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि" (यजु० १६। ६)।

२. संसार में कोई वस्तु हमारे वरते योग्य हैं पर वह हमें नहीं वरती, यदि वह जड़ है तो जड़त्वधर्म वाली होने से, या चेतन है तो उसका हम से कोई स्वार्थ सिद्ध होता नहीं लगता। परमात्मा जड़ नहीं और चेतन होते हुए उस में स्वार्थभावना नहीं अतः हमें अवश्य वरने वाला है।

यदि कोई व्यक्ति हमें वरना चाहती है तो वह हमारे वरने योग्य

मैं संसार के बन्धन में संसार तुम्हारे बन्धन में--

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥१॥

(यः—उर्वी रोदसी चित्-वि-तस्तम्भ) जो वरुण-वरने योग्य वरने-वाला परमात्मा विश्व या खगोल के दो महान् 'रोदसी-रोधसी'[1] रोधन करने वाले दोनों ओर से कटाहसम्पुट—दो कटाहों के मुखमेल या दो कटोरों के मुखमेल के समान वर्तमान उत्तरगोलार्द्ध दक्षिणगोलार्द्ध सीमाओं को भी थामे हुए नियन्त्रित किए हुए सम्भाले

नहीं, गुणों से हीन होने के कारण। परमात्मा तो सर्वसद्गुणसम्पन्न है वह हमारे वरने योग्य है ही।

कोई हमारे भी वरने योग्य है और वह हमें भी वरना चाहता है परस्पर स्वानुकूल समान सर्वगुण होने से परन्तु अन्य देश काल और परिस्थितियां मध्य में बाधक होने से परस्पर नहीं वर सकते या वर लेने पर भी उक्त बाधक हमें वरण समागम का यथेष्ट अवसर नहीं देते परस्पर में वियोग करा देते हैं। परमात्मा और हमारे(उपासक जीवात्मा) में या परमात्मा के साथ वरणसम्बन्ध में देश काल और परिस्थितियां बाधक नहीं बन सकतीं।

परमात्मा समस्त विश्व को वरने आवृत करने अपने अन्दर घेरने वाला होने से भी वरुण है क्योंकि वह आकाश से भी परे है, आकाश को भी अपने अन्दर धारण करने वाला है जैसा वेद में कहा है—"त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः" (ऋ० १।५२।११)। परमात्मन् तू आकाश के भी पार है। इस कारण से भी वह वरने वाला है—वरुण है।

१. "रोदसी रोधसी विरोधनात्–रोधःकूलं निरुणद्धि स्रोतः"
(निरु० ६।१)

हुए बान्धे हुए हैं । और जिसने (ऋष्वं नाकं प्र-तुनुदे) उन सीमा-रूप दोनों गोलार्द्ध सम्पुटों के अन्दर महान्[1] द्युमण्डल[2] नक्षत्र-गणक्षेत्र—जिसमें नक्षत्रगण रहते हैं उसे प्रेरित किया सृजा प्रगतिशील बनाया (च) और जिसके अन्दर (बृहन्तं नक्षत्रं भूम-द्विता पप्रथत्) महान्[3] नक्षत्रगण को वहुत दूर-दूर दो विभागों में उत्तरगोलार्द्ध और दक्षिणगोलार्द्ध, दृष्टगतिवाले और अदृष्टगतिवाले, प्रकाशक और प्रकाश्य के भेदों से विस्तारित किया—फैलाया (तु) तो फिर पुनः प्रत्येक नक्षत्र-लोक-पिण्ड पर (अस्य महिना जनूंषि धीरा) इस वरुणरूप परमात्मा की महिमा से—महती शक्ति द्वारा 'जनूंषि जायन्ते प्राणिनो येषु तानि जन्मानि योनयः' जीव जिनमें जन्मते हैं वे योनियां भिन्न-भिन्न शरीर 'धीरा—धीराणि दृढ़ानि' दृढ़ बन्धन रूप हैं—आत्माओं के बांधने वाले हैं ।

जीवात्मा एक छोटे से शरीर में है, शरीर घर में, घर एक वीथी गली मोहल्ले में, वीथी गली मोहल्ला नगर में, नगर प्रान्त में, प्रान्त प्रदेश में, प्रदेश देश में, देश द्वीप में, द्वीप पृथिवीगोल पर है। पृथिवीगोल का घेरा लगभग २४ सहस्र मील में है, ऐसे पृथिवीगोल से लाखों गुणा बड़ा सूर्य पिण्ड है, सूर्य से सहस्रों गुणा बड़ा किसी किसी धूमकेतु (पूछलतारे) का मुखमात्र है पुनः पूछ का तो ठिकाना ही क्या ? ऐसे पृथिवी सूर्य पूछलतारे आदि लोकों के अनन्त गण हैं, वे अनन्त लोक गण हैं अगम्य खगोल मण्डल में, अगम्य खगोल मण्डल है कटाहसम्पुट जैसे वर्तमान उत्तर गोलार्द्ध दक्षिण गोलार्द्धरूप सीमावृत में या सीमाओं में, कटाहसम्पुट सीमागोल नियन्त्रित है—घिरा हुआ है असीम अनन्त वरुणरूप

---

१. "ऋष्वं महन्नाम" (निघ० ३।३)।

२. "नाकः-द्यौद्युमण्डलम्" (निरु० २।१३)।

३. "बृहत्-महन्नाम" (निघं० ३।३)।

परमात्मा में। परमात्मा अपने अन्दर सम्पूर्ण कटाहसम्पुट सीमागोल एवं समस्त विश्व को आवृत्त करने वाला होने से वरुण है। वस! यह देख कर उपासक कह उठता है "प्रभो। मैं हूँ संसार के बन्धन में संसार तुम्हारे बन्धन में"॥

सो कैसे—

वरुणरूप अनन्त परमात्मा में खगोल की उत्तरगोलार्द्ध दक्षिणगोलार्द्ध सीमाओं का कटाहसम्पुटरूप खगोल बन्धा है, सीमाओं के कटाहसम्पुट में लोकगण क्षेत्र बन्धा है, लोकगण क्षेत्र में लोकगण बन्धे हैं, लोकगणों में भिन्न-भिन्न लोक बन्धे हैं, प्रत्येक लोक में असंख्य योनियां बन्धी हैं, एक एक योनि में अगणित शरीर बन्धे हैं, शरीरों में जीवात्मा बन्धे हुए हैं। हमारे पृथिवीगोल का परिमाण उक्त कटाहसम्पुटरूप खगोल के सम्मुख इतना है जैसे एक मील मोटे गोले के सम्मुख एक राई का दाना, तब उस राई के दाने के समान पृथिवीगोल पर अनेक द्वीप, द्वीप में अनेक देश, देश में अनेक प्रदेश, प्रदेश में अनेक प्रान्त, प्रान्त में अनेक उपप्रान्त, उपप्रान्त में अनेक नगर ग्राम, नगरग्राम में अनेक वीथी गली मोहल्ले, वीथी गली मोहल्ले में अनेक घर, घर के एक भाग में शरीर या देह रहता है जिस शरीर या देह में जीवात्मा रहता है। वस यह है जीवात्मा की या मेरी और आपकी स्थिति जो कि शरीर या देह रूप या घर में ही है[1]।

शरीर या देह में आत्मा बन्धा है और दृढ़ रूप से बन्धा है, बन्धन का कारण है अविवेक, वासना और राग द्वेष या राग द्वेष का परिवार काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, भय, शोक ये सात दोष[2]। जब तक ये दूर न हों तब तक कोई भी शरीर के बन्धन से छूट नहीं सकता। कोई चाहे कि मैं आत्महत्या करके शारीरिक बन्धन से छूट

---

१. "इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे" (अथर्व० १०।८।२६)
२. शरीर के तीन बन्धन (ऋ० १।२४।१५)

जाऊं या किसी को पीड़ित देख उसका प्राणान्त कर देने से शारीरिक बन्धन या सन्ताप से उसे छुड़ा देना समझना भी भारी अज्ञान है। कारण कि प्रथम तो संसार का महान् से महान् दु:ख भी मृत्यु-दु:ख के सहस्रवें अंश के भी बराबर नहीं, यह ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है। पुन: शरीर के अल्प सन्ताप से बचने या बचाने के लिए मृत्यु जैसे असीम दु:ख को जान बूझकर लेना या देना महामूर्खता और घोर पाप है। दु:खों से छुटकारा पाने का उपाय शरीरपात अर्थात् अपनी या दूसरे की हत्या नहीं है। दु:खों से बचने का उपाय तो मात्र उसके कारणों–अविवेक, वासना, राग-द्वेष आदि पापों को दूर करना है, शरीरपात या आत्महत्या करना नहीं। उन दु:खों को इस शरीर में न भोगने दिया तो दूसरे शरीर में भोगना पड़ेगा और भी अधिक निकृष्ट स्थिति में भोगना पड़ेगा। बोझा ढोने से बचने का उपाय बोझ उठाने की टोकरी को तोड़ना नहीं है, टोकरी तो दूसरी ले लेनी पड़ेगी। तन्तुवाय (जुलाहा) मनुष्य शरीर में रुचि न रखे उसे आत्महत्या से नष्ट करे तो तन्तुकीट (मकड़ी) के शरीर में निकृष्ट दशा में आ तानाबाना तो बुनना ही पड़ेगा। उपाय तो बोझा ढोने की प्रवृत्ति या अभ्यास को छोड़ देना है। पुन: बोझा उठाने की टोकरी शिर पर रखने को मन न करेगा और न कोई दूसरा उसको बोझा उठाने को कहेगा, न बोझा रख सकेगा॥

शरीर के अन्दर जीवात्मा बन्धन में है—भूमि के अन्दर का कीट अन्दर बन्धन में है बाहिर नहीं आ सकता, बाहिर का वायु नहीं ले सकता, जल का प्राणी जल के बन्धन में है जल से बाहिर भूमि पर नहीं रह सकता, वायुचारी पक्षी जल में यथेष्ट विचरण नहीं कर सकता, मनुष्य जल के अन्दर नहीं रह सकता न आकाश में पक्षी की भांति उड़ान ले सकता है। भूचाल, समुद्रोत्पात, विद्युत्पतन आदि दैविक घटनाओं का ग्रास बनता रहता है। इसी प्रकार अपने

कर्मानुसार जीव अगणित योनियों में बन्धा रहता है, असंख्य लोकों में बन्धा हुआ है अनन्त विश्व में बन्धा पड़ा है, इतना बन्धा है कि सारे विश्व में स्थल जल गगन में विचरण करने योग्य भी हो जावे तो असंख्य जन्मों में भी विश्व की (विश्व की परिधि की) यात्रा संमाप्त नहीं कर सकता, इतना ही नहीं किन्तु विश्व के एक सिरे से समसूत्र (व्यास—समदण्ड) में दूसरे सिरे तक नहीं पहुंच सकता। इतना असीम विश्व इस मेरे अनन्त वरुणरूप परमात्मा के अन्दर एक छोटे से घोंसले के समान[1] तथा तुच्छ रूप में वर्तमान है[2]। क्या ही अच्छा हो मैं इस शरीर के बन्धन या देहबन्धन से छूट कर इस अपने अनन्त वरुणरूप परमात्मा में विराजमान होऊं ॥१॥

देहबन्धन से छूटने का उपाय सौमनस्य शिवसङ्कल्प का अभ्यास—

उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृलीकं सुमना अभिख्यम्॥२

(उत स्वया तन्वा संवदे) हां! मैं अपनी देह से संवाद करता हूं—पूछता हूं (तत् कदा नु वरुणे-अन्तः-भुवानि) तो फिर कब मैं वरने योग्य एवं वरने वाले परमात्मा के अन्दर विराजमान होऊं—ऐसा दिन कब आयगा जब कि मैं वरने योग्य और वरने वाले परमात्मा में अपने को विराजमान हुआ देखूं (मे) मेरी (किं हव्यम्) किस भेंट को (अहृणानः-जुषेत) वह स्वागत करता हुआ स्वीकार करे (कदा मृडीकं सुमनाः-अभिख्यम्) कब मैं सुखस्वरूप आनन्दरूप परमात्मा को पवित्रमनवाला और निरुद्धमनवाला होकर देख सकूं।

---

१. "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (यजु० ३२।८)

२. "तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्" (ऋ० १०।१२९।३)

अयि मेरी देह ! क्या तू सदा भोगविलासों में भटकाने जहां-तहां फंसाने के लिये ही है, नहीं ! नहीं !! तेरा यही काम नहीं। किन्तु उस अन्तर्यामी परमात्मा के सत्सङ्गमें लेजाना उसकी शरण में पहुंचाना तेरा परम कर्तव्य है। जिस मानवदेह में उस प्रभु परमात्मा के प्रति आस्तिक भाव नहीं, अपने आत्मा का झुकाव नहीं, राग नहीं स्नेह नहीं ऐसा वह मानवदेह रूखा और सूखा है। क्या हुआ ऐसा मनुष्य संसार में दस बीस वर्ष रोटियां खाकर चला गया और कोई पचास सौ वर्ष रोटियां खाकर चल बसा। केवल रोटियां खाकर ही तो गया, भोग भोगकर ही तो गया। भोग-भोगने मात्र का जीवन तो पशु-पक्षियों का भी है, पुनः मानवदेह की विशेषता ही क्या और मानवता ही क्या है ? आस्तिकता ही मानवता है और मानव की विशेषता है पाशविकता से अलग रहने का उपाय है। अतः हे मेरी देह तू मुझे यह बता उस वरुणरूप वरने योग्य वरने वाले परमात्मा के अन्दर मैं अपने को कब विराजमान हुआ देखूं ? हे मेरी देह संसार में संगी साथी पदार्थों में तू ही साथ देने वाली है, जन्म से मरणपर्यन्त तू ही साथ देती है। बता मैं उसकी भेंट क्या दूं ? उस जगत्पति परमात्मा की भेंट या समर्पण जड वस्तुएं या संसार के पदार्थ तो नहीं किए जा सकते, उनकी उसे अपेक्षा नहीं आवश्यकता नहीं और न ही हमारा उन पर अधिकार है वे तो उसीके हैं ही, हाँ ! मैं दे सकता हूं तो अपना मन, मन को उधर उसे सौंपदूं उसमें लगादूं मन में सदा उसका स्मरण रखूं, परन्तु पापी मन को वह अपनाता नहीं और न पापी मन उसका स्मरण कर सकता है तथा न पापी मन उधर जा सकता है, वह तो पाप से भरा है उसमें परमात्मा का स्मरण कैसे आवे ? कौन दाता भिक्षुक के गोबरभरे पात्र में अपने मोहनभोग या पायस आदि भोजन को डाल कर बिगाडे। सुधारक साधु जन तो अनधिकृत एवं भौतिक पदार्थ को नहीं लेते वे तो किसी के मन को अन्तःस्थल को ही स्वीकार किया

करते हैं भीतरी सद्भावना से ही उन्हें प्रेम होता है। अतएव मुझे 'सुमनाः' अच्छे मन वाला अर्थात् पवित्र मनवाला एवं स्थिर मनवाला बनना है। सुमनाः' अच्छे मन वाला बनने से ही मेरी देह यान (गाड़ी) अपने अङ्ग प्रत्यङ्गसहित सुचारू और योग्य बनकर मुझे परमात्मा तक पहुंचा सकेगी। देह तो उसके सत्सङ्ग का साधन है, देह का सुचारु और योग्य बनना तो मन पर निर्भर है, मन के पवित्र और स्थिर हो जाने पर ही प्राण और इन्द्रियां भी नियन्त्रित और स्थिर हो जाती हैं, बस इसे ही तो योगविधि में अभ्यास कहा है "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (योग० १। १२) अभ्यास परमात्मा के सत्सङ्ग का साधन है जो शरीररूप यान (गाड़ी) के द्वारा सिद्ध होता है। योग्य शरीररूप यान (गाड़ी) उस परमात्मा तक पहुंचाती है। किसी के भी सत्सङ्ग का यह प्रथम साधन है जो उस तक पहुंच कर सत्सङ्ग बनता है। चल सकने वाले यान को प्राप्त करके उससे अभीष्ट यात्रा न करना या विषम स्थानों की यात्रा कर अयोग्य बना देना अञ्जरपञ्जर कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है। अतः हे मेरी देह! मैं सुमनवाला बनकर उस अपने प्रिय परमात्मा को तेरे बने रहते ही—इसी जीवन में देखलूं—प्राप्त करलूं तू ऐसी बन जा ऐसा दिन ले आ ॥ २ ॥

परमात्मसत्सङ्ग में बाधक दोष का निरीक्षण—

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्। समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥ ३ ॥

(वरुण दिदृक्षु[1] तत्-एनः पृच्छे) हे वरने योग्य एवं वरने वाले परमात्मन्! मैं तेरे दर्शन का इच्छुक उस दोष को पूछता हूं

---

१ "सुपां सुलुक्..." (अष्टा ७।१।३९) इति सु लुक्।०

'जो तेरे दर्शन में बाधक है' तथा (चिकितुष:—उप—एमि—ऊ पृच्छम्) विद्वानों के पास जाता हूं और उनसे भी पूछता हूं 'कि मेरे में क्या दोष है, (कवय:-चित्-मे समानम्-इत्-आहु:) वे पूज्य विद्वान् मुझे समान ही उत्तर देते हैं, कि (अयं ह वरुण:-तुभ्यं हृणीते) अरे यह वरुण परमात्मा तेरे लिये अनादर–अस्वागत भाव रखता है।

परमात्मदर्शन के उत्सुक जन को सदा एकान्त में विराजमान हो सर्वत्र व्यापक परमात्मा में अपना समर्पण करके अपने दोषों पर दृष्टि डाल उन्हें दूर करना चाहिए। प्रथम अपने से अधिक विद्वानों के पास जाकर अपने दोषों को पूछना जानना चाहिये। पुनः जिस बात को विद्वान् सुझावें उसे स्वीकार कर दोषों को दूर करना चाहिए। क्योंकि निर्दोष निष्पाप जन को ही परमात्मा अपनाता है अन्यथा दोषवान् पापी का तो वह अनादर अस्वागत ही करता है। माता पिता सन्तान पर अप्रसन्न होते हैं उसका अस्वागत करते हैं आज्ञाकारी अनुकारी न होने पर, गुरु शिष्य पर रुष्ट होते हैं उसका अस्वागत करते हैं गुणधारी सदाचारी और सेवाशील न होने पर, राजा या शासक प्रजाजन पर क्रूर दृष्टि रखता है उसका अस्वागत करता है अनियम से रहने वाले या नियमभङ्गी पर, मित्र मित्र पर असप्रन्न होता है उसका अस्वागत करता है समानधर्मी या समान-व्यसनी न होने पर, महात्मा भक्त जन पर अप्रसन्न होता है उसका अस्वागत करता है अयोग्य सेवा करने पर, परमात्मा उपासक पर अप्रसन्न होता है उसका अस्वागत करता है अयोग्य स्तुति प्रार्थना उपासना करने पर ॥ ३ ॥

योग्य स्तुति प्रार्थना उपासना से हटाने वाले विरोधी गुण ही परमात्मसत्सङ्ग में बाधक हैं—

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम् । प्रतन्मे वोचो दूलभ स्वधावोऽव त्वाऽनेना नमसा तुर इयाम् ॥ ४ ॥

(वरुण किं ज्येष्ठम्-आगः-आस) हे वरने योग्य एवं वरने वाले परमात्मन् ! मेरा क्या बड़ा अपराध या दोष है ? (यत् स्तोतारं सखायं जिघांससि) कि जो स्तुतिकरनेवाले सखा को अपने अदर्शन से पीड़ित करता है (दूलभ स्वधावः-तत्-मे प्रवोचः) हे दुर्लभ दर्शनीय आनन्दरसवाले परमात्मन् ! उस पाप या दोष को मुझे बतला । जिससे (अनेनाः-तुरः-नमसा त्वा-अव-इयाम्), मैं पापरहित या निर्दोष होकर शीघ्र नम्रीभाव से तुझे प्राप्त होऊं ।

हे परमात्मन् तू हमारी माता है पिता है गुरु है राजा है सखा है, परन्तु तेरा सखापन सदा निर्बाध बना रहता है। हम शरीरधारी हों या शरीर से रहित हों मोक्ष में हों । माता पिता गुरु राजा का सम्बन्ध तो शरीरधारी रहने तक ही होता है, शरीर के साथ ही इनका प्रयोजन है परन्तु सखा (समानख्याति—समानगुण चेतनत्व आदि) तो हम शरीरधारी हों या शरीर से रहित मोक्ष में हों सदा बना रहता ही है, अतः मुझ उपासक के लिये तू हमारा सदा सखा है सखित्वसमानधर्मी सम्बन्ध सर्वतः श्रेष्ठ और उपादेय है अतः हम तेरे सदा सखा समानधर्मी बनने और बने रहने का यत्न करते रहें और तेरे समानधर्मी गुणों के विपरीत दोषों को हटाते रहें पुनः निर्दोष बन तेरी ओर झुक सकें ॥ ४ ॥

पितृकृत कर्मदोष और अज्ञानवश स्वकृत कर्मदोष परमात्म-सत्सङ्ग में अगण्य है—

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः । अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ॥५॥

(राजन् नः पित्र्या द्रुग्धानि-अवसृज). हे वरने योग्य एवं वरने वाले राजमान परमात्मन् ! हमारे पैतृक—बाप दादों के किए हुए आपके प्रति द्रोहों—नास्तिक भावों को छोड़ दो—उन्हें मेरे सम्बन्ध में न गिनो। तथा (वयं तनूभिः-या चकृम-अव 'सृज') हमने अपने अङ्गों से जो आपके प्रति द्रोह–नास्तिक भाव अपराध किए हैं उन्हें भी 'छोड़ दो न गिनो' ऐसे कि (पशुतृपं न तायुम्-अवसृज) जैसे पश्चात्तापशील चोर चोरी कर-कर पर धनान्न से पुष्ट हो किसी दैवी ठोकर से या उपदेश से पश्चात्ताप कर अपने देह को किसी जङ्गली पशु को खिला देने तक के लिये उद्यत हुआ हो वह छोड़ने योग्य होता है एवं मुझे या मेरे अपराध को छोड़ो–न गिनो। तथा (वत्सं न दाम्नः-वसिष्ठम्) बच्चा जैसे अज्ञानवश बन्धन में फंसा हुआ छुड़ाने योग्य होता है ऐसे अज्ञानवश पाप-सम्पर्क में आए अपने उपासक को सुरक्षित रख।

जो कर्त्ता है सो भोक्ता है, पिता आदि पापी थे नास्तिक थे तो होते रहें किन्तु पुत्र उनके पाप कर्म या दोष का भागी या उत्तरदायी नहीं होता है, स्वयंकृत पुण्य या आस्तिक भावना से परमात्मा को प्रेम है, उसके यहां कुल वंश का महत्त्व नहीं ध्यान नहीं किन्तु सद्गुणी पवित्र उपासक होना चाहिए वह उसे अवश्य अपनाता है अपना बनाता है। चोर भी यदि चोरी करके किसी घटना की ठोकर से या किसी के उपदेश से प्रभावित होकर अपने चौर्य कर्म पर पश्चात्ताप करे कि चोरी के धन अन्न से पुष्टि हुए पले हुए इस शरीर को कोई सिंह आदि पशु खा जावे तो अच्छा हो। इस प्रकार पश्चात्ताप में उद्यत हुए जन पर परमात्मा कृपा करता है उसके जीवन को ऊंचा उठाता है ऐसे संसार में बाल्मीकि आदि के अनेक वृत्तान्त मिलते हैं। योगदर्शन में भी व्यास-भाष्य में कहा है कि यदि कोई धर्मोपदेश सुनकर अपने कुकृत्यों पर आंखों में आंसू भर लावे तो समझो उसके कल्याल के दिवस निकट आ गए। अज्ञान-

वश व्यसनों या पापों का आचरण करने वाला जब किसी महान् पुरुष के उपदेश आदि द्वारा पश्चात्ताप कर अपने व्यसनों एवं दोषों को छोड़ देता है तो वह भी ऊंचा और महापुरुष तक बन जाया करता है। ऋषि दयानन्द के उपदेशों को प्राप्त कर स्वामी श्रद्धानन्द जी और श्री हंसराज जी महापुरुष महात्मा बन गए ॥ ५ ॥

अनर्थ या पाप के मूल कारण—

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः । अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥ ६ ॥

(वरुण सः-स्वः-दक्षः-न) हे वरने योग्य एवं वरने वाले परमात्मन् ! वह मेरा अपना स्वरूप[1] 'अनृतस्य प्रयोता' अनर्थ की ओर ले जाने वाला नहीं है। किन्तु (सा ध्रुतिः) वह प्रथम से चली आई वासना—कामवासना (सुरा) चेतनत्व से अपसारित करने वाली अचेत बनाने वाली मद्य आदि मादक वस्तु (मन्युः) क्रोध (विभीदकः) विभेदक—असम व्यवहार द्यूत आदि—अतिक्रान्त लोभ (अचित्तिः) मोह (कनीयसः-उपारे ज्यायान्) छोटे के गतिचक्र की परिधि पर रोधक बड़ा व्यक्ति—भयप्रदाता—भयकारक—भय का होना (स्वप्नः-चन-इत्) और चिन्तन—चिन्ता शोक भी 'इन सात में से प्रत्येक' (अनृतस्य प्रयोता-अस्ति) अनर्थ का प्रेरक है।

जीवात्मा स्वरूप से पवित्र है, ऋषि दयानन्द ने भी यही कहा है। यहां मन्त्र में कहे ये उक्त सात दोष मनुष्य को गिराने वाले या अनर्थ की ओर ले जाने वाले कारणरूप में बतलाए हैं जोकि "काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ भय, शोक हैं।" जिन का विवरण

---

१. "दक्ष गतौ" (भ्वादिः) गतेर्ज्ञान गमनं प्राप्तिश्च त्रयोऽर्थास्तत: प्राप्तिरर्थोऽत्र गृह्यते स च स्वरूपबोधकः, स्वरूपमिति यावत् ।

निम्न प्रकार है।

ध्रुति कामवासना—

कामवासना बडा भारी दोष है, जब यह किसी के अन्दर घर कर जाता है तो वह मनुष्य कामान्ध होकर अकार्य कर बैठता है। वेश्या आदि दुष्कर्म करने में भी उसे सङ्कोच नहीं होता है। ऋषि दयानन्द ने कहा है कि वैसे तो सभी व्यसन बुरे हैं परन्तु वेश्यागमन तो सर्वनाशकारी व्यसन है, इस से व्यक्ति का नाश वंशच्छेदन, समाज का ह्रास और राष्ट्र का भी पतन हो जाता है। घर में व्यभिचार (अनृतुगमन), परस्त्रीगमन परपुरुषगमन, बालमैथुन, हस्तमैथुन आदि इसके परिणाम हैं। कामान्ध जन कामवासना की पूर्ति में अनेक सङ्कट भोगता है जो कि धन का नाश, बन्धीगृहवास, आघात सहना, पीडा, शोक, कुलनाश, थकान, कलह, मृत्यु तक को भी प्राप्त हो जाता है, काम ज्वालारूप वेश्या में कामान्ध जन अपने यौवन और धन का स्वाहा कर देता है तथा तप, व्रत, यश, विद्या, कुलीनता, संयम, बढती हुई आयु एवं स्वास्थ्य आदि ये सद्गुण कुठार से कटी लता के समान छिन्न भिन्न और नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं [1]।

सुरा—मद्य आदि मादक द्रव्य सेवन—

यह व्यसन भी बहुत बुरा है, इससे अचेतता (मूर्च्छित हो जाना), गन्दी नाली तक में गिर जाना, कुत्तों द्वारा मुख चाटा जाना,

---

१. वधो बन्धो धनभ्रंशस्तापः शोकः कुलक्षयः।
आयासः कलहो मृत्युर्लभ्यन्ते पारदारिकैः॥
वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च॥
तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्व दमो वयः।
छिद्यन्ते वेश्यया सद्यः कुठारेण लता यथा॥

मूत्रपान तक करना, अर्द्ध चेतना में निर्लज्ज हो जाना, माता बहिन पुत्री तक का भी विचार न करना, मद्यसेवी असम्बद्ध प्रलाप करता है, अपने अङ्गों को असावधानी से फैंककर नग्न तक होकर जहां तहां अयोग्य स्थान में गिर जाता है, लेट जाता है, वस्तुओं का नाश करता है,नीच बुद्धि बन प्रलाप करता है,मद्यपान से मत्त हुआ अकार्य करने लगता है, अनादर के साथ माता के प्रति भी व्यभिचार की इच्छा करता है,मद्यपान से चित्त भ्रान्त हो जाता है भ्रान्तचित्त से पाप का आचरण करता है पापाचरण करके दुर्गति को प्राप्त होता है[1] । इसी प्रकार अन्य मादक द्रव्य के सेवन से भी मनुष्य अकार्य और अनर्थ करने लगता है । गाँजा चरस अहिफेन (अफीम) आदि व्यसन भी बहुत हानिकर हैं । इनसे भी बचना चाहिए । उक्त व्यसन से अच्छे कार्यों में अरुचि बाधा और बुरे कार्यों में प्रवृत्ति हो जाती है ।

मन्यु-क्रोध--

क्रोध के आवेश में मनुष्य अस्वाभाविक रूप में हो जाता है। अनेक अकार्य कर बैठता है, बन्धु-बान्धव के नाश पर भी तुल जाता है । अपने जन को पराया बना लेता है । क्रोधके आवेश में मनुष्य क्रोधान्ध हो जाता है, बहिरा बन जाता है । उस समय हित की बात भी अच्छी नहीं लगती, बुद्धिमान् होता हुआ भी सब पढे-लिखे को भूल जाता है । पाप कर बैठता है, गुरु तक की हिंसा पर तुल

---

१. अयुक्तं बहु भाषन्ते यत्र कुत्रापि शेरते ।
नाना विक्षिप्य गात्राणि बालका इव मद्यपाः ॥
मत्तो हिनस्ति सर्वं मिथ्या प्रलपति हि विकलया बुद्धया ।
मातरमपि कामयते सावज्ञं मद्यपानमत्तः सन् ॥
चित्ते भ्रान्ति र्जायते मद्यपानात् भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति ।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयम् ॥

जाता है। मान्य व्यक्तियों का भी कठोर वचन से अपमान करता है। माता, पिता, भ्राता, मित्र को भी क्रोधाविष्ट जन मार डालता है। अतः क्रोध को न आने दे और प्रारम्भ से उसका नियन्त्रण करे अभ्यास न पडने दे। उसका उद्रेक हो जाने पर तुरन्त शमन करे। क्रोध को शास्त्रों में महान् शत्रु तक कहा है[1]।

विभीदक-विभेदक-असम व्यवहार अतिक्रान्त लोभ द्यूत आदि--

द्यूत आदि असम व्यवहार विषमता का व्यवहार या अतिक्रान्त लोभ भी अनेक अकार्यों की ओर मनुष्य को झुका देता है। विषमता—असम व्यवहार है अतिक्रान्त लोभ से लेकर द्यूत (जूआ) पर्यन्त। लोभ तो सामान्यरूप से समान प्रलोभन का नाम है दो आने के बदले में दो आने की वस्तु लेना और देना, पौने दो आने की न लेना और सवा दो आने की न देना। परन्तु अतिलोभ है दो आने के स्थान में अढाई की वस्तु लेना या और अधिक लेना और डेढ आने की देना या और भी कम देना। अथवा जितना अपना परिश्रम है उससे अधिक पारिश्रमिक धन लेना जितना दूसरे का परिश्रम है उसे उससे कम पारिश्रमिक धन देना। तथा विना बदले के विना परिश्रम के लेना या किसी से कुछ लेकर देना ही न यह अतिक्रान्त लोभ है। यह सब विषम या असम व्यवहार है

---

१. अन्धी करोमि भुवनं बधिरी करोमि-
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति-
धीमानधीतमपि न प्रतिसन्दधाति॥
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते॥
मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्समम्।
क्रोधाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम्॥

इस में द्यूत (जूआ), उपदा (घूंस, पगडी, चोरबाजारी), चोरी, लूट, डाका भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। ये लोभ के क्रूर रूप हैं। यह असम व्यवहार भी भारी अनर्थ का कारण हैं और परस्पर हिंसा प्रहार सघंर्ष संग्राम का जनक है [1]।

अचित्ति-मोह—

मोह भी बहुत अनर्थकारी है, मोहवश जन अपने धन को लुटा देते हैं, यश को खो बैठते हैं, अपयश के भागी बन जाते हैं, लज्जाहीन हो जाते हैं प्रतिष्ठा गुमा देते हैं। अपने को मोह में फँसा निरन्तर दुःख उठाते हैं और प्राणों तक से भी हाथ धो बैठते हैं [2]।

छोटे के कार्याङ्गों का रोधक बडे का होना अर्थात् भय—

भय भी मनुष्य को सत्य और कर्तव्य से गिरा देता है तथा अनर्थ की ओर प्रेरित कर देता है, भय से मनुष्य का प्राणान्त तक हो जाता है [3]।

चिन्तन-चिन्ता-शोक—

शोक भी अनर्थ कराने वाला है, शोक में स्वास्थ्य नाश, आत्म-

---

१. द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम्।
तस्माद् द्यूत न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्॥

(महाभारत)

२. स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने।
अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद् वर्तिरार्द्राऽपि दह्यते॥

(वाल्मीकि रामायण)

३. षड्दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥
प्रभवन्ति विघाताय कार्यस्यैते न संशयः॥

(शुक्रनीति)

हत्या तक शोकातुर कर बैठता है, शोक कुछ कार्य भी नहीं करने देता है। शोक धैर्य को खो देता है, शोक से पढा-लिखा विस्मृत हो जाता है, शोक सब कुछ नष्ट कर देता है [1] ॥६॥

अनर्थ मूल या पापमूल को दूर कर अपने को योग्य बनाना—

अरं दासो न मीढुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति॥७

(अहम्-अनागाः—भूर्णये देवाय) मैं निष्पाप हुआ उस भरण पोषण करने वाले पालक परमात्मदेव के लिये (अरं कराणि दासः-न मीढुषे) दानप्रार्थी [2] जैसे अभीष्ट दाता के लिए पूर्वोक्त दोषों से अपने को पृथक् कर सद्गुणों से समर्थ योग्य बनाता है ऐसे अपने को समर्थ बनाता हूं (अर्यः कवितरः-देवः) वह जगत्स्वामी विश्वपति क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ परमात्मदेव (अचितः-अचेतयत्) अज्ञों को चेताता है (राये गृत्सं जुनाति) ऐश्वर्यरूप—परमैश्वररूप मोक्ष या ब्रह्मानन्दरूप ऐश्वर्य परमैश्वर्य के लिये अपने स्तोता—स्तुतिकर्ता उपासक को आगे बढाता है दिन प्रतिदिन उन्नत करता है ॥७॥

दोषों या पापों के कारण मनुष्य परमात्मा के प्रेम और आनन्द से वञ्चित एवं विमुख रहता है। उन दोषों का निरूपण पूर्व मन्त्र में आ चुका है वे दोष हैं सात जो कि काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, भय और शोक हैं। सो इनसे अपने को बस में करना—इनसे सर्वथा दूर होना तथा गुणवान्-सद्गुणसम्पन्न बनाना उनके विपरीत अपने अन्दर निःस्पृहता, शान्ति, नम्रता, वैराग्य, सन्तोष,

---

१. शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् ।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥

२. दासृ दाने (भ्वादिः)

मित्रभाव, प्रसन्नमुखता को धारण करके उस सुखदाता सुख के वृष्टिकर्ता देव के सत्सङ्ग का अपने को पात्र बनाना है। उसका सत्सङ्ग मानव के अन्दर विशेष बोध एवं विवेक को उत्पन्न करता है और परमात्मा अपने आश्रय में अपनी छत्रछाया में उसे मोक्ष रूप ऐश्वर्य की ओर बढाते हुए निरुपम आनन्द से आनन्दित कर देता है ॥ ७ ॥

योग्य गुणवान् सत्पात्र बनने के अनन्तर सत्सङ्गार्थ उसका स्तवन अर्थात् सत्सङ्गार्थ प्रस्ताव करना—

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रित-श्चिदस्तु । शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥

(स्वाधावः-वरुण) हे रसीले[1] वरने योग्य वरने वाले पर-मात्मन् ! (तुभ्यम्) तेरे लिये (अयं सु स्तोमः) यह अनुरागभरा स्तवन—स्तुतिवचन—गुणकीर्तन (हृदि-उपश्रितः-चित्-अस्तु) मेरे हृदय में निरन्तर उपस्थित रहे (नः क्षेमे शम्) वह हमारे रक्षा-कार्य में भी अवश्य कल्याणप्रद हो (नः-योगे शम् उ-अस्तु) हमारे प्राप्ति के कार्य में भी अवश्य कल्याणकारी हो (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम अपने कृपाकरों से सदा हमारी रक्षा करो ।

किसी भी महानुभाव के सत्सङ्ग के दो साधन होते हैं, एक तो स्वयं उसके पास जाकर सत्सङ्ग करना, उसका वर्णन तो 'उत स्वया तन्वा संवदे···' इसी सूक्त के द्वितीय मन्त्र में आ चुका जोकि शरीर को इस योग्य बनाना कि उससे परमात्मा का सत्सङ्ग हो सके। शरीर गाड़ी का कार्य करता है परमात्मा तक पहुंचने के लिये। वह चर्चा तो थी अभ्यास की अब प्रस्तुत मन्त्र में चर्चा है सत्सङ्ग के

---

१. "स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येवैतदाह" (शत० ५।४।३।७)

दूसरे साधन की जो अपने यहां श्रद्धा, आदर, स्नेह से आमन्त्रित करने की सो उस परमात्मा को हृदय में आमन्त्रित किया जाता है, इसे योग की दृष्टि में वैराग्य कहा गया है। अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध होकर परमात्मसत्सङ्ग हुआ करता है[1]। प्रस्तुत मन्त्रप्रसङ्ग में वैराग्य अपने हृदय में उस परमात्मा के प्रति उपजाना चाहिये कि हे परमात्मन् ! भोग विलासों के पङ्क में धंसकर, वासना दुःखजाल में फंसकर, या दूरदर्शिता से संसार के परिणाम को लक्ष्य कर, जब आत्मा में ग्लानि की धारा उमड़ती है, अधैर्य अशान्ति बड़ी बढ़ती है, किसी सहायक का सहाय नहीं, उलझन को कोई सुलझाय नहीं, तब हे प्रभो तेरी शरण में कोई आता है, तू फटकारता नहीं—अपनाता है, अपना दर्शनामृत पान कराता है। हे प्रभो ! मेरे हृदय के कलमश को दूर कर, पाप मल को चकनाचूर कर, उसे अपने प्रेम से भरपूर कर, मैं तेरे राग में रत हो जाऊं, तेरे प्रेम में मत्त हो जाऊं। हे रसीले प्यारे परमात्मन् ! तू मेरे अङ्ग-अङ्ग में तन्तु-तन्तु में हृदय में मन में अन्तरात्मा में अपने आनन्द रस का प्रवाह प्रवाहित कर दे, तू मेरे बाहिर-भीतर है तू ही मेरा सब कुछ हो। अपने कृपाकरों से मेरी सब ओर से रक्षा कर मैं तेरे में हूं तू मेरे में है ॥ ८ ॥



---

१. "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

(योग० १।२-३

ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ८७

ऋषिः—वसिष्ठः=उपासक (पूर्ववत)

देवता—वरुणः=परमात्मा (पूर्ववत्)

रदत् पथो वरुणः सूर्याय प्रार्णांसि समुद्रिया नदीनाम् ।
सर्गो न सृष्टो अर्वतीर्ऋतायञ्चकार महीरवनीरहभ्यः ॥ १

(वरुणः सूर्याय पथः-प्ररदत्) वरने योग्य वरने वाले परमात्मा ने सूर्य के लिये द्युलोक में मार्गों को रचा—नियत किया[1] तथा (समुद्रिया नदीनाम्-अर्णांसि) भूलोक पर समुद्र की ओर जानेवाली[2] नदियों के मूल जलों—प्रवाहों को[3] "प्ररदत्" प्रविलिखित किया उद्घाटित किया । पुनः (सर्गः-न सृष्टः-अर्वतीः) ईश्वररचित उक्त सूर्य उन नदियों के प्रति अर्जित—सञ्चित शक्तिवाले[4] घोड़ियों के प्रति वाजी—घोड़े की भांति अकेला (ऋतायन्) ईश्वरद्वारा नियत किये सत्यपथरूप नियम को चाहता हुआ—पालता हुआ (अहभ्यः-अवनीः-महीः-चकार) अपने द्वारा दिनों—दिनमानों के लिये—दिनों के प्रकाशनार्थ पृथिवियों को[5] महत्त्ववती किया बनाया—दिनप्रसववती रूप में प्रकाशित किया पृथिवी गोलों के सूर्य के सामने होने से उन पर दिन प्रकट होने लगे ॥

---

१. "रद विलेखने" (भ्वादिः)

२. 'सुपां सुलूक् पूर्वसवर्णाच्छे" (अष्ट० ७ । १ । ३४) आम्— के स्थान में आकारादेश ।

३. "अर्ण उदकनाम" (निघं० १ । १२)

४. "सर्ज अर्जने" (भ्वादिः)

५. "अवनिः पृथिवीनाम" (निघं० १ । १)

इस महान् कुशल कलाकार कृपालु दयालु परमात्मा ने अग्नि और जल परस्पर विरोधी दोनों शक्तियों—अग्निषोमात्मक शक्तियों के मूलरूप सूर्य और सूक्ष्म जलों को प्रकट किया। द्युलोक में सूर्य को मार्ग प्रदान किया और भूलोक पर जलों को बहाया। द्युलोक में रहते हुए भी अपने द्वारा दिनरूप सन्तति का प्रसार करने के लिये सूर्य भूलोकों को प्रकाशमान करता है। सूर्य तेजोरूप वीर्य को छोड़ता है जिससे पृथिवी लोकों पर दिन प्रकट होते हैं। दिन के प्रकटीभाव का स्थान पृथिवी है, द्युलोक का विकास सूर्य से और पृथिवी का विकास जल से होता है। इस प्रकार खगोल और भूगोल के ज्ञान-लाभ के साथ साथ उस वरुण परमात्मा के स्वरूप तथा रचनाकौशल का भी परिचय मिलता है कि द्युलोक और पृथिवी लोक के विकास की हेतुभूत अग्निषोमात्मक शक्तियों का विधाता परमात्मा है॥

पुनः—

आत्मा ते वातो रज आनवीनोत् पशुर्न भूर्णिर्यवसे ससवान्।
अन्तर्मही बृहती रोधसीमे विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि॥२

(वरुण) हे वरने योग्य और वरने वाले परमात्मन् (ते वातः) तेरा यह जो वात—सृजा हुआ—रचा हुआ—प्रेरा हुआ वायु है यह (आत्मा) समस्त जड़ जङ्गम जगत् का आत्मा है—जान है—प्राण है—उनकी गतिविधि और स्थिति का कारण है। वह ऐसा वायु (यवसे पशुः-न ससवान् भूर्णिः) घास प्राप्त होने पर प्रफुल्लित हुए प्रसन्न हुए[1] बैल आदि पशु की भांति भरणकर्ता आहरण कर्ता हुआ (रजः-आनवीनोत्) जल को[2] सर्वत्र अन्तरिक्ष में नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे इधर उधर गति देता है—प्रेरित करता

---

१. "सन् सम्भक्तौ" (तनादि०) सन्+क्वसुः=ससवान् उल्लास को प्राप्त हुआ।

२. "उदकं रज उच्यते" (निघं० ४। १९)

है[1] अपि च (इमे मही बृहती रोदसी-अन्तः) इन महत्त्वयुक्त बड़ी द्यावापृथिवी—द्युलोक पृथिवी लोक के मध्य में वर्तमान (ते विश्वा प्रियाणि धाम) तेरे रचे सब प्यारे धामों—पिण्डों को (आनवीनोत) इधर उधर गति देता है उनको वहन करता है ॥

ईश्वर के रचे संसार में प्रथम अग्निषोमात्मक दो शक्तियां सूर्य और जल हैं, सूर्य द्युलोक में प्रकाशमान और जल पृथिवी पर प्रवर्तमान है। द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य इन अग्निषोमात्मक शक्तियों का कार्य ईश्वर ने जैसे नियत किया इसी प्रकार तीसरी शक्ति जो यहां कही गई है वायु इसे भी ईश्वर ने रचा। समस्त जड़-जङ्गम जगत् का वायु मानो आत्मा है—प्राण है—जान है। वायु के दो कार्य यहां कहे हैं जो कि इन द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में समस्त जलों को आकाश से पृथिवी पर और पृथिवी से आकाश में गतिमान् करता गमनशील बनाता या प्रेरित करता है नीचे के जलों को ऊपर ले जाना ऊपर के जलों को नीचे लाना वायु का सुगम कार्य ऐसा है जैसे पशु नीचे के घास तृण आदि को ऊपर और ऊपर वृक्ष के डाल पत्ते नीचे आहारार्थ ग्रहण कर्ता है। पुनः भारवहन जैसा वायु का समस्त लोकों-पिण्डों को चलाता है। यह बात खगोलविद्या या ज्योतिष्-शास्त्र की है कि प्रत्येक पिण्ड वायु के आधार पर घूमता है। प्रवह, परिणाह और आवह वायुएं इन पिण्डों की गति के कारण हैं। प्रवह वायु किसी भी पिण्ड को उसी के केन्द्र पर सूर्य के सम्मुख घुमाता है, परिणाह वायु सूर्य के चारों ओर पटहा (बैल्ट) के रूप में वर्तमान हो लम्बायमान गति देता है—परिक्रमा कराता है और आवह वायु ध्रुवीय अक्ष पर घूमने का निमित्त है। इस प्रकार ईश्वर के द्वारा

---

१. "नवते गतिकर्मा" (निघं० २ । १४)

यह जगत्-रचना एक यन्त्र के समान है मशीन के बराबर है। उस यन्त्र के निर्माता तथा चालक देव की महत्ता पर ध्यान हमें अवश्य देना चाहिए, जिसके नियन्त्रण को क्या पृथिवी क्या जल क्या अग्नि क्या सूर्य क्या वायु और क्या कोई पिण्ड उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ २ ॥

अत:----

परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके ।
ऋतावानः कवयो यज्ञधीराः प्रचेतसो य इषयन्त मन्म ॥३॥

(वरुणस्य स्पशः) वरने योग्य वरने वाले परमात्मा के साथ तादात्म्य सम्पर्क करने वाले-योग को प्राप्त होने वाले[1] (ये) जोकि (स्मदिष्टाः) नितान्त सुख या श्रेयोमार्ग या अध्यात्म के इच्छुक[2] (ऋतवानः) सत्यवान्—मन वाणी कर्म से सत्याचरण करने वाले तथा सत्यतत्त्वप्रिय (कवयः) क्रान्तदर्शी-दूरदर्शी ज्ञानवान् (यज्ञधीराः) ध्यानयज्ञपरायण योगसमाधि के साधक (प्रचेतसः) सावधान-विरक्त (मन्म-इषयन्त) मननीय मन्तव्य—मन में वर्तमान प्रार्थनास्तवन वन्दन को[3] को प्रेरित करते हैं। वे महानुभाव (उभे सुमेके रोदसी परिपश्यन्ति) दोनों सुन्दर अपने रूप में एक—अकेले[4] द्यावापृथिवी-

---

१. स्पर्श संश्लेषणे" (चुरादिः)

२. "श्रुष्टी स्मत् कं जनुर्भद्रमिति सुखम्" (स्कन्द स्वामी)
स्मदिष्टाः=स्मत्-इष्टाः, स्मत्=अस्मत् "अकारलोपश्छान्दसः" (अ) स्मत्-इष्टाः=स्मदिष्टाः=आत्मरतिजनाः (ब्रह्ममुनि)

३. "मन्म मननीयम्" (निरु० ८।६) "मन्महे याच्ञाकर्मा" (निघं० ३ । १९)

४. "सुमेकः स्वेकः" (शत० १।७।२।२६) 'म्' को मुक् आगम छान्दस अथवा सु-एक सन्धि में वकार के स्थान में मकार वर्णविकार छान्दस ।

द्युलोक पृथिवीलोक को भलीभांति देखते हैं—निरीक्षण करते हैं कि यह वरुण परमात्मा का अद्भुत कौशल है।

मननशील मनीषी विद्वान् महानुभाव जब ऊपर दृष्टि उठाकर देखते हैं तो अद्भुत प्रकाशमान नक्षत्र तारों ग्रह सितारों से परिपूर्ण द्युलोक को देखकर चकित हो जाते हैं। भांति-भांति के नक्षत्रतारों का अलग अलग और श्रेणिक्रम से आना-जाना, चन्द्रमा का भिन्न भिन्न कलाओं के साथ एक मण्डल बनाकर नृत्य करते हुए से आकाश में पृथिवी की परिक्रमा करना इस प्रकार ये सब अपने अभिनायक को बतलाते हुये दृष्टिपथ होते हैं, वे दूरदर्शी दूरवीक्षण यन्त्र से जब इन्हें देखते हैं तब क्या ही कहना जो नहीं दीखते से थे वे भी दीखने लगते हैं और फिर बड़ी से बड़ी दूरबीन बनाओ तो न दीखने वाले तारे भी आकाश में दीखने लगते हैं। और भी बड़ी दूरबीन बनाओ तो अदृश्य आकाश भी तारों से भरा दीखने लगता है। इस प्रकार आकाश में तारों के आने-जाने का विश्व-विद्यालय सा चलता हुआ अपने व्यवस्थापक को बताता है तथा जब वे मनीषी महानुभाव नीचे दृष्टि डालते हैं तो पृथिवी पर नाना-प्रकार के पौधे लताएं वृक्ष, पत्ते, फूल, फल भांति भांति के पतङ्ग पक्षी, भिन्न-भिन्न रूप और आकार के पशु, सरित सागर वन पर्वत एवं खनिज धातुएं और रत्नमणि अपने निर्माता देव का निर्देश करते हैं। द्युलोक पृथिवीलोक के सौन्दर्य में परमात्मा की कला-भासित होती है कला ही सौंदर्य है। द्युलोक और पृथिवीलोक की इन सुन्दर अद्भुत वस्तुओं को देखने से परमात्मसत्सङ्ग के इच्छुकों को रुचि होती है मानो वे उनके द्वारा प्रभुकीर्तन का श्रवण कर रहे हैं और साथ साथ स्वयं भी इस जगदीश देव का स्तवनगान गा रहे हैं ॥ ५ ॥

क्योंकि—

उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिःसप्त नामाघ्न्या बिभर्ति । विद्वान् पदस्य गुह्यानवोचद् युगाय विप्र उपराय शिक्षन् ॥ ४ ॥

(विद्वान् विप्रः) उसको जानने वाले ऋषि ने (युगाय-उपराय शिक्षन्) मन को युक्त करनेवाले[1] एकाग्रमन वाले तथा उपराम[2] अर्थात् वैराग्य को प्राप्त हुए मुझको शिक्षा देते हुए (पदस्य गुह्यानवोचत्) प्रापणीय ब्रह्म एवं मोक्ष के रहस्यों को जैसे बतलाया-समझाया था (वरुणः) वरने योग्य वरने वाले परमात्मा ने (मेधिराय मे-उवाच) अरे लोगो ! मैंने भी उसकी स्तुति प्रार्थना उपासनाकी है अतः मुझ समागमवान् प्रभुसङ्गस्वभाववान् के लिए[3] वैसे ही बतलाया है कि (अघ्न्या त्रिःसप्त नाम बिभर्ति) वाक्-वाणी वेदवाणी[4] त्रिः सप्त' तीन-स्तुति प्रार्थना उपासना रूप तीन स्थानों में-तीन अभिप्रायों में सात-गायत्री आदि छन्दों-मन्त्रों में वर्तमान नाम धारण करती है। इससे उसके सत्सङ्ग का प्रकार जानना चाहिए।

विश्वरचयिता परमात्मा अपने सत्सङ्ग के इच्छुक को घोषित करता है कि वेदरूप जो मेरी वाणी है वह गायत्री आदि छन्दोंयुक्त मन्त्रों द्वारा मेरी स्तुति प्रार्थना उपासना को बतलाती है। वेद से परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना का सच्चा प्रकार मिलता है उसे

---

१. "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (अष्टा० ३।१।२।१३५)
युगधातोः कर्तरि कः प्रत्ययः।
२. "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" (अष्टा० ३।२।१०१)
उप रम्-डः प्रत्ययः, उपरः-तस्मै-उपराय।
३. मेधृ सङ्गमे" (भ्वादि०) मेध्+किरच् ताच्छीलिकश्छान्दसः।
४. "अघ्न्या पदनाम" (निघं० ५।५) माध्यमिकावाक्-इति दुर्गाचार्यः।

जानकर उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना करना उसके सत्सङ्ग का उपाय है। वेद के ज्ञाता ऋषि से उस प्रापणीय परमात्मा के तथा मोक्ष के रहस्यों का परिचय भी करना चाहिए, परन्तु ऐसे विद्वान् से उक्त शिक्षा की प्राप्ति तब ही हो सकेगी या वे दे सकेंगे अथवा हम लाभ उठा सकेंगे जब कि हम योगाभ्यास से मन स्थिर करने में यत्नवान् तथा वैराग्यवान हों। अनभ्यासी और अवैराग्यवान उससे वञ्चित रहते हैं यह निश्चित है अतः दीर्घकाल निरन्तर तप, विद्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के साथ अभ्यास का सम्पादन कर और वैराग्यवान् हो स्तुति प्रार्थना उपासना का अनुष्ठान करे ॥ ४ ॥

पूर्वोक्त द्युलोक और भूलोक तथा सूर्य के सम्बन्ध में उक्त तत्त्ववेत्ता मनीषी महानुभाव की दृष्टि--

तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः। गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेंखं हिरण्ययं शुभे कम् ॥ ५ ॥

(अस्मिन्-अन्तः) इस वरने योग्य वरने वाले परमात्मा के अन्दर (तिस्रः-द्यावः-निहिताः) तीन प्रकार के द्युलोक पिण्ड रखे हैं, वे तीन द्युमण्डल प्रकाशमण्डल हैं जो उत्तर, मध्य, दक्षिण के भेद से अन्यत्र वेद में कहे गए हैं जिनमें मध्य का द्युमण्डल तो सवितृमण्डल है जिसमें सविता अर्थात् सूर्य 'पृथिवी की गति से' गति करता हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु दो द्युमण्डल—प्रकाशमण्डल सविता—सूर्य के उपस्थ अर्थात् आस पास में इधर उधर कक्षभागों में—उत्तर दक्षिणपार्श्वों में हैं, जिनमें से एक विराषाट्—गतिधाराओं की सहनकरने वाली द्यौः या गतिप्रवाह का सङ्गम प्रकाशमण्डल यम के भुवन अर्थात् दक्षिण गोलार्द्ध में है और दूसरा उत्तर गोलार्ध में है

यह अर्थापत्ति से आया[1]। इस प्रकार तीनों द्युमण्डल परमात्मा में रखे हैं (तिस्रः-भूमीः-उपराः षड्विधाना) तीन भूमियां तीन पृथिवी-प्रदेशों--पृथिवी लोक के जो तीन भाग हैं वे एक के ऊपर दूसरे के क्रम से धरे हुए हैं जो कि पांसु, आश्मा, शिला[2] हैं। तथा षड्विधान—छः विधानवाली नैसर्गिक छः सीमाबद्ध प्रदेशोंवाली—नैसर्गिक छः सीमाओं से छः द्वीपवाली जिन छः के पुनः विद्वानों ने सात द्वीप बना लिए हैं। और (गृत्सः-राजा वरुणः) स्तुत्य—स्तुति करने योग्य सर्वत्र राजमान वरुण परमात्मा ने (एतं हिरण्ययम्) इस सुनहरे सूर्य को (शुभे कम्) प्रकाश के निमित्त—प्रकाशनार्थ सुखकर (दिवि प्रेङ्खं चक्रे) द्युलोक में पूर्व पश्चिम दिशाओं में उदय अस्त व्यवहार करता हुआ दोला--झूला सा बनाया है ॥

उस विश्वकर्मा परमात्मदेव के रचे द्युलोक और पृथिवी लोक बड़े अद्भुत हैं। द्युलोक यही तो है जो ऊपर आकाश में प्रकाशमान नक्षत्रतारामण्डल है। यह मण्डल तीन विभागों में है—एक तारा-मण्डल तो सूर्य की दृष्ट गतिविधि से सम्बन्ध रखने वाला खगोल-मध्य का तारामण्डल है, दूसरा खगोल के दक्षिण गोलार्द्ध का दक्षिण ध्रुव से सम्बन्ध रखने वाला है, तीसरा उत्तरगोलार्द्ध का उत्तर ध्रुव से सम्बन्ध रखने वाला है। पृथिवी लोक--पृथिवी पिण्ड के भी एक दूसरे के ऊपर उपगत-सहारे पांसु-धूल मिट्टी, अश्मा—पत्थर धातु रत्न मणि, शिला—चट्टान भाग हैं। तथा नैसर्गिक छः द्वीप पर्वतों और महती नदी समुद्रों से विभक्त हैं। यह खगोल और

---

१. "तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्। आणि न रथ्यममृताधितस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्" (ऋ० १। ३५। ६)

२. "शिला भूमिरश्मा पांसु सा भूमिः संधृता धृता" (अथर्व १२। १। २६)

भूगोल ईश्वर के रचे अनोखे हैं, साथ ही उस प्रभु ने सूर्य को प्रकाश के प्रसारार्थ द्युलोक में उदयदिशा और अस्तदिशा को आता जाता हुआ सुन्हेरा सुखकर झूलना सा बना दिया है यह उसकी महती कला है। उसकी इस विचित्र कला को देख उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना करनी चाहिए ॥५॥

तथा—

अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थाद् द्रप्सो न श्वेतो मृगस्तुविष्मान्। गम्भीरशंसो रजसो विमानः सुपारक्षत्रः सतो अस्य राजा ॥६॥

(वरुणः) वरने योग्य वरने वाला परमात्मा (सिन्धुम्) स्यन्दनशील–चलन शील संसार नदी को[1] या संसार सागर को तथा जीवात्मा के बन्धनस्थान[2] जगत् को (द्यौः-इव-अवस्थात) त्रिलोकी में ऊपर द्युलोक की भांति अपने पादस्थानीय उक्त जगत् में अवस्थित है। जैसे अन्यत्र वेद में कहा है कि तीन पादरूप परमात्मा ऊपर है और पुनः एक पादरूप यह जगत् है[3] तथा यह जगत् तो उसकी महिमामात्र है वह परमात्मा इससे महान् है[4]। परमात्मा जगत् के बाहिर होता हुआ जगत् में भी व्यापक है और जगत् में व्यापक होता हुआ उससे बाहिर भी महान् अनन्त है। यहां द्युलक से उपमा का अंश ऊर्ध्वता तथा महत्ता है। पुनः (द्रप्सः-न श्वेतः) मध्य

---

१. अन्यत्र वेद में भी कहा है "अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरत सखायः" (ऋ० १०।५३।८)

२. "एतेनेदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धुः" (जै० उ० १।२६।६)

३. "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः" (यजु० ३१।४)

४. "एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः" (यजु० ३१।३)

आकाश में प्राप्त या मध्याह्नगत सूर्य जैसा[५] शुभ्र होता है ऐसा वह परमात्मा शुभ्र है जैसे अन्यत्र वेद में योगी की अनुभूति में कहा है कि सूर्य समान प्रकाशवान् महान् परमात्मा को मैं जानूं[६]। तथा (मृगः-तुविष्मान्) व्याघ्र की भांति पराक्रमवान् है 'यहां लुप्तोपमालङ्कार है, समस्त जगत् को अपने पराक्रम में रखे हुए है। और (गम्भीरशंसः) महती प्रशंसा जिसकी होनी चाहिए—महती प्रशंसा योग्य[७] (रजसः-विमानः) लोकमात्र का निर्माता तथा धारक[८] (सुपारक्षत्रः) उपासकों को दुःख से भली भांति पार करने की सामर्थ्यवाला है, ऐसा परमात्मा (अस्य सतः-राजा) इस विद्यमान जगत् का राजा है—स्वामी है॥

यह संसार नदी के समान प्रवाहित हो रहा है निरन्तर चलायमान है या दोलायमान सागर के सदृश है तथा जीवात्माओं का बन्धनरूप जाल जञ्जाल है। परन्तु इसको स्तम्भित करने वाले या जीवात्मा का पाशमोचन करने वाले वरुण नामक परमात्मदेव के यह अधीन है, उसके सम्मुख तुच्छ है इसके ऊपर वह देव महत्सत्तावान् है त्रिलोकी में द्युलोक के तुल्य महान् है। जिस पृथिवी लोक पर हम रहते हैं इसे चौबीस सहस्र मील का गोला कहा जाता है, इससे बडा अन्तरिक्ष लोक है पुनः उससे भी बडा द्युलोक है। यह सब प्रकाशमान नक्षत्रतारामण्डल ही तो द्युलोक है जिसमें अनन्त ग्रहतारे नक्षत्र सितारे भरे पड़े हैं परन्तु वह वरुण तो इससे भी ऊपर महान् है सूर्य के समान शुभ्र प्रकाशमान है, समस्त

---

५. "असौ वा आदित्यो द्रप्सः" (शत० ७।४।१।२०)

६ "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णम्" (यजु० ३१।१८)

७. "गम्भीरं महान्तम्" (शत० ३।६।४।५)

८. "लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरु० ४।१९) "इमे वै लोका रजांसि" (शत० ६।३।१।१८)

प्रकाशमान पिण्डों में सूर्य का प्रकाश सर्वाधिक प्रचण्डप्रकाश है। किन्तु वरुणदेव परमात्मा तो उसका भी प्रकाशक होने से महाप्रकाशमान है तथा महापराक्रमवान् भी है। इस प्रकार आकार में अनन्त, प्रकाश में अनन्त, पराक्रम में अनन्त होते हुए एवं अन्य समस्त गुणों से महान् गुणवान्, समस्त लोकों का रचयिता होने से महान् रचयिता समस्त जगत् का धारक होने से महान् धर्ता वह परमात्मा समस्त जड़ जङ्गम जगत् का राजा अपने उपासक को दु:खों से नितान्त पार करने वाला होने से सदा शरण्य है ॥६॥

अपितु—

यो मृलयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः । अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

(यः-आगः-चक्रुषे चित्-मृडयाति) जो वरने योग्य तथा वरनेवाला परमात्मा पाप कर चुकनेवाले के लिये भी सुख देता है उसके जीवननिर्वाह की वस्तुएं प्रदान करता है। तब (वयम्-अनागाः) हम निष्पाप उपासक (अदितेः-व्रतानि-अनु) अखण्डसुखसम्पत्ति मुक्ति के व्रतों—सत्कर्मों का अनुसरण कर (ऋधन्तः-वरुणे स्याम) उन्नत होते हुए ऋद्धि-समृद्धि से युक्त होते हुए वरने योग्य वरनेवाले तुझ परमात्मा में विराजमान हो जावें अतः (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम कल्याणकरों से सदा हमारी रक्षा करो॥

परमात्मा महान् दयालु कृपालु है उसके समान कौन दयावान् और कृपावान् हो सकता है? भला जो पाप करने वाले पर भी कृपा करता है पापी को भी श्वास लेने को वायु, देखने को प्रकाश, पीने को जल और खाने को अन्न देता है सब कुछ एक जैसा समान देता है, उसके दान में प्रथम मध्यम अधम श्रेणियों का विभाग नहीं जैसा कि मानवरूप राजा के बन्दीघरों में भेद से भोजन आदि प्रदान

किया जाता है। अपितु पापी और निष्पाप जन को भौतिक वस्तु का सुख तो समान प्रदान करता है। पुनः ऐसे कृपालु दयालु की अनुकूलता में आदेश में सङ्ग में रहें पापाचरण न करें तो निश्चय उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहे फिर तो सुखसम्पत्ति में विशाल निहाल कर ही देगा तथा अभौतिक दिव्य सुख से तो पूर्णरूप से महासम्पत्तिमान् मालामाल बना देगा। भौतिक सुखों में भी दिव्य सुखों की अनुभूति होगी और क्रमशः मुक्तिरूप परमानन्द की ओर बढते हुए उसे प्राप्त कर सकेंगे। धन्य हो ऐसे वरुणदेव अन्तर्यामिन् प्रभो परमात्मन् ! तुझे कोटिशः धन्यवाद और प्रणाम ॥७॥



ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ८८

ऋषिः—वसिष्ठः=उपासक (पूर्ववत्) ।

देवता—वरुणः=परमात्मा (पूर्ववत्) ।

प्र शुन्ध्युवं वरुणाय प्रेष्ठां मतिं वसिष्ठ मीह्लुषे भरस्व । य ईमर्वाञ्चं करते यजत्रं सहस्रामघं वृषणं बृहन्तम् ।।१।।

(वसिष्ठ) 'प्रभुसंग का इच्छुक उपासक अपने को सम्बोधन करके कहता है कि, ओ प्रभु में अतिशयवासकरनेवाले उपासक ! तू (मीढुषे वरुणाय) अमृत सुख एवं दर्शनामृत का सिञ्चन करने वाले वरणीय वरणकर्ता परमात्मा के लिये (शुन्ध्युवं प्रेष्ठां मतिं प्रभरस्व) पवित्र-निर्दोषभावना वाली पवित्र करने वाली हीन भावो से रहित सदाचरण का सेवन करते हुए पाप करने से पृथक् रखने वाली । और अतिप्रिया—हार्दिकी मनवाणी की एकता से संयुक्त प्रदर्शनरहित आस्तिकता श्रद्धा से पूर्ण स्तुति को भेंटरूप प्रस्तुत कर । इस कारण कि (यः) जो वरने योग्य वरनेवाला (यजत्रम्) यज्ञिय—संगमनीय निज अन्तरात्मा में प्रापणीय [1] (सहस्रमघम्) बहुत धन से युक्त बहुतधन-समान बहुमूल्य[2] (बृहन्तम्) प्रचुर (वृषणम्) शान्तिवर्षक दर्शनामृत को (ईम्) मेघजल की [3] भांति [4] (अर्वाञ्चं करते) इधर करता है मुझ उपासक की ओर कर देता है ।।

---

१. "यजत्रमिति यज्ञियमिति" (शत० ६।६।३।६)

२. "सहस्रं बहुनाम" (निघ० ३।१)"मघं धननाम" (निघं०२।१०)

३. यहां वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

४. "ईम्-उदकनाम" (निघं० १।१२)

निज दर्शनामृत के सिञ्चनकर्ता वरने योग्य वरने वाले परमात्मा के लिये पवित्र एवं पवित्र करने वाली अत्यन्त प्रिया सरल हार्दिक श्रद्धामयी आस्तिकतापूर्ण स्तुति भेंट करनी चाहिए यह स्तुति अपने लिये हीन भाव से रहित और पापाचरण से पृथक् कराने वाली अपितु पुण्यप्रवृत्ति कराने वाली और प्रदर्शनरहित आन्तरिक भाव से पूर्ण आस्तिकता सर्वत्र ईश्वर की मान्यता से युक्त श्रद्धा से पूर्ण करनी चाहिये ऐसी भेंट का फल है वह ऐसे अपने उपासक के अन्तरात्मा में प्राप्त होने योग्य बहुमूल्य महामघ अतीव शान्तिवर्षक अपने दर्शनामृत को मेघजल के समान बरसा देता है। अतः वेद से उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना के प्रकार और विधान का श्रवण करके मनन निदिध्यासन साक्षात्कार भी करना चाहिए जो मानव जीवन का परम ध्येय है। अतः—

अधा न्वस्य सन्दृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि।
स्वर्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोभि मा वपुर्दृशये निनीयात्॥२

(अध नु) अब तो (अस्य) इस वरुण परमात्मा की (सन्दृशं जगन्वान्) छवि—झांकी को मैंने पा लिया है। जब कि (अग्नेः-अनीकं वरुणस्य मंसि) मैंने अग्नि के बल—तेज—प्रकाश को वरुण परमातमा का मान लिया—जान लिया क्योंकि उसी की ज्योति से सब कुछ चमकने वाला चमकता है[1]। यह एक मनन की बात है अग्निमात्र में—पार्थिव अग्नि में वैद्युत अग्नि में सौर अग्नि में जो तेज है प्रकाश है परमात्मन्! वह तेरी छवि है—झांकी है, इससे भी आगे (यत्) जब (अश्मन्-अन्धः-अधिपाः-उ) शिला पर पिसा तैयार सोमरूप है उसके[2] खूब पानकर्ता की भांति[3] मेरे

---

१. "तस्य भासा सर्वमिद विभाति" (कठो० ५।१५)
२. "अन्ध आध्यानीयं भवति--आसमिन्धतामत्रैयंददनीयमन्धः" (निरु० ५।२) "अन्धसस्पते सोमस्य पते" (शत० ६।१।१।२४)
३. यहां लुप्तोपमालङ्कार है अथवा यहां 'उ' उपमार्थ में छान्दस प्रयोग है।

निदिध्यासन रूप या दृढ भूमि [४] अभ्यासरूप शिला पर उपासना-रूप तथा जप और अर्थभावनरूप पिसे-घुटे-छनेरूप सोमरस का खूब पान कर चुके वरुण परमात्मा (स्वः-वपुः) स्वर—अपने में रमण करने वाले रूप—स्वाधीन सुखस्वरूप को[५] (दृशये मा-अभि-निनीयात्) दिखाने के लिये मुझे अपनी ओर लेता है—आलिङ्गित करता है।

श्रवण से ईश्वर के प्रति विश्वास होता है यह केवल आस्तिक-भावना मात्र है ईश्वर का ज्ञान नहीं है। किन्तु जब अग्नि जैसे दिव्य पदार्थ पार्थिव अग्नि, विद्युत्, सूर्य आदि को मनन की दृष्टि से देखते हैं तो इन सब में उस प्रकाशक की छवि या झांकी सामने आती है जैसा कि वेद में अन्यत्र ईश्वर की ओर से कहा है-"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७) यह जो सूर्य में प्रकाशमान पुरुष है सो वह मैं हूं ओ३म् व्यापक ब्रह्म। परन्तु मनन से आगे निदिध्यासन अर्थात् दीर्घकाल निरन्तर तप ब्रह्मचर्य श्रद्धा विद्या से सेवन किये हुए दृढ भूमि बने अभ्यास रूप शिलाखण्ड पर पिसे छने तैयार उपासनारूप एवं ओ३म् के सार्थक जपानुष्ठान रूप सोमरस को पान करने पर मेरा वरने योग्य वरने वाला परमात्मा अपने आनन्दरूप अमृतदर्शन देने को मुझे अपनी ओर लेता है—आलिङ्गन करता है। यह इस प्रकार निदि-ध्यासन के अनन्तर उसका आलिङ्गन करनारूप साक्षात्कार ऐसा ही है जैसे कि माता की गोद में आना चाहता हुआ बच्चा जब तक अपना पूरा प्रयत्न माता की गोद का कर नहीं लेता तब तक

---

४. "स्थिरो वा अश्मा" (शत० ६।१।२।५) "दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारा-सेवितो दृढभूमिः" (योग० १ । १४) "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योग० १।२८)

५. "वपुः रूपम्" (निघं० ३।७)

वह आलिङ्गन नहीं करती, जब पूरा प्रयत्न कर लेता है तो आलिङ्गन करती है। परमात्मा हमारी माता है सच्ची माता है, वह यदि आलिङ्गन कर ले तो फिर समझना चाहिए कि हमारे सब बन्धन कट गए सब कष्ट मिट गए हम मुक्त हो गए उसके परमानन्द में विराजमान हो स्वतन्त्र हो गए ॥२॥

पुनः

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्रयत्समुद्रमीरयाव मध्यम् । अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ॥३॥

(यत) उपासना द्वारा प्रसन्न हुए वरुण परमात्मा ने अपने दर्शन देने को मुझे अपनी ओर ले लिया—आलिङ्गन कर लिया तब हम दोनों ऐसे साथी बन गए कि मानो समुद्र के वक्षःस्थल के ऊपर एक ही नौका पर हम दोनों विराजमान हैं तब जब (वरुणः-च नावम्-आरुहाव) मैं और मेरा वरने योग्य वरने वाला प्यारा परमात्मा हम दोनों नौका पर चढ़े हैं 'वह तो पूर्व से ही चढा हुआ था मुझे भी जब उसने चढा लिया' फिर (यत् समुद्रं मध्यं प्रेरयाव) जबकि समस्त समुद्र के अन्दर उसे चलाते हैं और (यत्) जब (अपां स्नुभिः-अधिचराव) जलों के प्रस्रवणों-तरङ्गों के साथ अधिचरण करते हैं—उन पर अवगाहनरूप खेल करते हैं। तो ऐसा लगता है मानो (शुभे प्रेङ्खे कं प्रेङ्खयावहै) सुन्दर झूले में सुख का झूलना झूल रहे हैं।

श्रवण मनन निदिध्यासन के अनन्तर परमात्मा का साक्षात्कार होता है। यह क्रम परमात्मा के दर्शन या मेल का है। निदिध्यासन दृढ भूमिरूप अभ्यास से सम्पादित एवं ओ३म् के सार्थक जप को भावित करने रूप उपासना से प्रसन्न हुआ परमात्मा अपने साक्षात

दर्शनार्थ उपासक को अपनाता है---अपनी ओर लेता है—आलिङ्गन करता है और पूर्ण रूप से सखा बनाता है। संसार में जैसे मित्र मित्र के साथ विहार करता है उसी प्रकार का अनन्य मित्रभाव परमात्मा के साथ भी उपासक का हो जाता है। संसार में जैसे मित्र मित्र के साथ एक नौका पर सवार हो जल का अवगाहन जल की मौजों के साथ मौज करते हैं। यहां भी वेद ने अलङ्कार से ऐसा ही चित्र खींचा है ऐसा ही दृश्य दिखलाया है। समुद्र यहां संसार है इसके वक्षःस्थल पर ऊपर-ऊपर तैरने वाली नौका यहां मोक्षपदवी है। इस नौका में परमात्मा तो प्रथम से ही विराजमान था उसके नित्य मुक्त होने से परन्तु आत्मा भी उसका उपासक बन कर उस मोक्षपदवीरूप नौका पर सवार हो ही गया और परमात्मा ने भी इसे अपनी नौका में साथ बिठा ही लिया। अब क्या था ? परमात्मा तो प्रथम से ही पूर्णानन्द था उसे तो आनन्द की आवश्यकता न थी पर जीवात्मा तो आनन्द लेने का उत्सुक और अभ्यासी था तब इसको तो आनन्द देना ही था और इसे भी तो आनन्द लेना ही था। तब जीवात्मा ने मोक्षपदवी रूप नौका में बैठ उस परमात्मा के सहयोग से संसार सागर के ऊपर ऊपर अव्याहत गति से विहार करना आरम्भ कर दिया, अब इस सागर में डूबने का भय नहीं, डूबना तो दूर रहा इसकी तरङ्गों के थपेड़े भी नहीं लग सकते अपितु यह नौका तो निराली ही है, जल पर तैरती हुई जल के सम्पर्क से सर्वथा परे है। या यों कहिये यह नौका काठ की नौका नहीं किन्तु दिव्य नौका है जिसकी गति स्थल जल गगन में सर्वत्र है और समान है विना रुकावट के है। सब जगह चलती हुई भी सम्पर्क किसी से भी नहीं रखती, वाह रे ऐसी अद्भुत नौका॥ ३॥

अहो आश्चर्य कि—

वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः । स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन् यादुषासः ॥ ४ ॥

(वरुणः) वरने योग्य वरने वाला परमात्मा (ह) आश्चर्य (वसिष्ठम्) अपने अन्दर अतिशय वास करने के अधिकारी उपासक जीवात्मा को (नावि-आधात्) मोक्षपदवीरूप—मुक्तिरूप नौका में अपने साथ बिठा लेता है (स्वपाः-विप्रः स्तोतारं महोभिः-ऋषिं चकार) सुकर्मा[1] सत्यकर्मा सृष्टि के उत्पादन कर्म और जीवात्माओं के लिये कर्मफल प्रदान कर्म के यथार्थकर्ता, ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा अपने स्तोता को महत्त्वपूर्ण गुणों से संसार में ऋषि बना देता है—अन्य साधारणजनों में ऊंचा कर देता है। तथा (अह्नां सुदिनत्वे) उपासक की आयु के दिनों का सुदिनत्व लाने के निमित्त—मुक्ति समय लाने के लिये (द्यावः-ततनन् नु-यात्-उषासः-यात्) दिनों को[2] तानता हुआ तथा रात्रियों को[3] भी तानता हुआ वस्त्र थान में ताने बाने के समान विस्तृत करता हुआ ले जाता है[4] अर्थात् लम्बी आयु करता है—दीर्घ जीवन देता या आयु के दिन रातों का सम्पादन करता है ॥

परमात्मा अपने सच्चे उपासक को मुक्ति में अपने समागम का आनन्द लाभ तो देता ही है साथ में संसार में उसे अन्य मनुष्यों के मध्य ऋषि बना देता है। उसमें ऐसे गुणों का आधान कर

---

१. ईश्वर 'स्वपाः-सुकर्मा' है यह अन्यत्र वेद में भी कहा है "स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान । उर्वी गभीरे सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत्" (ऋ० ४।५६।३)

२ "द्युः-अहर्नाम" (निघं० १।८) "द्युभिः अहोभिः" (निरु० ६।१)

३. "रात्रिर्वा उषाः" (तै० ३।८।१६।४)

४. यात् – अन्तर्गतणिजर्थः ।

देता है जिससे लोग अपने से विलक्षण ऊंचा ऋषि मानें—जानें। यह दूसरा लाभ या फल परमात्मा के सच्चे उपासक को होता है उसकी बुद्धि प्रखर हो जाती है तथा दूरदर्शी तत्त्वदर्शी बन जाता है। तीसरा लाभ यह होता है कि उसको संसार का सच्चा सुख भी मिलता है उसकी आयु के दिन रात लम्बे हो जाते हैं—वह दीर्घ जीवन को प्राप्त होता है। इस प्रकार वह शारीरिक मानसिक आत्मिक सुखलाभ लेता हुआ मोक्ष का भागी बनता है, क्या यह थोड़ा लाभ है ? मनुष्य शरीर के छोटे-छोटे सुखलाभ के लिये भी अनेक पापड़ बेलता रहता है बड़ी दौड़ धूप करता रहता है अनेकों की चाटुकारिता कर कर खिन्न भी हो जाता है तब कहीं वह सुख-लाभ मिल पाता है पर वह भी कुछ क्षणों के लिये, किन्तु यावज्जीवन मानसिक तो क्या शारीरिक सुख भी उसके पास फटकता तक नहीं आत्मिक शान्ति की तो कथा ही क्या ? परन्तु प्रभु का सच्चा उपासक शारीरिक मानसिक सुख लाभ के साथ आत्मिक शान्ति का तो वह धनी बन जाता है ॥ ४ ॥

भला यह तो बतला—

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित् ।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥५॥

(स्वधावः-वरुण) हे आनन्दरसपूर्ण रसीले[1] वरुण परमात्मन् ! (नौ त्यानि सख्या क्व बभूवुः) हम दोनों के वे सखिभाव—समान-ख्यान—समान संश्लेषसम्बन्ध कहां चले गए (पुरा चित्-यत्-अवृकं सचावहे) पहिले जो अभिन्न अच्छिन्न सखिभाव थे उन पुरातन अच्छिन्न सखिभावों को फिर हम दोनों सेवन करें—बनायें (ते) तेरे (बृहन्तं मानं सहस्रद्वारं गृहं जगम) महान् मानकारी—मापने

---

१. "स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येतदाह" (शत० ५।४।३।७)

वाले—संसार जिसके सम्मुख तुच्छ है ऐसे बहुत द्वारों वाले—असंख्य द्वारों वाले—खुले घररूप मोक्ष को प्राप्त होऊं यह पुनः आकांक्षा है ॥

जब मनुष्य दुर्भावनाओं से दूर होकर परमात्मा की सच्ची उपासना द्वारा परमात्मसत्सङ्ग करता है तो उपासनासमय परमात्मा के और अपने बीच में अभिन्न सखिभाव—मोक्ष सहवास का स्मरण करता है—प्रभु के अनुराग में अनुरक्त हो आन्तरिकवृत्ति से उल्लासरूप या हर्षरूप आलाप करने लगता है कि मेरे रसीले आनन्दरसपूर्ण परमात्मन्! वे पुराने मित्रभाव समान समागमसम्बन्ध कहां चले गये उन्हें फिर से प्राप्त कर पाऊं कुछ ऐसी कृपा करो, पुनः उस महान् विशाल स्वातन्त्र्यपूर्ण अव्याहतगति से विचरणसदन मोक्षरूप घर में मैं पहुंचूं। मैं और तू तो शाश्वतिक सखा हैं मित्र हैं। एक मित्र का दूसरे मित्र के घर में पहुंचना तो स्वाभाविक है। हां जब तक मैं संसार में रहूं शरीर में रहूं तब तक तू मेरे घर में शरीर में हृदय में मुझे सचेत करता हुआ वास कर, यह घर तेरे लिये छोटा है पर मुझे तो इस घर का अभिमान है तथापि मैं इस आभिमानिक घर में तंग हूं बद्ध हूं सचमुच इसमें से बाहिर निकल भागने को द्वार नहीं है परन्तु तेरे मोक्षरूप विशाल स्वतन्त्र खुले घर में आना चाहता हूं तेरे मित्रभाव का पूर्ण आनन्द पुनः प्राप्त करना चाहता हूं अपने उस मुक्तिधाम में मुझे पुनः साथ लेकर अपने परम आनन्द से परितृप्त करें यह आकांक्षा है इसे पूरी करें ॥ ५ ॥

विज्ञप्तिः—यहां मुक्ति से पुनरावृत्ति का सिद्धान्त स्पष्ट होता है। हां यह ठीक है कि—

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वामागांसि कृणवत्सखा ते। मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥ ६ ॥

(वरुण) हे वरने योग्य वरने वाले परमात्मन् ! (यः) जो यह मैं उपासक (ते) तेरा (नित्यः) शाश्वतिक सदा से (आपिः) तुझे प्राप्त करने का स्वभाव रखने वाला[1] तुझसे सम्बन्ध जोड़ने वाला सम्बन्धी तथा (प्रियः) प्यारा (सखा) समानधर्मी मित्र (सन्) होता हुआ (त्वाम्-आगांसि कृणवत्) तेरे प्रति अपराधों को कर बैठा—तेरे आदेशों का उल्लङ्घन कर बैठा, यह मैं समझ गया जो कि तेरी शरण तेरा सङ्ग छोड़कर संसार में भटकना बन्धन में आना पड़ा (यक्षिन्) हे पूजा अर्चना के पात्र मेरे पूजनीय देव ![2] (मा-एनस्वन्तः-ते भुजेम) हम पापवान्—पापी न होकर—निष्पाप होकर तेरे ऐश्वर्य तेरे सत्सङ्गरूप आनन्द का भोग करें अर्थात् अब हम निश्चित पाप से अपराध से परे रहेंगे तेरे सङ्ग का आनन्द लेंगे यह दृढ़ सङ्कल्प है। अतः (विप्रः) विशेष प्रीति करने वाला कृपालु दयालु होता हुआ तू (स्तुवते वरूथं यन्धि-स्म) स्तुति करते हुए मुझ अपने उपासक सखा के लिये दुःख निवारक वरणीय मोक्ष रूप घर को[3] प्रदान कर जैसे प्रदान करता रहा।

मेरे वरने योग्य वरने वाले परमात्मन् ! मैं तो तेरा सदा से शाश्वत काल से तेरी प्राप्ति का इच्छुक तेरा सम्बन्धी बन्धु रहा और तू भी तो मुझसे प्यार करता रहा, मैं तेरा प्यारा मित्र बना रहा, परन्तु अपनी अल्पज्ञता के कारण तेरे आदेशों का उल्लङ्घन करके मुझे तुझ से अलग होना पड़ा संसार में भटकना शरीर के बन्धन में आना पड़ा। मैं अपने इस अपराध को अनुभव करता हूं अब आगे अपराध न करूंगा किन्तु निरपराध होकर फिर तेरे सङ्ग का आनन्द भोगूंगा। यह सिद्ध है कि अपराध करने वाला तेरे सङ्ग

१. "आप्लृ लम्भने" (चुरादि०)
२. "यक्ष पूजायाम्" (चुरादि०) कर्मणि णिनिश्छान्दसः।
३. "वरूथं गृहनाम" (निघं० ३।४)

नहीं बैठ सकता मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं कर सकता, पर तू तो महान् कृपालु है। जब मैंने यह निश्चय कर लिया कि अब कोई अपराध या पाप न करूंगा तब से हे कृपासिन्धो तेरी कृपावृष्टि मुझ पर होनी आरम्भ हो गई अब क्या कहना मुझे पूर्ण आशा है कि अब मुझ निष्पाप हुए अपने स्तुतिकर्ता उपासक को तू मेरे प्यारे परमात्मन्! अपनी शरण देगा मोक्षरूप घर में अपने साथ आलिङ्गित करेगा। यह तेरी उदारता है जो पाप कर चुकने वाले को भी निष्पाप हो जाने पर उसे तू अपना लेता है और निष्पाप बने रहने के सङ्कल्प पर दृढ़ रहने की शक्ति प्रदान करता है॥ ६॥

परन्तु अब तो नाथ—

ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्यस्मत्पाशं वरुणो मुमोचत्। अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ७॥

(आसु ध्रुवासु क्षितिषु क्षियन्तः) इन निचली भूमियों[1] स्थितियों में रहते हुए हम (त्वा) तुझ स्तुत्य प्रार्थनीय की स्तुति प्रार्थना करते हैं[2] कि (वरुणः-अस्मत् पाशं विमुमोचत्) आप वरने वाला होता हुआ हमें अपनाता हुआ हमसे इस पाश को हटा दो खोल दो, जिसके कारण भिन्न-भिन्न नीच स्थितियों में हम पड़े हुए हैं (अदितेः-उपस्थात्-अवः-वन्वानाः) आप अखण्डसुख सम्पत्तिरूप मुक्ति के उपस्थ हैं—पीठ हैं—आश्रय हैं[3] आधार हैं आपसे रक्षा को सेवन करते हुए हम अन्त में मुक्ति को प्राप्त करें। अतः (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) आप अपनी कल्याण कृपाओं से हमारी रक्षा करें॥

१. "क्षितिः पृथिवीनाम" (निघं० १।१)

२. स्तुम इति सायणः।

३. "उपस्थे-उपस्थाने" (निरु० ७।२६)

मनुष्य अपनी नीची स्थितियों को यदि अपनी क्षति हानि का कारण समझ ले और उसे उनसे पूर्ण घृणा हो जावे इस प्रकार इस दोषदर्शनरूप वैराग्य को प्राप्त होकर मुक्ति की ओर झुक जावे तथा मुक्ति के स्वामी एवं आधार परमात्मा की रक्षा को पाले तो फिर उसका कल्याण अवश्य हो जावे और मुक्ति भी वह प्राप्त कर सके। परन्तु प्रथम यही कार्य कठिन है कि मनुष्य अपनी नीचदशा दुरवस्था या त्रुटि को जान ले एवं मानले और उससे ऊपर उठने की भावना को उपजा सके बढा सके पुनः यह तो उससे भी अधिक कठिन है कि वह अपने उठने को प्रयत्न करे। जो इसमें उपेक्षा करेंगे वे न उठ सकेंगे अपितु गिरे ही रहेंगे, और अधिक गिरते चले जावेंगे यह भी सम्भव है। जो उठने को यत्न करेंगे वे उठ जावेंगे दिन प्रतिदिन उठते चले जावेंगे अन्त में मोक्ष को भी प्राप्त कर सकेंगे। इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं। प्रभु हम पर कृपा करें हमारे में बल दें कि हम अपनी त्रुटियों को समझ उन्हें दूर करें तथा अन्तर्यामी परमात्मदेव को अपना आदर्श बना उस सद्गुणसिन्धु से अपने में गुणाधान कर सच्चे उपासक प्यारे सखा बनकर उसका समागम लाभ ले सकें और मोक्षानन्द के भागी बन सकें॥ ७॥

—:(०):—

ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ८९

ऋषिः—वसिष्ठः=परमात्मा में अतिशय से बसने वाला उपासक (पूर्ववत्)

देवताः—वरुणः=वरने योग्य वरने वाला परमात्मा (पूर्ववत्)

मैं नश्वर शरीर में फिर न आऊं—

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ १ ॥

(सु वरुण राजन्) अच्छ! हे पूजनीय प्यारे वरनेयोग्य वरनेवाले सर्वत्र प्रकाशमान विराजमान परमात्मन्! (अहं मृन्मयं गृहं मा-उ गमम्) मैं मृन्मय—मट्टी के घर में—पार्थिव शरीररूप कच्चे घर में—अस्थिर नश्वर देह को अब न प्राप्त होऊं (सुक्षत्र मृड मृडय) हे भली प्रकार दुःख से त्राण करने वाले सुशक्तिमन् देव! मुझे सुखी कर और मुझसे अन्यों को सुखी करा॥

हे मेरे वरने योग्य और वरने वाले परमात्मन्! मैं जिस पार्थिव देहरूप घर में रह रहा हूं यह तो सचमुच मिट्टी का घर है कच्चा घर है नश्वर है इसे शस्त्र से कट कट कर हड्डियों और मांस के लोथड़ों में टुकड़े टुकड़े हो जाना है, जब किसी वस्तु का नाश किसी भी एक प्रकार या साधन से हो जाता है तो वह अन्य प्रकारों या साधनों से भी नष्ट हो सकती है क्योंकि नश्वर वस्तु स्थायी नहीं होती है उसे नष्ट होना ही है अतः यह देह जैसे शस्त्र से कट कट कर नष्ट होजाता है एवं इसे अग्नि में जलकर राख कोयला बन जाना है, विष से विषण्ण हो जाना नीला पड़ जाना इसका धर्म है, रोगों से रुग्ण हो जाना और जरा से जीर्ण निःसार बन जाना भी इसका स्वभाव

है। अन्य प्रकारों से देह को बचाना कदाजित् सम्भव हो सकता है पर जरा से तो बचाया नहीं जा सकता, जरा तो इसका अन्त कर ही सकती है। ऐसे शरीर का कब तक आश्रय करना या सहारा लेना और कैसा अभिमान करना है। अतः उस प्रभु की स्तुति प्रार्थना उपासना करके मोक्षरूप अमर घर को प्राप्त करना मानव का परम ध्येय है ॥ १ ॥

शरीर के बन्धन में आकर जीव जहां तहां भटकता है—

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः ।

मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ २ ॥

(अद्रिवः) हे सुखवर्षक मेघवाले सुखों की वृष्टि करने वाले परमात्मन्! (यत्) जो कि (दृतिः-न-ध्मातः) मैं धौंकनी के समान ऊपर नीचे कम्पायमान हुआ—उच्च नीच योनियों में होता हुआ' एवं (प्रस्फुरन्-इव-एमि) तितली की भांति स्थानान्तर में भ्रमता भटकता हुआ फिरता हूं (सुक्षत्र मृडा मृडय) हे उत्तम रक्षक मुझे सुखी कर अन्यों को मुझसे सुखी करा ॥

हे सुख के वर्षक परमात्मन्! तेरी शरण पाने के विना मेरी दुर्दशा हो रही है, संसार में मैं धौंकनी की भांति भिन्न भिन्न योनियों में ऊंचे नीचे होता हुआ उच्च नीच गति करता रहता हूं—कभी ऊंची योनि में और कभी नीची योनि में भटकता हूं या तितली जैसे क्षुद्र पंखी की भांति फड़फड़ाता हुआ अस्थिर हो वायु के झोंकों से भटकता हुआ भिन्न भिन्न स्थानों में उन उन स्थानों के अनुसार शरीर धारण करके कभी समतल पर कभी पर्वत पर कभी जल में

---

१. "अपाङ् पराङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः।" (ऋ० १।१६४।३८)

"मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः" (निरु० १४।६)

कभी जङ्गल में घूमा करता हूं। हे रक्षक देव! मेरी रक्षा करो मुझे इस प्रकार भटकने से बचा अपनी शरण में ले। तेरे सिवा कोई मेरा रक्षक नहीं, अन्य जन भी तो मेरे समान भटक रहे हैं उनकी शरण का क्या लाभ। रोगी की शरण में रोगी जाकर अच्छा नहीं होता न बन्धन में बन्धे हुए के पास जाकर बन्धा हुआ बन्धन से छूटता है अपितु नीरोग चिकित्सक की शरण लेने से रोगी अच्छा होता है और निर्बन्धन के पास जाने से बन्धा हुआ बन्धन से मुक्त हुआ करता है॥ २॥

इस शरीर के पालनार्थ मनुष्य शरीर के पीछे अनर्थ करता रहता है—

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृडा सुक्षत्र मृडय॥ ३॥

(शुचे) हे पवित्र परमात्मन्! (समह दीनता) अहो मैं इस शरीर-पालना में दीनता के कारण[2] (क्रत्वः प्रतीपम्) क्रतु अर्थात् यज्ञ या श्रेष्ठ कर्म के प्रतिकूल भाव को—हिंसा, असत्य, चोरी, घूंस, पगड़ी, चोर बाजारी आदि पाप को तथा पिता भ्राता आदि से विद्रोह आदि दोष को (आजगम) प्राप्त हो गया हूं। (सुक्षत्र मृडा मृडय) भली प्रकार रक्षा करने वाले परमात्मन्! मुझे सुखी कर और मुझसे अन्यों को सुखी करा।

मनुष्य ईश्वर से विमुख हो नास्तिक बनकर निनावें के फेर में पड़ पाप को पाप नहीं समझता, पुण्य कर्म से तो दूर हो ही जाता है। अपितु भांति-भांति के पापों का आविष्कार और प्रसार करता रहता है। इस प्रकार उलटे मार्ग में चलता हुआ समस्त जीवन

---

२. "दीनता=दीनतया" "सुपां सुलुक्···(अष्टा० ७।१।३९) इससे टा विभक्ते लुक्।

व्यर्थ समाप्त कर देता है। यदि प्रथम से ही देह को नश्वर तथा थोड़े काल तक रहने वाला है यह ध्यान रखे तो इसका सदुपयोग करके सच्ची कमाई कमा लेवे, वह है ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना और अपना उसके प्रति समर्पण! पुनः पाप का सम्पर्क कहां और कहां फिर देह का सन्ताप? ॥ ३ ॥

जलों के मध्य में रहते हुए भी प्यासा—

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ ४ ॥

विज्ञप्ति—यह मन्त्र विशेष महत्त्वपूर्ण है, इसमें दो प्रकार का श्लेषालङ्कार है। एक 'अपाम्' शब्दविषयक दूसरा 'जरितारम्' शब्द विषयक। यहां 'आपः' का अर्थ व्यापक परमात्मा और विषयप्रवाह, जरिता का अर्थ स्तोता—स्तुति करने वाला और जीर्णता को प्राप्त होने वाला असंयमी जन है। इस प्रकार अर्थश्लेष से चार प्रकार की मन्त्रार्थ विशेषता है जो निम्न है—

प्रथम श्लेष—

क—(अपां मध्ये तस्थिवांसं जरितारं तृष्णा-अविदत्) तुझ जलसमान महान् व्यापक परमात्मा में वर्तमान मुझ जीर्णता को प्राप्त हुए—असंयमी को तृष्णा—प्यास बनी हुई है—तुझ जैसे सर्वत्र प्रवाहित, आनन्द स्रोत में रहता हुआ भी मैं प्यासा रहूं—पान में असमर्थ रहूं, परमात्मन्! इसमें कारण मेरी जीर्णता इन्द्रियक्षीणता—असंयमिता है जिससे कि मैं अमृत रस का पान न कर सकूं। अतः (सुक्षत्र मृडा मृडय) हे उत्तम त्राता परमात्मन्! मुझे सुखी कर मेरे द्वारा दूसरों को भी सुखी करा। प्रभो! ऐसी कृपा करो कि मैं संयमी बनकर तेरे अमृतरस का पान कर सकूं क्योंकि विना संयमी बने तेरा अमृत रस पान नहीं कर सकता।

ख—(जरितारं तृष्णा-अविदत्-अपां मध्ये तस्थिवांसम्) हे परमात्मन् ! मुझ तेरे स्तोता—स्तुतिकर्ता को तृष्णा—प्राप्त हुई है—मुझे तृष्णा ने पकड़ा हुआ है गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दमय विषय प्रवाहों में पड़ा हूं कारण कि मैं इन्हें सेवन नहीं कर रहा हूं (सुक्षत्र मृडा मृडय) हे उत्तम रक्षक परमात्मन् ! मुझे सुखी कर और मेरे द्वारा अन्यों को भी सुखी करा। अतः मुझे इस विषय-प्रवाह से छुड़ा—अपने दर्शनामृत से प्यास बुझा। उसी से यह प्यास बुझ सकेगी। पुनः स्थिर शान्ति प्राप्त कर सकूंगा।

द्वितीय श्लेष—

क—(जरितारं तृष्णा-अविदत्-अपां मध्ये तस्थिवांसम्) हे परमात्मन् ! जीर्णता को प्राप्त हुए भी मुझे तृष्णा—वासना प्राप्त हैं, तृष्णा वासना ने पकड़ा हुआ है—मुझ जीर्ण देहवाले इन्द्रिय-शक्ति क्षीण देह वाले को भी तृष्णा—वासना नहीं छोड़ती कारण कि मैं गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दमय विषय प्रवाहों में बह रहा हूं पड़ा हुआ हूं, विषयप्रवाह मेरे सम्मुख बह रहे हैं यद्यपि उन्हें भोग-भोगकर इन्द्रियां जीर्ण हो चुकीं भोगने में असमर्थ हो चुकीं तो भी मन में तृष्णा—वासना बनी रहती है[1] वह न गई 'आशा तृष्णा न मरी मर मर गए शरीर' यह कथन सचमुच ठीक ही है (सुक्षत्र मृडा मृडय) हे उत्तम रक्षक परमात्मन्। मुझे सुखी कर और मेरे द्वारा अन्यों को भी सुखी करा। परमात्मन् ! मैं अपने पर पश्चात्ताप करता हूं मुझे दुःख सागर में डुबकियां खाते हुए को बचा।

ख—(अपां मध्ये तस्थिवांसं जरितारं तृष्णा-अविदत्) तुझ जलसमान महान् व्यापक परमात्मा के मध्य वर्तमान होने से मुझ

---

१. "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-" (वैराग्य शतकम् १२) भोग नहीं समाप्त हुए हम ही समाप्त हो गए।

स्तोता को तृष्णा तेरे दर्शनामृत पान की तृष्णा लगी रहती है। जितनी जितनी तेरी स्तुति करता हूं उतनी उतनी तेरे दर्शनामृत की प्यास बढ़ती जाती है, तेरे दर्शनामृत का स्रोत अनन्त है कितना भी पान करूं पर मन या अन्तरात्मा अघाता नहीं किन्तु तेरे आनन्द-रस में उत्तरोत्तर प्रवेश करता जाता–घुसता ही जाता है निवृत्त नहीं होता और न तेरे आनन्दरस की इयत्ता सीमा या परिमाण, क्यों-कि तू अनन्त है तो तेरा आनन्दरस भी अनन्त है (सुक्षत्र मृळ मृळय) हे उत्तम त्राता परमात्मन्! मुझे सुखी कर मेरे द्वारा दूसरों को सुखी करा । अतः मैं तेरे आनन्दरस में सदा डूबा रहूं ऐसी कृपा मुझ अपने स्तोता पर कर रख।

परमात्मा सर्वत्र व्यापक है उसका आनन्दस्रोत भी सर्वत्र बह रहा है परन्तु संयमी भाग्यवान् जन ही उसका पान कर सकता है, असंयमी नहीं। असंयमी तो सांसारिक विषय-प्रवाहों में ही बहता हुआ अपनी समस्त आत्मशक्ति का ह्रास कर अन्त में डूब ही जाता है। हां यदि अपने पुरातन विषय-प्रवाहों के थपेड़े खाकर भी परमात्मा की स्तुति में लग जावे और अपने पुरातन वृत्त पर पश्चा-त्ताप करले तो उसका तर जाना सम्भव है। भोगों को भोगते रहने से इच्छा शान्त नहीं होती है, यह तो घृत की आहुति डालने से अग्नि की भांति बढ़ती ही जाया करती है[1]। या जैसे ईन्धनों के डालते रहने से अग्नि की तृप्ति नहीं होती न नदनदियों के पड़ते रहने से समुद्र की तृप्ति होती है इसी प्रकार विषयों में तृष्णावाले की भी कामनाओं से भोग भोगने से तृप्ति—शान्ति नहीं हुआ करती है, विषय-कामनाएं तृप्तिकारक—शान्ति देने वाली नहीं

---

१. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (मनु० २।९४)

है।[२] अपितु व्यापक परमात्मा के आनन्द स्रोतों—आनन्द प्रवाहों में उसका आनन्द रसपान में ग्लानि नहीं, उत्तेजना नहीं, अतृप्ति नहीं, किन्तु हर्ष, शान्ति, तृप्ति और अतितृप्ति है वहां तो गहन प्रवेश है, समावेश है, तद्धर्मत्व है, तन्मयत्व है, इसी में परम साफल्य है ॥ ४ ॥❀

---

२. तृप्तिर्नास्तीन्धनैरग्नेर्नाम्भसा लवणाम्भसः ।
नापि कामैः सतृष्णस्य तस्मात् कामा न तृप्तये ॥ (बुद्धचरित)

❀ पानी में मीन प्यासी ।
पानी तो बे अन्त है पीने को नहीं तोड़ा ।
कैसे पीऊं मित्र मैं मुख में मेरे फोड़ा ॥
पीने की इच्छा से जो मुख भी खोलूं थोड़ा ।
उठे वेग से खांसी···पानी में मीन प्यासी ।
बन्धु मैं हूं गंगा की मछली ।
नित पीती थी पानी असली ॥
यह पानी है मैला नकली ॥
तासे रहूं उदासी···पानी में मीन प्यासी ॥
जैसे ही पानी का न अन्त है ।
तैसे ही प्यास भी बे अन्त है ॥
पीने से बढ़ी प्यास अनन्त है ।
आवे नित्य उदासी···पानी में मीन प्यासी ॥
अमृत पानी यह पाती हूं ।
पी पी कर अङ्ग समाती हूं ।
पीती हुई नहीं अघाती हूं ।
हुई अमृतवासी···पानी में मीन प्यासी ॥

अज्ञानकृत दोष अगण्य है--

**यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरा-
मसि । अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्त-
स्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ५ ॥**

(वरुण-अचित्ति मनुष्याः-यत् किं च-इदम्) हे वरने योग्य वरनेवाले परमात्मन् ! हम मनुष्य अज्ञान से[3] यह जो कुछ भी (दैव्ये जने) महात्मविद्वज्जन के प्रति (अभिद्रोहं चरामसि) अभिद्रोह—वैरभाव का आचरण करते हैं (यत् तव धर्मा) जो तेरे नियमों—आदेशों का (युयोपिम) उसी अज्ञान से हम भूल-भुलैयां में डालते हैं—लोप करते हैं[4] या करें तो (तस्मात्-एनसः-नः-मा रीरिषः) हे परमात्मन् ! उस पाप से—उस पाप को हेतु बना कर हमें पीडित न करना ।

मनुष्य अज्ञान से भूल से बुरे कार्य कर सकता है और करता है पर सदा अज्ञान या भूल की शरण लेना और उसे जीवन का अङ्ग बना लेना उसका अभ्यासी बन जाना महापतन का विषय है किन्तु कदाचित् अज्ञान से महात्माओं का अपकार करके या ईश्वर के नियमों का भङ्ग करके अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करे यही उसके उत्थान और कल्याण का मार्ग है तभी वह भविष्य में दोषों से बच सकता है और अपना मानव जीवन सफल बना सकता है ॥ ५ ॥

—:o:—

---

३. अचित्ती "सुपां सुलुक्..." (अष्टा० ७।३।३६) टा विभक्तेर्लुक् ।

४. "युपुरुपुप्लु विमोहने" (दिवादि०)

ऋग्वेद मण्डल ९ सूक्त ११३

ऋषि—मारीचः कश्यपः=वासनाओं को मारने वाली दीप्ति[1] वैराग्य दीप्ति या ज्ञानज्योति से सिद्ध एवं सम्पन्न, कश्यप—कश्य कशा-योग्य नियन्त्रणीय नियन्त्रण को प्राप्त हुए मन से अध्यात्मरस पीने वाला जन।

देवता—पवमानः सोमः=उपासक के अन्तरात्मा में शान्त प्रवाह-रूप में प्राप्त होता हुआ उत्तरोत्तर बढ़ बढ़कर साक्षात् होता हुआ सुखप्रदाता परमात्मा।

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा ।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ १ ॥

(वृत्रहा-इन्द्रः) पापनाशक[2] आत्मा (महत्-वीर्यं करिष्यन्) महान् पराक्रम करने के हेतु—महान् पराक्रम किए जाने के लिए 'संसार के बन्धन से छूटने के लिए' (आत्मनि बलं दधानः) अपने में बल धारण करता हुआ (शर्यणावति सोमं पिबतु) प्रणवरूप धनुष पर[3]

---

१. "असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः" (छान्दोग्यो० प्रपा० ३। ख० १) अत्र मरीचिः सूर्यरश्मिः।

२. "पाप्मा वै वृत्रः" (शत० ११।१।५।७)

३. शर्यः-शरमयः-वाणः "शर्या इषवः शरमय्यः" (निरु० ५।४) शर्याय वाणाय वाणप्रक्षेपणाय नता—शर्यणा ज्या 'शर्य+णम्+डः' "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" (अष्टा० ३।२।१०१) 'शर्यणा-ज्या तद्वति ज्यावति धनुषि' "वार्तघ्नं धनु" (शत० ५।३। ५।२७)

प्रणवरूप—ओ३मूरूप धनुष के आश्रय लक्षित सोम—परमात्मरूप आनन्दरस का पान करे—कर सके। जैसा कि उपनिषद् में कहा है कि प्रणव—ओ३मूरूप धनुष पर आत्मारूप शर-वाण को रख ब्रह्म-परमात्मा को लक्ष्य बनाकर शर छोड़ने के समान तन्मय हो सावधानी से ब्रह्मलक्ष्य का वेधन करना चाहिए[1]। यहां वाचकोपमेय लुप्तोमालङ्कार है। अतः (इन्दो-इन्द्राय परिस्रव) हे रसीले परमात्मन् तू आत्मा के लिए परिस्रवण कर वहता हुआ सा आ—प्राप्त हो।

जीवात्मा या मानव को संसारपाश से छूटने के लिए भारी पराक्रम करना है, वह तब किया जा सकता है जब कि आत्मा में बल को धारण कर लिया जावे, क्योंकि उक्त पराक्रम करना एक प्रकार से संग्राम करना है और संग्राम करना है धनुष अस्त्र के द्वारा, पर यहां का धनुष वह नहीं है जो लोक में शत्रु का संहार करने को चलाया जाता है, न ही यह संग्राम लौकिक संग्राम है किन्तु यहां का संग्राम तो आध्यात्मिक है यहां का धनुष है प्रणव—ओ३म् या ओ३म् का सार्थक जप, जैसा कि योगसूत्र में कहा है—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योग० १।२८) पुनः उस ओ३म् रूप धनुष पर शर-रूप में आत्मा को चढ़ाकर लक्ष्य ब्रह्म में बिठा देना है पुनः निरन्तर जप और अर्थभावन से शररूप आत्मा को लक्ष्य ब्रह्म में अधिकाधिक प्रविष्ट करते जाना है। यहां के धनुष से शत्रुवेधन नहीं अपितु उसके विपरीत मित्र और परममित्र परमात्मा के अन्दर आत्मा का सन्निवेश है जिस सन्निवेश में आत्मा निर्द्वन्द्व हो अपने प्यारे अनन्त परममित्र परमात्मदेव का दर्शनामृतरूप सोमरस का पान करेगा जिसको 'इन्द्रायेन्दो परिस्रवः' वचन से कहा गया है कि हे रसीले सोम आत्मा के लिए वहता हुआ सा आ, यह आत्मा के ब्रह्म-

---

१. "प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्" (मुण्ड० २।२।४)

रूप मधुकोश में सन्निवेश का लाभ ॥ १ ॥

हे मेरे प्यारे—

आपवस्व दिशां पत आर्जीकात्सोम मीढ्वः ।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायें० ॥२॥

(दिशां पते मीढ्वः सोम) ओ सूर्य के समान[1] दिशाओं के स्वामी सुखवृष्टिकर्ता परमात्मदेव ! तू (ऋतवाकेन) वेदवचन-मन्त्रस्तवन से (सत्येन) सत्याचरण से (श्रद्धया) श्रद्धा से—स्थिर निष्ठा से—सुदृढ़ भावना से (तपसा) तपश्चर्यानुष्ठान से (सुतः) सुसम्पन्न किया हुआ ध्याया हुआ (आर्जीकात्-आपवस्व) किरण-प्रसारक ऋजुधर्मी सूर्य के समान निज प्रकाशस्वरूप सत्यस्वरूप प्रसिद्धरूप ऋजुधर्मीपद से परमात्मन् ! तू हमारे अन्तरात्मा में आ पहुंच[2] अतः (इन्दो-इन्द्राय परिस्रव) रसीले सोम परमात्मन् ! आत्मा के लिए बहता हुआ सा आ ।

सूर्य दिशाओं का स्वामी है समस्त दिशाएं सूर्य से ही तो प्रकाशमान होती हैं, पर हे परमात्मन् ! सूर्य भी तेरे से ही प्रकाशमान होता है[3] पुनः तुझ परमात्मा से ही तो सब दिशाएं प्रकाशित होती हैं तब तू ही तो दिशाओं का स्वामी है पुनः हे दिशा दिशा के स्वामिन् अन्तर्यामिन् तुझे कोई रोकनेवाला नहीं तू दिशाओं का स्वामी है सभी दिशाओं से आ सकता है, सूर्य में भी प्रकाश देने वाला जो तेरा पद प्रकाश स्वरूप है जिसके सम्बन्ध में वेद

---

१. वाचकलुप्तोमालङ्कारः ।

२. ऋजीकः सूर्यः, तत्रभवः—आर्जीकः "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्-ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४० । १७)
ऋजीकः ऋजुधर्मवान् स्वार्थेऽण् । "तयोर्यत्सत्यं यतरज्जीयस्तदित्सोमोऽवति" (ऋ० ७।१०४।१२)

३. "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (कठो० ५।१५)

द्वारा तूने घोषित किया है कि जो इस सूर्य में प्रकाशक चेतन है वह मैं ओ३म् व्यापक ब्रह्म हूँ उस ऐसे घोषित किए अपने पद से सरल स्वरूप से सत्य धर्म प्रसिद्ध रूप से मेरे अन्तरात्मा में आ। मैं जानता हूं तू सरल है सरल मार्ग से आता है और सरलता से आता है सरल आत्मा में निष्पाप आत्मा में आता है जिसके अन्दर तेरे लिए प्रेम न हो ऐसे असरल कुटिल दम्भी आत्मा में तेरा आगमन नहीं होता, अतएव परमात्मन् मैं सरल भाव से प्रेम से तेरे आगमनार्थ मन्त्रस्तवन करता हूं सत्याचरण करता हूं श्रद्धा निष्ठा आस्था दृढ़ धारणा से तपश्चर्या से करता हूं सुख की वर्षा करने वाले प्यारे रसीले देव मेरे लिये मेरे हृदय में, मन में आत्मा में, आनन्दरूप में वहता-सा चला आ ॥ २ ॥

हाँ—

पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिता भरत् ।
तं गन्धर्वाः प्रत्यभृभ्णन् तं सोमे रसमाद-
धुरिन्द्रायेः ॥ ३ ॥

(तं महिषं पर्जन्यवृद्धम्) उस महान्[1] मेघसदृश संवृद्ध परमात्मदेव को (सूर्यस्य दुहिता-अभरत्) श्रद्धा ने धारण कर लिया[2] अथवा (सूर्यस्य दुहिता तं महिषं पर्जन्यवृद्धम्-अभरत्) श्रद्धा ने उस महान् परमात्मा को मेघ सदृश बढा हुआ सम्पन्न कर दिया। (तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णान्) उसे इन्द्रियचालक मन ने—मन बुद्धि चित्त अहङ्कार ने ग्रहण कर लिया—मान लिया—अङ्गीकार कर लिया[3]

१. "महिषो महन्नाम" (निघं० ३।३)
२. "श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता" (शत०१२।७।३।११) जहां प्रकाश है जहां सत्य है जहां सरलता है वहां श्रद्धा तो उत्पन्न हो ही जाती है। "श्रद्धा सत्ये प्रजापतिः" (यजु० १९।७७)
३. "मनो गन्धर्वः" (शत० ९।४।१।१२)

(सोमे रसं तम्-आदधुः) इस प्रकार श्रद्धा और मन के द्वारा सोम परमात्मा में वर्तमान जो उस रस आनन्द को उपासक के आत्मा में आधान कर दिया—संस्थापित कर दिया, रख दिया (इन्द्राय...) पूर्ववत् ॥

जब परमात्मा के प्रति अगाध श्रद्धा हो जाती है तो वह मेघ-सदृश बढ़ता हुआ सा प्रतीत होता है पुनः उसका मन से मनन बुद्धि से निश्चय चित्त से स्मरण अहङ्कार से ममत्व किया जाता है तब उपासक के अन्दर आत्मक्षेत्र को सिञ्चित करने के लिये जल भरे मेघ के समान उसका आनन्द रस बरस जाता है भरपूर हो जाता है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में श्रद्धा को योगी की जननी के समान रक्षा करने वाली कहा है, परमात्मा में प्रथम परम श्रद्धा होनी चाहिए, यह श्रद्धा सूर्य अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमात्मा की दुहिता अर्थात् दूहने वाली है—उसे दूह कर लाती है, उपासक श्रद्धा के साथ मन आदि अन्तःकरण में मनन आदि द्वारा परमात्मा को मान जान कर अपने अन्दर जब धारण कर लेता है तब उसका आनन्द स्रोत प्रवाहित हो जाना अपूर्व फल स्वाभाविक है अनिवार्य है ॥३॥

अच्छा !—

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेο॥४॥

(सोम राजन्) हे आनन्द रसपूर्ण सर्वस्वामिन् ! (ऋतद्युम्न ऋतं वदन्) हे ज्ञान से प्रकाशमान परमात्मन् ! ज्ञान को कहता हुआ (सत्यकर्मन् सत्यं वदन्) हे सत्य कर्म वाले सत्य को कहता हुआ (श्रद्धां वदन्) सत्य धारणा—स्वविषय में आस्तिक भावना को कहता हुआ* (सोम) हे सोमस्वरूप आनन्दैश्वर्य रूप परमात्मन् !

* "ऋत सत्यनाम" (निघं० ३ । १०)

(धात्रा परिष्कृतः) अपने अन्दर धारण करने वाले—आधान करने वाले उपासक आत्मा से साक्षात् किया गया है। इन्द्राय० पूर्ववत् ॥

प्यारे सोमरूप परमात्मन् ! भाग्य से जब तेरा साक्षात्कार किसी उपासक के अन्दर हो जाता है तो मानो तू उस उपासक को ज्ञान का सत्य का श्रद्धा अर्थात् निज आस्तिकता का उपदेश दे रहा होता है या यों कहिये कि तेरे साक्षात् दर्शन से उपासक का अन्तरात्मा ज्ञान सत्य श्रद्धा—निष्ठा आस्तिकता से परिपूर्ण हो जाता है क्योंकि तू सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और श्रद्धारूप है अतः उस उपासक की स्थिति जनसाधारण से ऊपर हो जाती है वह सांसारिक व्यवहार और जनसाधारण से अलग तथा तेरे सत्य आदि गुणों से युक्त एवं तुझ से सम्पृक्त या मिला हुआ अपने को पाता है। उस समय तू उसका होता है और वह तेरा हुआ करता है। यही तो उपासना का फल और तेरे साक्षात् दर्शन का लाभ है। अतः मेरे प्रभो ! मेरी ओर आ मुझे अपना बना ॥ ४ ॥

उस स्थिति में आह क्या कहना ? :—

सत्यमुग्रस्य बृहतीः संस्रवन्ति संस्रवाः । संयन्ति रसिनो रसाः पुनानो ब्रह्मणा हर इन्द्रायेο ॥५॥

(हरे) हे दुःखों के हरने वाले तथा मनोहर परमात्मन् ! जब तू (ब्रह्मणा पुनानः) मन्त्र जप से अध्येष्यमाण—प्रार्थ्यमान—स्तूयमान हुआ—स्तुति में आया हुआ होता है[1] तब तुझ (बृहतः सत्यमुग्रः) महान् उग्र सत्यस्वरूप—पूर्ण सत्यस्वरूप—नितान्त सत्यस्वरूप या सत्य के अमृत के उग्र—उद्गीर्ण—पर्वत के[2] (संस्रवाः) आनन्द स्रोत

---

१. "पवस्व—अध्येषणाकर्मा" (निघं० ३ । २१)

२. सत्यम्-उग्रं यस्य स सत्यमुग्रः । अलुक्समासः परनिपातश्च सत्यम्-उग्र.उद्गीर्णः पर्वतः सत्यमुग्रः । पृषोदरादि से सिद्धि ।

"सदमृतम्" (शत० १४।४।१।३२)

(संस्रवन्ति) उपासक के अन्दर निरन्तर बहते हैं, एवं (रसिनः-रसाः संयन्ति) सचमुच तुझ रसीले आनन्दसागर के रस भली भांति प्राप्त हो रहे होते हैं (इन्द्राय०) पूर्ववत् ॥

सोम परमात्मा पूर्ण सत्यस्वरूप नितान्त सत्यस्वरूप अमृतरूप एवं अमृत का हिमाचल है, आनन्द भरे स्रोतों का आनन्दगिरि और आनन्दसागर है। पर परमात्मन्! तू तो जो है सो है ही किन्तु ध्यानी के ध्यान में भी तो एक प्रबल बल है जो अमृतगिरि से अमृत स्रोत को एवं आनन्दसागर से आनन्द भरे प्रवाहों को अपनी ओर अपने अन्तरात्मा में अपने अन्तःस्थल में बहा लेता है पुनः ध्यानी भी रसवान् आनन्दरसवान् बन जाता है। उपनिषदों में कहा भी है "रसो वै सः, रसं ह्येवं लब्ध्वाऽनन्दी भवति" (तै० उ० २।७।१) यह परमात्मा रसरूप है, रसरूप को प्राप्त करके यह ध्यानी भी आनन्दवान् बन जाता है। मन्त्रजप के द्वारा उपासकों के अन्तरात्मा में उस आनन्दगिरि से आनन्द भरे सोते उमड़-उमड़ कर निरन्तर आते रहते हैं। उन आनन्द रस के सोतों में निर्भय और निष्प्रतिबन्ध अबाए बिना निरन्तर स्नान अवगाहन तथा पान करने का अनुपम लाभ कैसा आनन्दप्रद होगा यह बताने का विषय नहीं है, मानस ताप और पाप का तो लेश भी शेष नहीं रहीं रहता। सौभाग्य है उस जन का जिसने तुझे अपना बना लिया अपने को तेरे में बसा लिया, प्रभो! ऐसा अवसर मुझे भी शीघ्र प्राप्त हो ॥५॥

अतः—

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचं वदन्। ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो० ॥६॥

(पवमान) हे मेरे अन्दर प्राप्त होते हुए परमात्मन्! (ब्रह्मा

छन्दस्यां वाचं वदन्) ब्रह्मनिष्ठ[1] उपासक छन्दोमयी मधुर दैवी वाणी को बोलता हुआ। तथा (ग्राव्णा सोमेन आनन्दं जनयन्) उस ऋत वाणी बोलते हुए[2] सोमरूप तुझ प्रभु से अपने अन्दर आनन्द को उत्पन्न करता हुआ अनुभव करता हुआ (यत्र सोमे) जिस शान्त लानन्दरूप तुझ में (महीयते) महिमा को प्राप्त होता है वहां मुझे स्थिर कर। (इन्द्राय०) पूर्ववत् ॥

छन्दोमयी मधुर वाणी द्वारा स्तुति का बडा भारी महत्त्व है प्रभाव है, जो स्तोता अन्तरात्मा को पवित्र करने वाले परमात्मा की स्तुति उस छन्दोमयी मधुर वेद वाणी से सार्थक करता हुआ तथा उसका गुणगान करता हुआ विराजमान होता है तो अपने अन्तरात्मा में परमात्मा की ऋत वाणी को भी वह सुनता है, उपासक और इष्टदेव का संलाप दो मित्रों की भांति होता है तब महान् आनन्द को उत्पन्न करता है। उसकी उपासना से वह महती महिमा को प्राप्त होता है, उसे साधारण जन अपने से ऊपर स्थिति में विराजमान देखता है, वह भी स्वयं अपनी ऊंची स्थिति में अपने को पाता है। ऐसी स्थिति को विरले ही प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

पुनः—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिल्लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेο ॥७॥

) पवमान) हे मेरे अन्दर प्राप्त होते हुए परमात्मन्! (यत्र-

---

१. "तस्माद् यो ब्रह्मनिष्ठः स्यात्तं ब्रह्माणं कुर्वीत" (गो० उ० १ । ३)

२. ग्रावा-स्तोता "ग्रावभ्यो वाचं वदद्भ्यः" (निघं० ९ । ८) "ग्रावा गृणातेः "दुर्गाचार्यः निरु० ९ । ८) "विद्वांसो वै ग्रावाणः" (शत० ३ । ९ । ३ १४)

अजस्रं ज्योतिः) अविनश्वर ज्योति है। और (यस्मिन् लोके स्वः-हितम्) जिस लोकमें अविनश्वर सुख रखा है (तस्मिन्-अक्षिते-अमृते लोके) उस क्षीणतारहित अमृत लोक—मोक्ष में (मां धेहि) मुझे संस्थापित कर। अतः (इन्द्राय०) पूर्ववत् ॥ ७ ॥

परमात्मा का लोक मोक्ष है यही अमृतों मुक्तों का लोक है। यह क्षीणतारहित है अन्य स्थान क्षयधर्मी हैं—नश्वर हैं। वहां अमृत लोक में अन्धकार नहीं किन्तु निरन्तर ज्योति—न बुझने वाली ज्योति जगमगाया करती है। और सुख भी वहां न क्षीण होने वाला है। मैं उस अमृत लोक अखण्डानन्द परलोक में पहुंच जाऊं जन्म-मरण से छूट जाऊं। प्यारे प्रभो! यह आकांक्षा है परन्तु हे देव! तेरे विना यह कार्य नहीं हो सकता। मैं तेरा मन भर स्तवन करता हूं और नम्र प्रार्थना करता हूं कि मुझ उपासक स्तोता के लिये तू परिप्राप्त हो–सम्प्राप्त हो–शीघ्र ही सम्यक् प्राप्त हो ॥७॥

तथा—

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायें० ॥ ८ ॥

(यत्र) जिस मोक्ष धाम में (वैवस्वतः-राजा) काल राजमान हुआ हो—कालक्षय न हो—संसार की भांति मरण न हो (यत्र दिवः-अवरोधनम्) जहां सूर्य या दिन ठहरा रहे—सूर्य या दिन निरन्तर बना रहे—अन्धकार या रात्रि न हो (यत्र) जहां (अमूः-यह्वतीः-आपः) वे ये भारी[1] जलप्रवाह—आनन्दप्रवाह हों (तत्र) वहां) माम्-अमृतं कृधि) मुझे मरणधर्मरहित करदे—अमर देव बना दे। (इन्द्रायें०) पूर्ववत् ॥

संसार में कभी दिन कभी रात, कभी प्रकाश कभी अन्धकार,

१. "यह्वचो महन्नाम" (निघं० ३ ३)

कहीं जन्म कहीं मृत्यु, कहीं सुख कहीं दुःख, कहीं टीले कहीं खड्डे आदि द्वन्द्वों के चक्र चलते रहते हैं परन्तु मोक्ष धाम या ब्रह्मलोक में काल का क्षय नहीं होता वहां भौतिक दृष्टि से कालक्षय का कारण नहीं है, अपितु वहां भौतिक काल ही नहीं है किन्तु परमात्मा ही कालरूप में है। सूर्य या दिन भी आने जाने वाला नहीं—कभी सूर्योदय या कभी सूर्यास्त का सांसारिक व्यवहार नहीं, दिन रात का चक्र नहीं अन्धकार का नाम नहीं, परमात्मा ही सूर्य है उसी का प्रकाश वहां दिन है जलप्रवाह भी ह्रास को प्राप्त होने वाले नहीं किन्तु परमानन्द रसरूप जलप्रवाह न सूखने वाले वर्तमान हैं। उस ऐसे अमृतधाम में अमृत हो जाना अमर देव बन जाना मानव का लक्ष्य उपासना का चरम फल है। आओ प्यारे प्रभो! मेरी आकांक्षा पूरा करने को मेरी ओर बढ़ो ॥८॥

अपि च—

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्राये० ॥९॥

(यत्र) जहां—जिस (त्रिनाके) तृतीय स्थान में—इन्द्रिय मन आत्मा द्वारा प्राप्तव्य सुखस्थान के श्रेणिक्रम से तृतीयरूप स्थान आत्मा के द्वारा प्राप्तव्य सुख स्थान में अर्थात् अत्मा के द्वारा अनुभवनीय सुखस्थान में, जैसे अन्यत्र वेद में कहा है कि "यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" (यजु० ३२। १०) जिस तृतीय धाम में देव—मुक्त आत्माएं अमृतसुख का सेवन करते हुए उन्नत हुए हैं (त्रिदिवे) तृतीय प्रकाशस्थान में—अग्नि सूर्य ब्रह्म के प्रकाशक्रम से अन्तिम ब्रह्मरूप प्रकाशक के प्रकाशस्थान में तथा (अनुकामं चरणम्) जहां यथेष्ट विचरण—अव्याहत गति हो (यत्र) जहां (दिवः-ज्योतिष्मन्तः-लोकाः) सूर्यरूप परमात्मा के प्रकाश से समस्त लोकनीय—दर्शनीय—अनुभवनीय कामनापूर्तिपद ज्योति-

ष्मान् प्रकाशवाले हैं--शुभ्र हैं (तत्र) उस ऐसे मोक्ष धाम में (माम्-अमृतं कृधि) हे परमात्मन्! मुझे मर्त्य धर्म से छुड़ाकर अमृत करदे--अमर देव बनादे। अतः मुझ उपासक आत्मा के लिये तू सम्प्राप्त हो ॥

एक सुख स्थान ऐन्द्रियिक है दूसरा मानसिक तीसरा सुख-स्थान आत्मा के द्वारा अनुभवनीय सो वह ब्रह्मानन्द भोगरूप मोक्ष-स्थान है, वहां आत्मा को तृतीय प्रकाश परमात्मप्रकाश का निरन्तर दर्शन होता है उस ऐसे मोक्ष स्थान में समस्त यथेष्ट कमनीय अनु-भूतियां परमात्मा की ज्योति से ज्योतिष्मती बनी हुई होती हैं यथेच्छ विचरण अव्याहतगति से होता है। आह! वह कैसा सुखमय स्वातन्त्र्यपूर्ण अन्धकाररहित मोक्ष धाम होगा। एतदर्थ प्रभो! आओ मुझ अभिलाषी उपासक आत्मा के लिये सम्प्राप्त होओ ॥६॥

तथा—

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेo॥१०॥

(यत्र) जहां (कामाः-निकामाः-च) कामपूर्तियां और इन्द्रियान्तर्गत शान्तियां हैं (यत्र) जहां (ब्रध्नस्य विष्टपम्) महान् परमात्मा का भुवन है—अन्य जड़ वस्तु का सम्पर्क नहीं तथा मुक्तात्मा का सुख-पूर्ण स्वराज्य है[1] अतएव (यत्र) जहां (स्वधा च तृप्तिः-च) स्वधारण शक्ति—निजसत्ता शक्ति और तृप्त करनेवाली सुखमयी परमात्मसत्ता है (तत्र माम्-अमृतं कृधि) वहां मुझे अमर बनादे—मरण धर्म से छुड़ाकर अमृतरूप में स्थिर करदे (इन्द्रायेo) पूर्ववत्॥

मानव संसार में कामनापूर्ति के लिये जहां तहां भटकता है पर कुछ पूरी हुई तो फिर उसका ह्रास हो जाता है, पूर्णकाम होना तो

---

१. "स्वर्गो लोको वै ब्रध्नस्य विष्टपम्" (ऐ० ४।४)
"स्वाराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टपम्" (शत० ८।४।१।२३)

असम्भव है। परन्तु क्या ही कहना, मोक्ष में यद्यपि भौतिक सम्बन्ध नहीं परन्तु किसी वाञ्छनीय का लोप नहीं वहां कामपूर्तियां इन्द्रियां-न्तर्गत शान्तियां अतुल हैं केवल महान् परमात्मा के अतिरिक्त जड़-वस्तु का कण या प्रकृति का लेश भी नहीं, साथ में मुक्त आत्मा का सुखपूर्ण स्वराज्य है स्वधा और तृप्ति है अर्थात अपनी सत्ता की सम्पत्ति और परमात्मसत्ता की सम्प्राप्ति है यह ऐसा ही घर है कि जिस घर के अन्न का क्षय नहीं और सहवासी परमात्मा से उस अन्न में रस का तर्पण संस्रवण निरन्तर होता रहे। भूख का दुःख न हो, साथ में अमृतरसास्वादन का सुख अतुल हो अर्थात् स्वात्मता में सांसारिक व्याकुलता का नाश और परमात्माश्रय में अपार शान्ति की प्राप्ति हो यह मुक्ति का स्वरूप है ॥१०॥

एवम्—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रा-
येन्दो परिस्रव ॥११॥

(यत्र) जहां (आनन्दाः-च मोदाः-च मुदः-प्रमुदः-आसते) आनन्द, हर्ष, प्रसन्नताएं और शान्तियां विराजमान हैं। तथा (यत्र) जहां (कामस्य कामाः-आप्ताः) कमनीय वस्तु की कामसुख अभीष्ट धाराएं प्राप्त हैं (तत्र) वहां (माम्-अमृतं कृधि) मुझे अमृत करदे—मरणधर्मी देह के सम्पर्क से पृथक्—मुक्तरूप में विराजमान बनादे। अतः (इन्द्राय-इन्दो परिस्रव) मुझ उपासक आत्मा के लिये हे रसीले सुखस्रोत परमात्मन्! परिस्रवण हो—सम्प्राप्त हो॥

परमात्मन्! मोक्ष में यद्यपि कोई भी सांसारिक कमनीय वस्तु नहीं होती जो कि संसार में अपना स्थूलरूप रखती है, परन्तु परमात्मन्! सांसारिक कमनीय वस्तुओं में जो भी सुख है वह तेरी प्रेरणा से है तेरी कला का है और आप जैसे आनन्दगिरि के सम्मुख वह तो सुख

का लेश ही है साथ ही वहां सुख की अप्राप्य स्थिति तथा प्राप्त सुख की क्षयस्थिति में सुख भी दुःख का रूप धारण कर लेता है परन्तु हे परमात्मन् ! मोक्ष में तो आप निरन्तर प्राप्त हैं अप्राप्ति का प्रसङ्ग नहीं और आपके अनन्त होने से क्षय का भी अवसर नहीं पुनः आप तो आनन्दस्वरूप हैं आपके आधार पर क्या कहना ? आनन्द हर्ष प्रसन्नता और शान्ति के प्रवाह तो निरन्तर मुक्त आत्मा को परितृप्त करते रहते ही हैं । अतः कृपालो देव ! मुझे उस मोक्षधाम—अपने अमृत सुख के लिये इस मर्त्यसम्पर्क से पृथक् करदे । मुझ उपासक के लिये दयाकर सम्प्राप्त हो यह मेरी कामना है पूरी करो ॥११॥

विशेष—

मुक्ति शून्यावस्था नहीं है तथा मुक्ति यद्यपि "मुक्ति रन्तरायध्वस्ते न परः" (सांख्य ६।२०) दुःखों का नाश है अन्य का नहीं। परन्तु "तत्राप्यविरोधः" (सांख्य० ६ । ५१) मुक्ति में सुख होने में भी उक्त कथन दुःखों के नाश में कोई विरोध नहीं है दुःख के नाश के अनन्तर ही तो सुख या आनन्द होगा। वेद में कहा है "उरुवारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्" (ऋ० ७ । ५६।१२) खरबूजे फल के बन्धन से छूटने की भान्ति मैं मृत्यु से छूटूं अमृत से न छूटूं । मुक्ति में बाधना रूप जो सर्वथा दुःख है वह भी नहीं और नहीं वह दुःख भी है जो सांसारिकसुख से मिश्रित है जो "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिना" (योग० २।५) अपितु इस प्रस्तुत सूक्त के अन्तिम दो मन्त्रों के अनुसार "कामाः, निकामाः, आनन्दा, मोदाः, मुदः, प्रमुदः, स्वधा, तृप्ति" ये अष्टसुखसम्पत्ति मुक्ति में होती हैं । जिनका विवरण निम्न कोष्ठक से समझें—

१—कामाः (बाह्यविषय सुख सम्पत्तियां दुःखरहित)
२—निकामाः (निहित कामसुख-इन्द्रिशक्तिगत सुखसम्पत्तियां)

३—आनन्दाः (मनोगत मानस सुखविशेष)
४—मोदाः (बुद्धिगत सुखप्रसाद)
५—मुदः (चित्तगत सुखसम्पत्ति)
६—प्रमुदः (अहङ्कारगत सुखानुभूति)
७—स्वधा (आत्मानुभूतिरूप आत्मिक आनन्द)
८—तृप्ति—परमात्मानुभूतिरूप ब्रह्मानन्द)

यह मुक्ति में अष्ट सुखसम्पत्ति है। संसार में इनमें केवल प्रथम सुख "कामाः" नाम से एक ही प्रकार का है। वह भी दुःखमिश्रित "निकामाः" योगियों द्वारा अनुभूत होता है "नासिकाग्रे धारयतो याऽस्य दिव्यगन्धसंवित्" (व्यास) नासिका के अग्र भाग पर धारणा करते हुए की दिव्यगन्ध प्रवृत्ति आदि हैं।



ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८१

ऋषि:—विश्वकर्मा भौवन:=भुवन अर्थात् संसार में आने वाला जन्म पाने वाला विश्वकर्मा—सब कुछ पुण्य पाप आदि कर्म करने में समर्थ स्वतन्त्र[1] आस्तिक जन।

देवता—विश्वकर्मा=विश्व संसार जिसका कर्म है कृति है शिल्प है वह ऐसा विश्वरचयिता परमात्मा[2]।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषि र्होता न्यसीदत् पिता नः। स आशिसा द्रविणमिच्छमानः प्रथम-च्छदवरां आविवेश ॥ १ ॥

(यः-होता-ऋषिः) जो होमने वाला—आदान करने वाला अपने अन्दर लेने वाला सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ परमेश्वर[3] (विश्वा भुवनानि जुह्वत् न्यसीदत्) समस्त पृथिवी आदि लोकों को प्रलयकाल या संहारकाल में होमता हुआ अपने अन्दर लेता हुआ[4] विराजमान है। तथा (सः-न पिता-आशिषा द्रविणम्-इच्छमानः) वह हमारा पिता—जनक एवं रक्षक समस्त विश्व का आश्रयण होने के कारण[5] अपना बल पराक्रम[6] प्रकट—प्रदर्शित करना चाहता हुआ (प्रथम-

---

१. विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्य।

२. विश्वं जगत् कर्म यस्य।

३. "ऋषिरतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञः संहारकर्ता परमेश्वरः (सायणः)

४. "हु दानादनयोः-आदाने च" (जुहोत्यादि०) आदानेऽत्र

५. "आशीराश्रयणात्" (निरु० ६। ८)

६. "द्रविणं बलम्" (निघं० २। ६)

च्छत्-अवरान्-आविवेश) प्रथम ही जगत् के उपादान कारण अव्यक्त को[1] आच्छन्न करने वाला है तथा अवरों स्वापेक्षया अल्पज्ञ अल्पशक्ति वाले चेतनों—जीवों को आविष्ट होता है, अव्यक्त को व्यक्त रूप देने और जीवों को भोग भुगाने के लिये उन पर अपना प्रभाव डालता है—उनमें व्याप्त रहता है।

विश्व के स्वामी परमात्मा का स्वभाव है कि विश्व के समस्त पदार्थों को प्रलय में अपने अन्दर अव्यक्त रूप कर देता है यह उसकी एक शक्ति है दूसरी शक्ति यह है कि वह सबका वशीकर्ता आश्रयदाता जनक होता हुआ पुनः जगत् के अव्यक्तरूप (उपादान कारण) पर और जीवों पर अपना पराक्रम प्रदर्शित कर अव्यक्त को व्यक्त जगत् के रूप में लाता है और जीवों को शरीर धारण करा देता है। न प्रकृति उसके शासन का उल्लंघन कर सकती है और न जीव उसके शासन को तोड़ सकते हैं। यह सृष्टि प्रलय और जन्म मरण का प्रवाह या क्रम उस ईश्वर के अधीन है॥ १॥

अच्छा तो—

किं ꣳ स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्। यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥२॥

(किं स्वित्-अधिष्ठानम्-आसीत्) विश्व को उत्पन्न करते हुए क्या अधिष्ठान—आश्रय था (कतमत् स्वित्-आरम्भणं कथा-आसीत्) कौन सा उत्पत्ति मूल[2] था कैसा था (यतः) जिससे (विश्वकर्मा) विश्व के उत्पत्तिकर्ता परमेश्वर ने (भूमिं द्यां जनयन्) भूमिलोक

---

१. "तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेत" (ऋ० १० । १२९ । ३)

२. आरम्भणम्-आरभ्यतेऽस्मात्-इति, अपादाने ल्युट् "कृत्यल्युटो बहुलम्" (वार्तिकसूत्रम्)।

और द्युलोक को—निकृष्ट लोक से लेकर उत्कृष्ट लोक तक क ' सृष्टि को उत्पन्न करने के हेतु, जिसे (विश्वचक्षाः-महिना व्यौर्णोत्) विश्व-द्रष्टा परमात्मा ने अपने महत्त्व से अव्यक्त प्रकृति को खोल दिया व्यक्त कर दिया सृष्टि की ओर प्रवृत्त कर दिया।

किसी भी वस्तु को उत्पन्न करते हुए या बनाते हुए उसका कोई आधार-स्थान होता है। जैसे घड़े को बनाते हुए कुम्हार का आधार-स्थान घर वा घर का आङ्गन पुनः उसका कोई उपादान कारण भी चाहिए जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी। इसी प्रकार यहां एक ग्राम्य कला के अलङ्कार से कहा गया है कि इस विशाल जगत् का आधार स्थान और उपादान कोई है वेद ने तर्कना के रूप में इन दोनों बातों को प्रस्तुत किया है। विवेचनशील को निश्चय करना चाहिए कि प्रकृति ही परमात्मा का अधिष्ठान था और वही जगत् का उपादान था परन्तु उस विश्वकर्मा के सम्मुख तुच्छ था उसके द्वारा वह आच्छादित था—ढका हुआ था उसका महत्त्व उस पर छाया हुआ था वह तो अनुमानगम्य ही है। उसे उसने व्यक्तरूप दे दिया पर उसे उपासना में हेय समझते हुए उस विश्वकर्मा के महत्त्व का महिमा का गान करना चाहिए क्योंकि अधिष्ठान रूप एवं उपादानरूप प्रकृति अव्यक्त थी उसको जगत् के रूप में व्यक्त करने का निमित्त तो परमात्मा ही है ॥२॥

यह—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावा भूमी जनयन् देव एकः ॥३॥

(विश्वतश्चक्षुः) सब ओर आंख वाला–सर्वत्र व्याप्त नेत्र शक्ति वाला—सर्वत्र व्याप्त शक्ति रूप नेत्र वाला (उत) तथा (विश्वतोमुखः) सब ओर मुख वाला—सर्वत्र व्याप्त मुख शक्ति

वाला—सर्वत्र व्याप्त शक्ति रूप मुख वाला। तथा (विश्वतोबाहुः) सब ओर बाहु वाला—सर्वत्र व्याप्त बाहु शक्ति वाला (उत) तथा (विश्वतस्पात्) सब ओर पैर वाला—सर्वत्र व्याप्त पैर शक्ति वाला (एकः-देवः) एक परमेश्वर देव (जनयन्) अन्य समस्त विश्व को उत्पन्न करने के हेतु (द्यावाभूमी बाहुभ्यां सन्धमति पतत्रैः सं०) पूर्व उत्पन्न हुए द्युलोक पृथिवी लोक को बाहुशक्तियों और पाद-शक्तियों से—शक्ति रूप हाथ पैरों से अर्थात् उक्त दोनों ऊपर नीचे के खगोल भागों को ऊपर नीचे में व्याप्त अपनी शक्तियों से आन्दोलित करता है[1]।

सर्वत्र व्याप्त नेत्र मुख बाहु पैर शक्ति वाले परमात्मा ने अन्य समस्त जगत् को उत्पन्न करने के हेतु ब्रह्माण्ड या खगोल के ऊपर और नीचे वाले भागों को सम्प्रेरित किया। ऊपर वाले भाग को शक्तिरूप हाथों से और नीचे वाले भाग को शक्तिरूप पैरों से आन्दोलित किया, इसी आन्दोलन से सजातीय और विजातीय तत्त्वों के अलग अलग हो जाने से यह विविध जगत् बन गया और निरन्तर बनता जा रहा है। सब ऊपर से नीचे तक जगत् परमेश्वर के अधीन कम्पायमान हो रहा है। उस ऐसे देव को न भूलना चाहिए ॥३॥

पुनः तक्षणालङ्कार से या वन्यकलालङ्कार से जगद्रचनाविचार—

किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा-पृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥४॥

(किं स्वित्-वनं कः-उ सः-वृक्षः-आस) कौन सा वन और कौन वह वृक्ष था (यतः-द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः) जिससे द्युलोक और

---

१. "धमति गतिकर्मा" (निघं० २। १४)

पृथिवी लोक को घड़ा है[1] (मनीषिणः-मनसा पृच्छत-इत्-उ) हे विचारकजनों तुम मन से अवश्य पूछो—विचारो। और (तत्) उस बात को भी विचारो (यत्-भुवनानि धारयन्-अध्यतिष्ठत्) लोकों को धारण करता हुआ जिस पर अधिष्ठित हुआ हुआ है॥

मन्त्र में तक्षणालङ्कार एवं वन्यकला के अलङ्कार से वर्णन किया है। तक्षणकर्ता बढई किसी वन में किसी वृक्ष का घड कर पदार्थ बनाता है; सो यह जगत् भी घड़ा गया है बनाया है विकाररूप है, प्रश्न है किस से घड़ा गया या बनाया गया है किस की विकृति है कौन इस की प्रकृति है? यहां उत्तर में कहा गया है इसका समाधान मनीषी-जनों के सम्मुख है वे सोच सकते और जान सकते हैं तथा इस बात को भी वे जान सकते हैं कि इन लोकों को धारण करता हुआ परमात्मा जिस पर कि वह अधिष्ठित है, स्वायत्त किये हुए है। अतः विचारक मन से विचार करें और जानें कि द्यावापृथिवीमय जगद् रूप काष्ठमयकला या काष्ठभवन का उपादान क्या है निर्माण-स्थान वन कौन सा है जिस पर वह घड़ने वाला अधिष्ठित है अधिकार करके विराजमान है। दोनों प्रश्नों में प्रष्टव्य वस्तु एक ही है जो प्रष्टव्य है वह परमात्मा के अधीन है। इस से परमात्मा के महान् कलाकार है और महान् अधिष्ठाता होने का चित्र खिंच जाता है॥ ४॥

तथा—

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा। शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥ ५॥

(विश्वकर्मन्) हे विश्व को घड़ने-बनाने वाले परमात्मन्! (ते

१. एकवचने बहुवचनं वचनव्यत्ययेन।

धामानि) तेरे धाम—व्याप्ति के स्थान (या परमाणि) जो ऊंचे द्युलोकस्थ (या-मध्यमा) जो मध्यम—अन्तरिक्षलोकस्थ (उत या-अवमा) तथा जो नीचे—पृथिवीलोकरूप हैं (इमा सखिभ्यः शिक्ष) इन्हें समानधर्मी हम जीवों को ज्ञना—इनका ज्ञान दे या शरीर में उनका स्थापन कर (स्वधावः) हे अन्नवन्—हम जीवों के लिये अन्नादि भोग्य पदार्थों के धारण करने वाले परमात्मन ! (तन्वं वृधानः) हमारे शरीर को बढ़ाने के हेतु (हविषि स्वयं यजस्व) हमारे हवि—भोजन भोग के निमित्त या हविर्यो अदन भोजन को[1] स्वयं यजन कर भोगों को प्रदान कर ।

संसार को विवेचन दृष्टि से देखो, इन द्युमण्डल अन्तरिक्ष-मण्डल पृथिवीमण्डल के समस्त लोकों में परमात्मा व्याप्त है वे लोक सब उसके ही ज्ञान के साधन हैं । इन लोकों के ज्ञान के साथ उस परमात्मा का भी ज्ञान होना चाहिए। केवल इनका ही ज्ञान बाहिरी ज्ञान है केवल भटकाने वाला है । उनके अन्तःस्तल में वर्तमान उस स्वामी अन्तर्यामी का ज्ञान परम शान्ति प्रद है । वह जीवों के शरीरों को सम्पन्न संवृद्ध करने के लिये निरन्तर आवश्यक वस्तुओं का यज्ञ करता रहता है । उस ऐसे महाव्यापक अन्नदाता शरीर-संवर्धक देव को जानना मानना चाहिए इसी के जानने में कल्याण है, मोक्ष है विना उसके जाने इनका जानना नीरस है, निःसार है सरस ज्ञान सारवान् ज्ञान तो परमात्मा का ही है ॥ ५ ॥

हे देव !—

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवी-मुत द्याम् । मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिस्तु ॥ ६ ॥

---

१. विभक्तिव्यत्ययः । शिस्थाने ङि ।

(विश्वकर्मन्) हे विश्व को घड़ने वाले, बनानेवाले परमात्मन् ! (हविषा वावृधानः) आदानरूप शक्ति से विशेष बढ़ने के हेतु (पृथिवीम्-उत द्यां स्वयं यजस्व) पृथिवी और द्यौ को पृथिवीलोक द्युलोक को अपने में यजन करता सङ्गत करता है । पुनः (अन्ये जनासः) अन्य जन-जन्यमान जब कि (अभितः-मुह्यन्तु) नितान्त मुग्ध हो जाते हैं (इह–अस्माकं मघवा सूरिः-अस्तु) इस स्थिति में हमारा प्रेरक ऐश्वर्यवान् परमात्मा ही होता है ।

क्या कभी यह सोचा है कि यह सृष्टि कभी प्रलय को प्राप्त हो जावेगी यह ऐसी ही सदा नहीं बनी रहेगी । जैसे इसके भागरूप शरीर सदा नहीं रहते ऐसे ही समुदाय रूप सृष्टि भी सदा नहीं रहेगी किन्तु इसका कभी प्रलय हो ही जावेगा । प्रलय में जीव मुग्ध हो जाते हैं, उस समय सर्वत्र प्रवृद्ध परमात्मा विराजमान होता है, वह मुक्त आत्माओं का मोक्षानन्द में प्रेरक होता है ॥ ६ ॥

मन का सच्चा प्रेरक और साधुकर्मा परमात्मा—

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे-अद्या हुवेम । स नो विश्वानि हवनानि जोषद्-विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥ ७ ॥

(अद्य वाजे) आज जीवन संग्राम में[1] (मनोजुवं विश्व-कर्माणं वाचस्पतिम्) मन को प्रेरित करने वाले, ज्ञान के स्वामी ज्ञानदाता विश्व-रचयिता परमात्मा को (ऊतये हुवेम) रक्षा के लिए हृदय में आमन्त्रित करते हैं—बुलाते हैं (सः-विश्वशम्भूः

१. "वाजः संग्रामनाम" (निघं० २ । १७)

सूरिः–ईरयिता प्रेरक "सुमखस्य सुरिः सुमखस्य बलस्येरयिता" (निरु० १२ । ३)

साधुकर्मा-अवसे) वह विश्व का कल्याणस्वरूप यथार्थ कर्मकर्ता रक्षा के लिये (नः-विश्वानि हवनानि जोषत्) हमारे सब हृद्भावों को प्राप्त हो ॥

मानव के मन को वास्तविक प्रेरणा देने वाला परमात्मा है अन्य कोई नहीं हो सकता क्योंकि वह निर्भ्रान्त है सर्वज्ञ है। यदि मानव निरन्तर अपने मन को उस उत्तम प्रेरक विश्वरचयिता सर्वज्ञ परमात्मा का स्मरण करने में लगावे तो निश्चय हृदयगत भावों को जानकर वह कल्याण स्वरूप देव निज साधुस्वभाव से उसकी रक्षा करता है। सचमुच मानव की वह ही सर्वथा रक्षा करता है जो अन्दर के—हृदय के भावों को जान सके और वही अच्छी प्रेरणा भी दे सकता है। ऐसा सदा सम्पर्क रखने वाला और साधुकारी तो सिवाए ईश्वर के और कोई है ही नहीं। अतः उसकी उपासना करके अपना कल्याण साधना चाहिए अपने मानव जीवन को सफल बनाना चाहिए ॥ ८ ॥



ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ६०

[यजु० अ० ३१]

ऋषिः—नारायणः=नाराः 'आपः' जल हैं क्योंकि 'आपः' नर जिस के सूनु हैं[1] मानवोत्पत्ति के हेतु हैं 'आपः' जल पञ्चमाहुतिरूप में पुरुष नाम से प्रसिद्ध होते हैं[2] अतः 'आपः' जल जो कि प्राणी या जीवों के जन्म हेतुरूप अयन, ज्ञान का आश्रय है जिसका है वह ऐसा जीवजन्म विद्या का जानने तथा जनकरूप परमात्मा का मानने पहिचानने वाला विद्वान् है।

देवता—पुरुषः=समष्टि सृष्टि में पूर्ण पुरुष परमात्मा।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो[3] वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥१॥

(सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात् पुरुषः) असंख्यात[4] शिरों वाला, अनन्त ज्ञान शक्ति वाला, असंख्यात नेत्रों वाला—अनन्त दर्शन शक्ति वाला, असंख्यात पादों वाला—अनन्त गति शक्ति वाला

---

१. "आपो नारा वै प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं तेन नारायणः स्मृतः॥ (मनु० १। १०)

२. "वेत्थ यदा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"
(छान्दो० ५। ३। ३)
"वेत्थो यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वन्दती३" (बृहदा० ६। २। २)

३. "सर्वतः स्पृत्वा" (यजु० ३१। १) पाठः। 'स्पृत्वा=सेबित्वा स्वायत्ती कृत्य।

४. "सहस्रं बहुनाम" (निघ० ३। १)

जो समष्टि पुरुष परम पुरुष विश्व में पूर्ण हुआ परमात्मा है[1] (सः) वह यह (भूमिं विश्वतः-वृत्वा) भूमि को—भुवन को—समस्त जगत् को सब ओर घेर कर—व्याप्त कर (दशाङ्गुलम्-अत्यतिष्ठत्)दशाङ्गुल परिमाण वाले—दश अंगुलियों से स्पष्ट गिने जाने वाले पञ्च स्थूल भूत पञ्च सूक्ष्मभूत रूप जगत् को अतिक्रमण कर स्थित हुआ है अथवा जगत् को पादगत दशांगुल परिमाण बना उससे भी ऊपर स्थित हुआ हुआ है जैसा कि आगे यहां ही कहा है "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (३) समस्त लोकसमूह या जगत् उस पुरुष—परम पुरुष परमात्मा का पाद मात्र है ॥

इस विश्व का रचयिता इसके अन्दर पूर्ण है अत एव वह परम पुरुष कहाता है। वह परमपुरुष परमात्मा अनन्त ज्ञान शक्ति वाला अनन्त दर्शन शक्ति वाला अनन्त गति शक्ति वाला है। विश्व के पदार्थ उसके ज्ञान में हैं, वह सब जीवों के कर्मों को जानता है सब पदार्थों की क्रिया को जानता है। सब उसकी दृष्टि में है, उसके परोक्ष में कुछ नहीं है वह सब का साक्षी है द्रष्टा है, सब की गति उसकी गति के अधीन है कोई भी पदार्थ उसकी विभुगति के परे नहीं जा सकता है। वह समस्त भुवन में समस्त विश्व में व्याप्त है अपितु न केवल व्याप्त ही है किन्तु समस्त जगत् उसके सम्मुख तुच्छ है पादमात्र है वह तो इसे अतिक्रान्त किये हुए इससे बाहिर भी है। ऐसा परिपूर्ण होने से वह परमपुरुष परमात्मा आश्रयणीय है उपास्य है मोक्षप्रदाता है यह जानना चाहिये ॥१॥

पुनः—

---

१. "सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः"
(सायणो महीधरश्च)

"मोक्षे विनियोगः" (उव्वटः)

पुरुष एवेदꣳसर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्[१] ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति ॥२॥

(पुरुषः-एव-अमृतत्वस्य-ईशानः) परम पुरुष परमात्मा ही अमृतत्व—मोक्ष का स्वामी है—अधिष्ठाता है (उत) अपितु (इदं सर्वं यत्-भूतं यत्-च भव्यं यत्-अन्नेन-अतिरोहति[२]) यह सब वर्तमान और जो भूत--गत तथा जो होने वाला जगत् है उसका भी और जो अन्न से—आहार से बढ़ता है उसका भी (पुरुष ईशानः) परमात्मा स्वामी है--अधिष्ठाता है[३] ॥

परम पुरुष परमात्मा ही इस समस्त वर्तमान जगत् का स्वामी अधिष्ठाता है एवं भूत--गत जगत् का भी स्वामी अधिष्ठाता रहा तथा आगे आने वाले जगत् का भी स्वामी—अधिष्ठाता रहेगा और जो शरीर के साथ उद्भूत होता है जीता है बढ़ता है उस जीव का वह परमात्मा स्वामी—अधिष्ठाता है । अपितु वह अमृतत्व अर्थात् मोक्ष का भी स्वामी है—अधिष्ठाता है । यों कहना चाहिये कि प्रकृति से बने सब पदार्थों का और जीवात्मा की समस्त शारीरिक परिस्थितियों का वह स्वामी है । यहां तक कि मोक्ष का भी स्वामी

---

१. "भाव्यम्" यजुः पाठः ।

२. तस्य सर्वस्य पुरुष ईशानः—इत्याकांक्षा । पूर्ण परमात्मा स्वामी है यह यहां आकांक्षा है ।

३. "इदं वर्तमानं सर्वं यच्च भूतमतीत यच्च भाव्यं भविष्यत् तस्य कालत्रयस्य ईशानः । न केवलं कालत्रयस्य ईशानः । उत अमृ-तत्वस्यापि मोक्षस्यापि ईशानः" (उव्वटः)

"यत् जीवजातमन्नेनातिरोहति उत्पद्यते तस्य सर्वस्य चेशानः, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तो भूतग्राम उक्तः तस्याऽन्नेनैव स्थितेः"(महीधरः)

अधिष्ठाता है अर्थात् इस एक पादरूप समस्त जगत् का भी स्वामी है और इससे ऊपर त्रिपाद्रूप अमृतमोक्ष का भी स्वामी है जो कि दो विभाग कहे जाने वाले हैं जो भोग और अपवर्ग के साधन हैं "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (३) इन दोनों का स्वामी है। ऐसे स्वामी का जिसका कि बाहिरी पदार्थों पर भी अधिकार हो और हम जीवों की आन्तरिक स्थितियों पर भी अधिकार हो उसके अन्तर्यामी होने से तथा मोक्ष पर भी अधिकार हो। उस ऐसे अन्तर्यामी सर्वस्वामी परमात्मदेव की अनुमति में रहना उसकी उपासना करना कर्तव्य है और सुख परम शान्ति एवं मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है ॥ २ ॥

तथा--

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

(एतावान् महिमा-अस्य) यह पूर्वोक्त जगत् या यह दृश्यमान जगत् उस परम पुरुष परमात्मा की महिमा है—महात्म्य है—दृष्ट विभूति है (च) और (अतः-ज्यायान् पुरुषः) इससे महान् वह पुरुष है परमात्मा है। यतः (विश्वा भूतानि) कालत्रयवर्ती—तीन कालों से सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ समस्त जीव देह समस्त लोकलोकान्तर (अस्य पादः) इसका एक पादमात्र है—एक अंश में—एक देश में रहने से पादरूप है (अस्य) इसका (त्रिपात्-अमृतं दिवि) शेष त्रिपादोंवाला रूप अमृत—नश्वर सम्पर्क से रहित मोक्ष द्योतनात्मक स्वरूप में या स्वप्रकाशस्वरूप में वर्तमान है ॥

यह इतना बड़ा संसार जिसका पार मनुष्य किसी साधन से नहीं पा सकता। दूर की तो क्या बात यह पृथिवी जिस पर हम रहते हैं इसके अन्दर क्या-क्या है कहां तक है कौन पार पा सकता है कोई नहीं, पुनः इससे लाखों गुणा बड़े पिण्डों का वृत्तान्त तो

दूर ही है अपितु अतिशीघ्रगामी विमान से भी यदि इस संसार का भ्रमण किया जाये तो इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुंचने को एक जन्म में नहीं किन्तु अनेक जन्मों में निरन्तर यात्रा करते हुए भी कोई पार नहीं पाया जा सकता। इतना बड़ा संसार भी जिसके एक अल्प देश में पड़ा है और परम पुरुष परमात्मा जो इसके भीतर पूर्ण हुआ बाहिर भी वर्तमान है उसका अन्त नहीं पार नहीं वह अनन्त है अपार है उसकी सत्ता का स्वीकार करना उसको अपना इष्ट देव बनाना उसकी आराधना करना परम सहारा परम सुख परम शान्ति पाना है ॥३॥

वह—

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥४॥

(त्रिपात् पुरुषः) पूर्वोक्त तीन पादों वाला पुरुष पूर्ण परमात्मा (ऊर्ध्वः-उदैत्) नश्वर संसार से ऊपर उठा हुआ है—अमृतस्वरूप मोक्षरूप है (अस्य पादः-इह पुनः-अभवत्) इसका जो एक पाद जगद्रूप है, वह इधर नीचे निकृष्टरूप में जगत्-नामवाला पुनः पुनः होता है—सृष्टि संहार रूप चक्र में रहता है (ततः) पश्चात् (साशनानशने-अभि) सभोग—जीवात्माओं अभोग—प्रकृति के प्रति (विष्वङ् व्यक्रामत्) उत्पादकत्व धारकत्व नियन्तृत्व कर्मफलप्रदातृत्व आदि विविध शक्तियों से सुगमतया या अनायास प्राप्त होने वाला परमात्मा विक्रमवान् हुआ जीवात्मा और प्रकृति को पकड जगत् सर्जनाभिमुख हुआ।

पूर्ण पुरुष परमात्मा की सत्ता दो स्थानों में है एक स्थान तो जगत् से पृथक् अमृतरूप या मोक्षरूप त्रिपाद्रूप है, दूसरा स्थान है जगत् जो पुनः पुनः उत्पन्न हुआ करता है और जो एकपाद रूप है। भोक्ता जीवात्माएं और अभोक्ता प्रकृति इन दोनों के प्रति

परमात्मा अपनी विविध शक्तियां अर्थात् उत्पादिका धारिका नियन्तृता कर्मफलप्रदातृता से अनायास प्राप्त होता हुआ विक्रम करता है। उन दोनों को जगद्रचना के अभिमुख करता है। उन दोनों से जगत् रचता है, वह ऐसा जानने योग्य है यही निश्चय है ॥४॥

अत एव--

तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥५॥

(ततः-विराड्-अजायत) उस आदि पुरुष परमात्मा से विराट् विविध पदार्थों से राजमान प्रकटीभूत ब्रह्माण्ड या समष्टिरूप जगत् उत्पन्न हुआ (विराजः-अधि-पुरुषः) विराड्--उक्त ब्रह्माण्ड विविध संसार के ऊपर या उसका अधिनायक रूप में पूर्ण परमात्मा है। (पश्चात् सः-जातः) पश्चात् उस उत्पन्न हुए विराट् ब्रह्माण्ड ने पूर्ण पुरुष परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में (भूमिम्-अथ पुरः-अत्यरिच्यत) भूमि को—उत्पत्तिस्थान लोक को इसके अनन्तर प्राणिदेह पुरों—शरीरों को अतिशय से विरेचित किया बाहिर निकाला या प्रकट किया।[1]

जगत् में परिपूर्ण हुआ परमात्मा ब्रह्माण्ड को उत्पन्न कर इसका अधिष्ठाता बना उसके अधिष्ठातृत्व में फिर इस ब्रह्माण्ड का विस्तार हुआ भूमि आदि भिन्न-भिन्न लोकों में विस्तृत हुआ, फिर उन लोकों पर नानाप्रकार के प्राणियों के शरीरों विविध जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज देहों की उत्पत्ति हुई, इनमें भी प्रत्येक के असंख्य भेद शारीरिक आकार के हुए, इत्यादि समस्त विस्तार

---

१. "रिचिर् विरेचने" (रुधादि०) अत्यरिणक्=अतिशयेन बहिर्निःसारितवान् व्यत्ययेन श्नः स्थाने श्यन् विकरणम् ।

जगत् का इस पूर्ण परमात्मा के द्वारा होकर उसके अधीन है। उसे अपने ऊपर जान और मान उसके आदेश का पालन करना चाहिए ॥ ५ ॥

पुनः पुरः अर्थात् शरीरों के विवरणार्थ कथन—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥

(यत्) जब कि (देवाः) आदि सृष्टि के वेदप्रकाशक अग्नि आदि महर्षि विद्वानों ने (पुरुषेण हविषा यज्ञम्-अतन्वत) पुरुष हवि से अर्थात् निज अन्तरात्मा में होमने योग्य—आदान करने योग्य—धारण करने योग्य पूर्ण परमात्मा के द्वारा मानस यज्ञ का अनुष्ठान किया। तब (अस्य) इस यज्ञ का (वसन्तः-आज्यम्-आसीत्) वसन्त ऋतु घृत था (ग्रीष्मः-इध्मः) ग्रीष्म ऋतु ईन्धन (शरत्-हविः) शरद् ऋतु हव्य द्रव्य था।

सृष्टि के आरम्भ में जब शरीरों का आदि निर्माण हुआ तो अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा इन वेदप्रकाशक महर्षि आदि महा-विद्वानों ने पूर्ण पुरुष परमात्मा को लक्ष्य कर अध्यात्म यज्ञ का अनुष्ठान किया, वह अध्यात्म यज्ञ वसन्त ग्रीष्म शरद् ऋतुओं से सम्पन्न हुआ अर्थात् विश्व में पूर्ण पुरुष परमात्मा के प्रति आस्तिक भाव और ध्यान इनके द्वारा प्रवृद्ध हुआ। ऋतुक्रम से भांति-भांति के पदार्थों की उत्पत्ति विकास और समृद्धि को देख बढ़ता चला गया, मानो वसन्त ऋतु इस अध्यात्म यज्ञ का घृत बनकर प्रथम अध्यात्म यज्ञ को उद्बुद्ध करता है—प्रज्वलित करता है ग्रीष्म ऋतु इसका ईन्धन बनकर प्रदीप्त करता है और शरद् ऋतु इसका हव्य पदार्थ बनकर पूर्ण सम्पन्न और समृद्ध करता है। इस प्रकार पुरः अर्थात् शरीरों की सृष्टि में प्रथम वेदप्रकाशक आदि महर्षि शरीरों

के प्रादुर्भाव और साथ ही परमात्मध्यानरूप अध्यात्म स्थिति का वर्णन हुआ ॥ ६ ॥

पुनः—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥

(अग्रतः-जातं तं यज्ञं पुरुषम्) पूर्व से प्रसिद्ध उस यजनीय सङ्गमनीय सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को (बर्हिषि प्रौक्षन्) महर्षिजन हृदयाकाश में या मानस भवन में निज आर्द्र भावनाओं से सींचते हैं—प्रसन्न करते हैं (तेन) पुनः उस पूर्णपुरुष परमात्मा के द्वारा उसे लक्ष्य बनाकर (देवाः) अन्य विद्वान् जन (ये) जो कि (साध्याः-च-ऋषयः) साधनापरायण योगी और मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं उन्होंने (अयजन्त) अध्यात्म यजन किया—सृष्टि के आरम्भ में वेदप्रकाशक आदि विद्वान् महर्षियों के पश्चात् अन्य साध्य जन और ऋषियों का प्रादुर्भाव हुआ ।

आरम्भसृष्टि के सभी जन साध्य अर्थात् साधनापरायण जन हुआ करते हैं और कुछ ब्रह्मा आदि मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी हुआ करते हैं, उन दोनों प्रकार के विद्वानों ने उस परमात्मा को अपने ध्यान-यज्ञ का अवलम्बन बनाया । इस प्रकार आदि सृष्टि से परमात्मा मानवमात्र के ध्यानयज्ञ का अवलम्बन है । उसका ध्यान अवश्य करना चाहिए, यह मानव की विशेषता है और इसी में मानवता है, तथा आगे बढ़ने उच्च पद पाने का मार्ग है ॥ ७ ॥

अन्य शरीरसृष्टि निम्न प्रकार हुई—

तस्माद् यज्ञाद् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥८॥

(तस्मात् सर्वहुतः-यज्ञात्) समष्टि की आहुति जिसमें दी जावे अथवा जो सब के द्वारा हूयमान—ग्रहण करने योग्य है उस ऐसे यजनीय सङ्गमनीय परमात्मा से (पृषदाज्यं सम्भृतम्) अन्न अद-नीय ओषधि वनस्पति वस्तु[1] स्थूल अन्न—दानारूप अन्न पृषत् और रसरूप हरी वनस्पति आज्य है[2] निष्पन्न हुई (तान्–आरण्यान् पशून् वायव्यान् चक्रे) उन वन्य पशुओं पक्षियों को भी उत्पन्न किया (च) और (ये ग्राम्याः) जो ग्राम्य पशु पक्षी हैं उन्हें भी उत्पन्न किया।

परमात्मा ने मानव सृष्टि के अतिरिक्त ओषधि—वनस्पतियों को तथा जाङ्गलिक एवं ग्रामीण पशु-पक्षियों को उत्पन्न किया। परम कृपालु परमात्मा ने मानव के आहारार्थ तथा रोगपरिहारार्थ ओषधि वनस्पति रूप अन्न को और आरोहण तथा भारवाहन एवं रक्षादि व्यवहार के अर्थ पशु-पक्षियों को उत्पन्न किया है । नाना प्रकार की सुगन्ध और स्वादु तथा रस से पूर्ण कन्दमूल फल दिये हैं, सुन्दर रूप वाले मनोहर फूल रचे हैं, कपास आदि के तरु (पौधे) वृक्ष भी उसकी देन है। भिन्न-भिन्न उपयोगी पशु दूध देने वाले ऊन देने वाले भी उसने दिए हैं जहां पशु उपयोगी दिये हैं पक्षी भी मलविषनिर्हरणार्थ और नाना विनोदार्थ उसने बनाए हैं, यह उसकी महती कृपा है, हमें उसके कृतज्ञ होना चाहिये। खाने को यदि अन्न फल न होते सवारी करने भार उठाने आदि को यदि पशु न होते तो मानव जीवन कहां होता कहीं न होता ॥ ८ ॥

पुनः मानवोपयोगी रचना—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥९॥

---

१. "अन्नं हि पृषदाज्यम्" (शत० २ । ८ । ४ । ८)
२. "रस आज्यम्" (शत० ३ । ७ । १ । १३)

(तस्मात्-सर्वहुतः-यज्ञात्) उस सर्वहुत—समष्टि को होमने वाले विकसित करने वाले तथा सबके द्वारा हूयमान—ग्रहण किये जाने वाले सङ्गमनीय परमात्मा से (ऋचः सामानि जज्ञिरे) ऋचाएं और साम मन्त्र उत्पन्न हुए (तस्मात्-छन्दांसि जज्ञिरे) उससे अथर्ववेद के मन्त्र[1] उत्पन्न हुए (तस्मात्-यजुः-अजायत) यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

मानव के कल्याणार्थ परमेश्वर ने वस्तुओं का दान साथ ही वेद का ज्ञान भी दिया, वह ज्ञान है ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद, जिसे कि अग्नि आदि चार महर्षियों के अन्तरात्मा में प्रकाशित किया। परमात्मा जहां हमारी माता है हमारा पिता है मित्र है साथ में वह गुरु भी है। अतः उसने हमें सृष्टि के आरम्भ में ही वेद ज्ञान को दिया जिससे संसार में हम मानव अपने मार्ग को बना सकें और उस पर ठीक चलकर सांसारिक सुख लाभ उठाते हुए मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकें। ऐसा परम कृपालु वह परमात्मा सदा उपासनीय है ॥ ९ ॥

पशुदेह विवरण—

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥१०॥

(तस्मात्) उस पूर्ण पुरुष परमात्मा से (अश्वाः-अजायन्त) घोड़े उत्पन्न हुए (ये के च-उभयादतः) जो कोई दोनों ओर दान्त-रखने वाले हैं वे भी उत्पन्न हुए (तस्मात्-गावः-ह जज्ञिरे) उससे गौएं उत्पन्न हुईं (तस्मात्-अजावयः-जाताः) उससे बकरी भेड़ भी उत्पन्न हुईं।

कृपालु परमात्मा ने भांति-भांति के पशु मानव के उपयोगार्थ उत्पन्न किये हैं। सवारी के घोड़े, भार लादने को गधे ऊंट, दूध

१. "यदिदं किं वर्चो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि" (बृह० १।२।५)

पीने को गौ भेंस बकरी, ऊन लेने को भेड़ दुम्बे उत्पन्न किए हैं। परमात्मा ने तो इन्हें उक्त उपयोगों के लिए उत्पन्न किया परन्तु मानव उन्हें मारने लगा, इनका मारना उसकी रचना के प्रतिकूल होने से पाप है क्योंकि परमात्मा ने इनके अन्दर भी मनुष्य की भांति जीते रहने की इच्छा दी है पुनः इन्हें मार डालना ईश्वरीय व्यवस्था का भंग करना पाप ही तो है ॥ १० ॥

मनुष्य सृष्टि के विवरणार्थ तथा मनुष्यों में रूपकालङ्कार से प्रश्नोत्तर अग्रिम दो मन्त्रों में—

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥

प्रश्न—

(यत् पुरुषं व्यदधुः) जो यह परमात्मा को पुरुषरूप में देहवान् की भांति पूर्ण पुरुष आदि विद्वानों ने—ऋषियों ने माना है (कतिधा व्यकल्पयन्) उसे कितने विभागों में कल्पित किया है। पुनः (अस्य मुखं किम्) मानव जगत् में पूर्ण पुरुष का मुख क्या है—कौन मानव है किस प्रकार का या कैसा मानव है (किं बाहू) कौन भुजाएं (का-उरू) कौन जङ्घाएं हैं, और (पादौ-उच्येते) पैर कौन कहे जाते हैं ॥

उत्तर—

(अस्य मुखं ब्राह्मणः-आसीत्) मानवों में पूर्ण पुरुष का मुख ब्राह्मण है (बाहू राजन्यः कृतः) भुजाएं क्षत्रिय निश्चित किए (अस्य-ऊरू तत्-वैश्यः) इसके जंघाएं वह जो वैश्य है (पद्भ्यां शूद्रः-अजायन्त) पैरों के तुल्य या पादस्थानीय शूद्र हुआ है ॥

मनुष्यों में पूर्ण हुए परमात्मा का रूपकालङ्कार दर्शाया है । जैसे एक व्यक्ति देह वाले पुरुष में मुख, भुजा, जंघा (उदर-जंघा) और पाद- ये चार प्रधान अङ्ग होते हैं वैसे समष्टिरूप पूर्ण पुरुष—परमेश्वर का मनुष्यों में ब्राह्मण मुख है क्षत्रिय भुजा है वैश्य जंघा (उदर-जंघा) हैं शूद्र पैर है । जैसे जैसे मुख आदि अङ्गों में धर्म हैं वैसे-वैसे इनमें हुआ करते हैं और होने चाहिए इस प्रकार अलङ्कार में ब्राह्मण आदि लक्षण तथा कर्तव्य बतलाए गए हैं, अर्थात् जो मुख के समान आचरण करता है वह ब्राह्मण है तथा जो ब्राह्मण बनना और कहलाना चाहे उसे मुख के समान आचरण करना चाहिए । मुख में धर्म हैं सदा नग्न रहना तपस्या,अत्यन्त स्वादु भोजन के मुख में आने पर पास न रखना-त्याग और समस्त ज्ञानेन्द्रियों का होना अर्थात् ज्ञान है । बस जो तपस्वी त्यागी ज्ञानी हो वह ब्राह्मण है तथा जो ब्राह्मण बनना या कहलाना चाहे उसे तपस्या त्याग ज्ञान विज्ञान की ओर चलना चाहिए । बाहुओं में शरीर के शोधन,रक्षण (पालन), त्राण (बचाव) धर्म पाए जाते हैं जिसमें ये धर्म हों उसे क्षत्रिय जानो तथा जो क्षत्रिय बनना चाहे उसे इन धर्मों को धारण करना चाहिए । उदर जंघा या मध्य भाग में भोजन का संग्रह और विभा-जन धर्म हैं ये धर्म जिसमें हो सम्पत्ति का संग्रह व्यापार कृषि आदि से तथा पुनः यथास्थान विभाजन हो वह वैश्य है तथा जो वैश्य बनना या कहलाना चाहे उसे ऐसा करना चाहिए । पैरों का कार्य दौड़ धूप है, वेद में कहा भी है "तपसे शूद्रम्" (यजु० ३० । ५) तप के कार्य में शूद्र को नियुक्त करो उसे प्रमाण मानो । इस प्रकार ब्राह्मण से लेकर शूद्रपर्यन्त समस्त मानवों में पूर्ण परमात्माके रूपको देखो किसी में भी भेदभाव न करो जैसे एक ही देह में मुख आदि अङ्ग उपयोगी हैं अपनाने योग्य हैं ऐसे समष्टि पुरुष परमात्मा के अङ्ग होने से भेदभाव न करके अपनाना उस परमात्मा की यह व्यावहारिक या लौकिक उपासना है ॥११-१२॥

अब उस पूर्ण परमात्मा का भौतिक देवों में रूपक दर्शाते हैं—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखमिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥१३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्।१४

(मनसः-चन्द्रमा-जातः) उस समष्टि पुरुष परमात्मा के मन अर्थात् मनन सामर्थ्य से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, इस प्रकार चन्द्रमा को देख उसकी मनन शक्ति को जानना (चक्षोः-सूर्यः-अजायत) उस परमात्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप से सूर्य उत्पन्न हुआ। सूर्य को देखकर उसके ज्योतिर्मय स्वरूप को जानना(मुखात्-इन्द्रः-च-अग्निः-च-अजायत) मुखसमान तेजोमय भस्मीकरण सामर्थ्य से विद्युत् और अग्नि उत्पन्न हुई। विद्युत् और अग्नि को देख कर उसके भस्मीकारक तेजोरूप शक्ति को जानना चाहिए (प्राणात्-वायुः-अजायत) प्राणनशक्ति प्रेरणशक्ति से वायु उत्पन्न हुआ—वायु के द्वारा उसकी प्रेरणशक्ति को जानना चाहिए।

(नाभ्याः- अन्तरिक्षम्-आसीत्) नाभि से उसके अवकाशमय मध्यवर्ती सामर्थ्य से अन्तरिक्ष प्रकट हुआ। अन्तरिक्ष को देख कर उसकी अवकाश प्रदानवत्ताशक्ति को जानना (शीर्ष्णः-द्यौः-समवर्तत) उसके शिरोवत् उत्कृष्ट सामर्थ्य से द्युलोक वर्तमान हुआ। द्युलोक को देख उसकी उत्कृष्ट शक्ति को जानना (पद्भ्यां भूमिः) पादस्थानीय स्थिरत्वप्रदान सामर्थ्य से भूमि उत्पन्न हुई। भूमि को देख कर उसकी पादशक्ति स्थिरत्वकरण शक्ति को जानना (श्रोत्रात्-दिशः-तथा लोकान्-अकल्पयन्) अवकाशमय सामर्थ्य से दिशाओं और लोकों की रचना को विद्वानों ने कल्पित किया। दिशाओं और लोकों को देख उसकी अनन्त व्यापकता को जानना।

इन दोनों मन्त्रों में भौतिक देवों में उस पूर्ण परमात्मा को

विराट् रूप में देखा है। मन्त्रों में पञ्चमी विभक्ति उसकी शक्तियों का प्रदर्शन करती हुई भी रूपक में गौण है जैसे अन्यत्र वेद में समान विभक्ति द्वारा रूपक विराट् का स्वरूप दिया है "यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरं दिवं यश्चक्रे मूर्धानं सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥" (अथर्व १०।७।३२) भूमि जिसके पाद हैं अन्तरिक्ष उदर द्युलोक को मूर्धा बनाया सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार हो। तथा "चन्द्रमा मनसो जातः" प्रस्तुत दोनों मन्त्रों में भी यजुर्वेद के भाष्य में उव्वट ने रूपक में ही प्रथमा विभक्ति या समान विभक्ति में अर्थ किया है। "चन्द्रमाः मनसः चेतसः जातः अजायतेति कल्पना। मन एव चन्द्रमाः। चक्षोः नेत्राभ्यां सूर्यः नेत्रे एव सूर्यः। श्रोत्रमेव वायुः। अग्निः स मुखाद् अजायतेति कल्प्यते। मुखमिवाग्निः। तस्यैवं-विधस्य पुरुषस्य या नाभिः तदेवान्तरिक्षं नभः। या द्यौः तत् शीर्षं शिरः। पादौ भूमिरेव श्रोत्रे श्रवणौ दिशः॥" (यजु० ३१।१२, १३ उव्वटः) इस प्रकार सृष्टि के देवों को पूर्ण पुरुष परमात्मा के अङ्गों में रूपक देकर उसके विराट् रूप को कल्पित करना पूर्ण पुरुष पर-मात्मा के अस्तित्व को सम्मुख लाना यह उसका ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष है आस्तिक बुद्धि का आधान है। उपासना में प्रथम स्वरूप है। उसकी चन्द्रमा में मननशक्ति एवं मोहक शक्ति, सूर्य में उसका ज्योतिर्मयस्वरूप, वायु में प्रेरक शक्ति, विद्युत् और अग्नि में दाहक शक्ति, अन्तरिक्ष में अन्तर्यमन शक्ति, द्युलोक में उत्कृष्ट शक्ति, भूमि में स्थिरीकरण शक्ति, और दिशाओं तथा लोकों को देख उनमें उसकी अनन्त व्यापकता का अनुभव करना चाहिए॥ १३-१४॥

अब पूर्ण परमात्मा को यज्ञ—मानस यज्ञ—अध्यात्म यज्ञ का रूपक देते हुए फल प्रदर्शित करते हैं अन्तिम दो मन्त्रों द्वारा—

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

मानस यज्ञ का रूपक—

(अस्य) इस मानस यज्ञ—अध्यात्म यज्ञ की (सप्त परिधयः-आसन्) सात परिधियां हैं–'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' ये सात लोक[1]। इन सात लोकों में इनके विवेचन में वर्तमान हैं इनके अन्दर प्रवेश कर यजनीय देव का साक्षात् करना है (त्रिः सप्त समिधः कृताः) तीन वार सात अर्थात् इक्कीस समिधाएं कल्पित की हैं, प्राण ही समिधाएं हैं[2] प्राण अपान आदि दशप्राण तथा इन्द्रियों को भी प्राण कहते हैं[3] मन के साथ ग्यारह इन्द्रियां हैं एवं दोनों इक्कीस प्राण इस मानस यज्ञ या अध्यात्म यज्ञ में समिधा के रूप में होमी जाती हैं—इनकी वृत्तियों को इनके व्यवहारों को होम दिया जाता है (यत्) जबकि (देवाः-यज्ञं तन्वानाः) विद्वान् उक्त मानस यज्ञ–अध्यात्म यज्ञ का अनुष्ठान करते हुए (पशुं पुरुषम्-अबध्नन्) सर्वद्रष्टा पूर्ण परमात्मा को अपने अन्तरात्मा में या हृदय में बान्धते हैं—धारण करते हैं[4] ॥१५॥

---

१. "इमे वै लोकाः परिधयः" (तै० ३।८।१८।४)
२. "प्राणा वै समिधः" (शत० ६।२।३।४४)
३. "प्राणा इन्द्रियाणि" (तां० २।१४।२) "अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरे···सा कागुच्चक्राम···" (छान्दो० ४।१।६–७)
४. "बन्ध बन्धने" (क्र्यादि०)

परम्पराप्रदर्शन पूर्वक मानस यज्ञ वा अध्यात्म यज्ञ का फल—

(देवाः) आदि विद्वानों महर्षियों ने (यज्ञेन यज्ञम्-अयजन्त) मानस या अध्यात्म यज्ञ से यजनीय सङ्गमनीय परमात्मा का समागम करते रहे हैं (तानि धर्माणि प्रथमानि-आसन्) वे ध्यान समाधि रूप धर्म यथार्थ अनुष्ठान प्रथम के हैं प्राथमिक हैं अथवा श्रेष्ठ हैं (ते ह नाकं महिमानः सचन्ते) वे ये मुक्तात्माएं नितान्त सुखस्वरूप मोक्ष का सेवन करते रहे (यत्र साध्याः-देवाः सन्ति) जहां अन्य साधनसिद्ध महानुभाव आत्माएं हैं ॥१६॥

मानव संसार में आया है अध्यात्म यज्ञ करने, संसार में आने का दृष्ट फल तो है भोग, यह फल गौण है। मुख्य फल है इस समष्टि में यज्ञ की भावना कर यज्ञ के यजनीय देव पूर्ण पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार करना उसका दर्शनामृत पान करना। प्रथम इस समष्टि यज्ञ के स्वरूप को समझना हैं। इसकी जो सात परिधियां या परिधान हैं सात लोक जिनसे घिरा हुआ या जिनके अन्दर रखा हुआ यह यज्ञ हो रहा है। इस यज्ञ में जब मनुष्य अपनी इक्कीस समिधाएं सामान्य प्राण नाम से प्रसिद्ध ग्यारह इन्द्रियों अर्थात् इन्द्रियव्यवहारों और प्राण अपान आदि दश प्राणों—उनके उद्वेगों को होम देता है उनका निरोध कर देता है बस फिर इस यज्ञ के देव पूर्ण पुरुष परमात्मा का साक्षात् होता है। ये अध्यात्म यज्ञ के धर्म प्रथम हैं प्रमुख हैं श्रेष्ठ हैं जो इनका सेवन करते हैं वे परमात्मा के नितान्त सुख धाम मोक्ष में पहुंचते हैं जहां पर मुक्ति को प्राप्त हुए मुक्त देव विराजमान होते हैं। अतः मोक्ष पाने के इच्छुक इस संसार को विषयविषपान का स्थान न बनाकर अध्यात्म यज्ञ के रूप में मान इसमें पूर्ण परमात्मा को लक्ष्य कर उसके साक्षात् दर्शनामृत का पान करने मोक्षानन्द लेने के भागी बनें॥१६॥



ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ११७

ऋषिः—भिक्षुः=परमात्मसत्सङ्ग का भिक्षु जन गौणरूप में अन्न का भी भिक्षु—परमात्मसत्सङ्गार्थ ही भिक्षु (अन्न का भिक्षु)।

देवता—धनान्नदानप्रशंसा इन्द्रश्च=धनान्न दान की प्रशंसा और भिक्षाचर्या में अभीष्ट परमात्मा।

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः। उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥१॥

(देवाः) क्षुधम्-इत्-वधं न वै-उ ददुः) विद्वानों ने भूख को ही निश्चय से वध—नाश नहीं धारण किया—माना[1]। क्योंकि (आशितम्-उत-मृत्यवः-उपगच्छन्ति) खा चुके हुए—भरे पेट वाले मनुष्य के पास भी मृत्युएं अपितु नानारूप में प्राप्त होती हैं (उत-उ) तथा च (पृणतः) दूसरे को निज अन्न आदि धन से तृप्त करते हुए का (रयिः-न-उपदस्यति) अन्न आदि धन क्षीण नहीं होता (उत) अपितु (अपृणन् मर्डितारं न विन्दते) दूसरे की तृप्ति—बुभुक्षाशान्ति न करता हुआ जन सुख देने वाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता।

संसार में भूखे ही मरते हैं ऐसा नहीं, भरे पेट मनुष्य भी तो मर जाते हैं बहुतेरे तो अधिक खाने से ही मर जाते हैं वे प्रचुर धनवाले तो चोर डाकू शत्रु और बन्धुओं द्वारा मारे जाते हैं धन के वियोग से भी शोकवश मर जाते हैं। मरना तो सब को अनिवार्य है मरने से कोई भी बच नहीं सकता, अपने भरे पेट होने का अभिमान नहीं करना चाहिए अपितु अपने अन्न आदि में से दूसरे

१. दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः-अक्रूरो ददते मणिम्" (निरु० २।२)

को भी कुछ देना चाहिए। अपने भोजन में कुछ दूसरे को देने से कोई मरता नहीं अपितु दूसरे को तृप्त करते हुए दूसरे की भूख को मिटाते हुए का अन्न आदि क्षीण भी नहीं होता उसे भी अवसर पर कहीं से मिल जाता है। वस्तुतः मरता वही है जो दूसरे की तृप्ति नहीं करता जीते हुए भी उसका अन्तःस्थल मरासा जीवनरहित पाषाण-समान हो जाता है। अन्य संकट के समय तो क्या ही कहना? उस ऐसे कठोर जन को निराश हो अनिच्छित मृत्यु का ग्रास तक भी बनना पड़ता है। इस प्रकार जो दूसरे की भूख नहीं मिटाता वह उस सुखप्रदाता परमेश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता पुनः सुख भी कहां? मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के नाते दूसरे को भी सुखी देखना अपने को भी सुखी बनाना विद्वानों ने माना है यही तो मानवता है यही ईश्वरप्राप्ति का साधन है ॥१॥

पुनः—

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफिताग्रोपजग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतोचित्स मर्डितारं न विन्दते ॥२॥

(यः-अन्नवान् सन्) जो अन्नवाला होता हुआ (आध्राय) क्षीणवृत्ति जन—दरिद्र अङ्गभङ्ग के लिये[1] (रफिताय) हिंसित—व्यथित अन्य प्राणी के द्वारा या रोग के द्वारा पीड़ित के लिये[2] (उपजग्मुषे) शरणागत निर्बल कृश के लिये (पित्वः-चकमानाय) अन्न की कामना करते हुए विद्वान् भिक्षु के लिये (मनः स्थिरं कृणुते) मन को ढीट बनाना है—मन को हिलाता नहीं (उत-उ) अपितु

---

१. "धृङ् अवध्वंसने" (स्वादि०)
"आध्र आढचालुर्दरिद्रः" (निरु० १२।१४)

२. "रफ हिंसायाम्" (कविकल्पद्रुमः)

(पुरा चित् सेवते) स्वयं प्रथम ही अन्न का सेवन करता है खा लेता है (सः-मार्डितारं न विन्दते) वह सुखदाता परमात्मा को प्राप्त नहीं करता ।

जैसे यहां वेद में (उपजग्मुषे) शरणागत निर्बल के लिये (चकमानाय) विद्वान् भिक्षु के लिये (आध्राय) क्षीणवृत्ति दरिद्र के लिये (रफिताय) व्यथित पीड़ित के लिए प्रथम अन्न न देकर मन को ढीट बनाकर स्वयं पूर्व खाता है यह जो कहा गया है ऐसे ही अन्यत्र शास्त्र में उक्त चारों को नामान्तर से अन्न भोजन देने के पात्र बतलाया है । "कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते । अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥" अर्थात् जो मनुष्य कृश—निर्बल के लिये, विद्यावान् के लिये, वृत्तिक्षीण—दरिद्र के लिये, व्यथित पीड़ित के लिये अपनी भूख को मारले अर्थात् स्वयं प्रथम खाए विना इन्हें खिलादे उसके तुल्य श्रेष्ठ कोई पुरुष नहीं । प्रस्तुत वेदमन्त्र में कहा गया है कि इन चारों में से किसी एक को भी प्रथम भोजन न देकर इनसे पूर्व खा लेता है वह सुख देने वाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता । यह अन्न दान न करने या अनादर से दान करने का दोष कहा है । इससे बचना चाहिए ॥२॥

परन्तु—

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय । अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥३॥

(सः-इत्-भोजः) वही भोजनदाता भोजन कराने वाला है (यः) जो (गृहवे) ग्रहणकर्ता—भोजनदान के लेने वाले लेकर खाने वाले दरिद्र के लिये (अन्नकामाय) अन्न चाहने वाले

विद्वान् के लिये (चरते) भटकते हुए व्यक्ति के लिये (कृशाय) निर्बल के लिये (ददाति) देता है (यामहूतौ-अस्मै-अरं भवति) याम अर्थात् समय—अवसर की पुकार पर देने लेने खाने के समय भोजन की आवश्यकता पर इस अन्नदाता के लिये अन्न पर्याप्त हो जाता है (उत) तथा (अपरीषु सखायं कृणुते) दूसरी प्रजाओं के मध्य में अपने को मित्र बनाता है—प्यारा बनाता है।

दान देना अच्छा है पर पात्र को देखकर दान देना अच्छा है, आवश्यकता वाले को उस वस्तु के भूखे को देना चाहिए। ऐसे देने वाला दाता सच्चा दाता है भरे पेट को देना और देने वाला न सच्चा दान और न सच्चा दाता है। भोजन देने से कमी नहीं आती है अपितु पात्र को भोजन देने वाले की महिमा होती है भोजन देने लेने खाने के अवसर पर उसकी सारी आवश्यकता अन्न की पूरी हो जाती है अपितु वृद्धि ही होती है ऐसे सद्भाव से देनेवाले दाता के यहां कहीं न कहीं से अन्न की पूर्ति होती रहती है, अन्न का भण्डार भरता जाता है। अपनों में कहने की बात तो क्या दूसरे लोगों में भी वह उनका प्यारा बन जाता है—वैसे भी वैर छोड़ देता है, परमात्मा ही तो सब कुछ उस पर कृपा करता है। उसका कृपापात्र होना बड़े सौभाग्य की बात है ॥३॥

अन्यथा—

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सच-मानाय पित्वः। अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति-पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥

(सः-न सखा) वह मित्र नहीं (यः सचा भुवे सचमानाय सख्ये पित्वः-न ददाति) जो साथ रहने वाले काम आने वाले, अवसर पर साथ देने वाले, सखा के लिये अन्न नहीं देता है।

पुनः (अस्मात्-अपप्रेयात्) वह उससे अलग हो जाता है—उसे छोड़ देता है (तत्-ओकः-न-अस्ति) वह रहने का स्थान नहीं, ऐसा मानता है। अपितु (अन्यं पृणन्तम्-अरणं चित्-इच्छेत्) अन्य सद्भाव से तृप्त करने वाले पर जन तक को चाहता है उसके पास जाने को उद्यत हो जाता है।

जो मनुष्य समय पर काम आने वाले अपने साथी या मित्र का अन्न आदि से यथावसर स्वागत सत्कार नहीं करता या अवसर पड़ने पर प्रेम से खान-पान में नहीं पूछता उस ऐसे शुष्क जन से वह अलग हो जाता है। इस प्रकार वह एक दिन मित्रों से वञ्चित हो जाता है और उन अपने मित्रों को हाथ से खोकर अन्य पक्षीयजनों के साथ मिल जाने का उन्हें अवसर देता है जव वे मित्र उसके पास से चले जाते हैं तो फिर अकेले अपने भाग्य पर रोना ही कार्य उसके पास रह जाता है, उस ऐसे भाग्यहीन पर ईश्वर की कृपा कहां ? अतः यह बड़े सौभाग्य की बात है कि अपने अन्न-धन से अपना साथी मित्र भी तृप्त हो पुनः इस दातव्य प्रवृत्ति को निकट से दूर तक यशोमयी बनाना चाहिए यह कार्य बड़ा श्रेष्ठ है ऐसे जन पर ईश्वर प्रसन्न होते हैं ॥४॥

अतः—

> **पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत् पन्थाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्ते रायः ॥५॥**

(तव्यान्) प्रवृद्ध समृद्ध जन[1] (नाधमानाय पृणीयात्-इत्) याचना करते हुए पात्र अतिथि आदि को तृप्त करे ही (द्राघीयांसं पन्थाम्-अनुपश्येत्) लम्बे-दूर तक—उदारता के मार्ग को देखे समझे। क्योंकि (रायः) धन-सम्पत्तियां (आवर्तन्ते-उ हि रथ्या

---

१. "तु वृद्धौ" (अदादि०)

चक्रा-इव) रथ के पहियों की भांति ही सदा आवर्तन किया करती हैं (अन्यम्-अन्यम्-उपतिष्ठन्ते) अन्य अन्य के पास आती जाती हैं ॥

समृद्ध जन को चाहिए कि अधिकारी याचक को अवश्य प्रदान कर तृप्त करे, दूरदर्शिता से उदारता के मार्ग को देखे कि धन-सम्पत्तियों का होना तो सदुपयोग के लिए है ही, गाड़ कर मर जाना या छोड़कर मर जाना या बटोरकर मर जाना तो महत्त्व की बात नहीं और फिर ये सदा एक स्थान पर या एक के पास रहतीं नहीं, एक दूसरे के पास आती जाती रहती हैं गाड़ी के पहियों की भांति इन का आवर्तन-घूम-आना-जाना भूमि बदलना होता रहता है। जैसे गाड़ी के पहिए अभी इस भूमि पर दूसरे क्षण दूसरी भूमि पर होते रहते हैं भूमियां बदला करते हैं ऐसे ही सम्पत्तियां भूमियां बदला करती हैं। हमारे और आपके देखते देखते सम्पत्ति दिनों दिन स्थान बदलती रहती है, वह सम्पत्ति आज किसी के पास है तो कल किसी के पास चली जाती है। देखते देखते धनपतियों के धन चले गए—दरिद्र बन गए, दरिद्रों से धनपति बन गए। अतः जब भी धन प्राप्त हो उसका सदुपयोग कर यशोरूप दूध को दूह लेना चाहिए अन्यथा विना दूध की गौ के समान सदुपयोगरहित धन भारमात्र है उसके स्वामी बनना मिथ्या स्वामी बनना है भार उठाना मात्र है ॥५॥

वस्तुतः—

मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥६॥

(अप्रचेताः-मोघम्-अन्नं विन्दते) वह अप्रकृष्टबुद्धि-निर्बुद्धि बेसमझ मनुष्य व्यर्थ अन्न को प्राप्त करता है—कर रहा है (सत्यं ब्रवीमि) सत्य कहता हूं (वधः-इत् सः-तस्य) वध—वधक—घातक

ही है वह उसका–उसके लिये (अर्यमणं न पुष्यति न-उ सखायम्) जो उस अपने अन्न से न ईश्वरोपासक पूजनीय विद्वान्[1] का पोषण करता है न ही समानवंशीय बन्धु तथा समानगुणी मित्र जन का पोषण करता है। ऐसा वह (केवलादी केवलाघः-भवति) स्वयं खानेवाला मात्र पापी—नितान्तपापी-निश्चित पापी होता है॥

मानव एक सामाजिक प्राणी है इसे अपने सुख में दूसरे को भी भाग देना चाहिए अपने अन्न से दूसरे का भी पोषण करना होता है। अपने अन्न में से दूसरे को जो देना है वह किसी को तो कर्तव्य दृष्टि से और किसी को शिष्टाचार की दृष्टि से। जो तो पूजनीय जन धर्मात्मा ईश्वरोपासक ध्यानी ज्ञानी विद्वान् हैं उन्हें तो कर्तव्यदृष्टि से देना है क्योंकि उनका जीवन आस्तिकता आदि सद्गुणों और विद्या के प्रचार प्रसार संसारसुधार में लगा रहता है। दूसरे जन जो अपने सम्बन्धी वंशज तथा मित्र सहयोगी सहवासी हैं उनको अन्न का भाग देना कर्तव्यदृष्टि से भी है और शिष्टाचार की दृष्टि से भी है। पारस्परिक व्यवहार से सुख दुःख समान मानना होता है। जो इनके लिये अपने अन्न का भाग नहीं देता वह दुर्बुद्धि बेसमझ है मानवता से गिरा हुआ है व्यर्थ अन्न को प्राप्त किए हुए हैं। यह सत्य है ऐसा अन्न उसके लिये वधक—घातक है। वह अकेला खानेवाला निश्चित पापी है अधम है॥६॥

और फिर—

---

१. "अर्यमा सप्तहोतृणां होता" (तै० २। ३। ५। ६)

"अर्यं स्वामिनमीश्वरं मिमते मन्यते जानातीति"

(उणादि० १। १५९)

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमपवृंक्ते चरित्रैः । वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात् ॥७॥

(कृषन्-इत् फालः-आशितं कृणोति) खेत जोतता हुआ फाल फालयुक्त हल किसान को अन्न भोक्ता करता है या फालवान् किसान कृषि करता हुआ अपने को अन्न भोक्ता—अन्न खाने में अधिकारी समर्थ बनाता है अपने अन्न को उपजाता है (यन् चरित्रैः-अध्वानम्-अपवृंक्ते) चलता हुआ मनुष्य चलनक्रमों—कदमों तथा चलने के साधनों से मार्ग को लाङ्घता है—यात्रा समाप्त करता है—रास्ता तय करता है (वदन् ब्रह्मा-अवदतः-वनीयान्) प्रवचन करता हुआ ब्राह्मण न बोलनेवाले से सम्भजनीय है प्रिय है सत्करणीय है। एवं (पृणन्-आपिः-अपृणन्तम्-अभिष्यात्) अन्नादि से तृप्त करता हुआ प्राप्त जन—समीपी जन न तृप्त करते हुए न देते हुए पर अभिभूत होजाता है ॥

संसार में वस्तु का सदुपयोग ही श्रेष्ठ है न कि वस्तु का संग्रह । हलसाधनवान् किसान हल चलाता हुआ ही अन्न को पाता है । पैरों से या चलने के साधनों से मार्ग चलता हुआ ही मार्ग को लांघता है—मार्गतय करता है। वेद का ज्ञाता विद्वान् प्रवचन करता हुआ ही अन्य न प्रवचन करनेवाले से अच्छा मोना जाता है उससे ऊंचा मान पाता है। एवं किसी भी अन्न आदि साधन से सम्पन्न जन उससे उपयोग लेता हुआ ही श्रेष्ठ है न कि साधन-संग्रह से श्रेष्ठ बनता है ॥७॥

सदुपयोग सत्प्रयोग सदुद्योग ही श्रेष्ठता का कारण है—

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् । चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन् पंक्तीरुपतिष्ठमानः ॥ ८ ॥

(एकपान्-द्विपदः-भूयः-विचक्रमे) धनादि साधन का एकपाद एक भाग रखने वाला उसके सदुपयोग सत्प्रयोग सदुद्योग के द्वारा दो पाद वाले दो भाग रखनेवाले से अधिक विक्रम कर जाता है आगे बढ़ जाता है—ऊपर उठ जाता है (द्विपात् त्रिपादं पश्चात्-अभ्येति) धनादि साधन के दो पादवाला दो भाग रखनेवाला उसके सदुपयोग सत्प्रयोग सदुद्योग से तीन पाद रखनेवाले तीन भाग रखनेवाले को पीछे प्रेरित कर देता है—पीछे ढकेल देता है । (चतुष्पात्-उपतिष्ठमानः) अन्न आदि साधन के चार पादवाला चार भाग रखनेवाला बैठा हुआ—उसका सदुपयोग सत्प्रयोग सदुद्योग न करता हुआ (द्विपदां पंक्तीः सम्पश्यन्-अभिस्वरे-एति) अन्य सदुपयोग सत्प्रयोग सदुद्योग कर्ता दो पादवालों दो भागवालों की पगडण्डियों को देखता हुआ उनके अभिघोष—आदेश[1] पर चलता है ॥

धनादि साधनों का सदुपयोग सत्प्रयोग करना उनके होने का फल या लक्ष्य है, केवल साधनसम्पत्ति का प्राप्त होना ध्येय नहीं । साधन से साध्य को साधना और ऐसे साधना कि जो सब के लिये साध्य हो । विना साध्य के साधे साधन के बढ जाने से मनुष्य का बढ़ना या महत्त्व नहीं । शरीर में शक्ति का प्राप्त करना अपने और दूसरे के साध्य साधने या हितसाधने के लिये है न कि दुःख और अशान्ति फैलाने के बढाने के लिये । ऐसे अन्न धनादि साधन से साध्य अर्थात् सब का हित साधना लक्ष्य है। साधन

---

१. "स्वृ शब्दे" (भ्वादि०)

के एक भाग वाले भी उसका सदुपयोग सत्प्रयोग करके दो भागवालों स्वापेक्षया द्विगुणित उन साधनसम्पत्तिवालों से भी आगे बढ जाते हैं जो कि साधनों का सदुपयोग सत्प्रयोग नहीं करते। दो भागवाले तीन भागवालों को पीछे छोड़ देते हैं साधनों का सदुपयोग सत्प्रयोग करके। चार भाग साधनवाले केवल बैठे हुए उनका सदुपयोग सत्प्रयोग न करते हुए अपने से आधे साधनवालों की गतियों को देखते हुए उनके आदेश में उनके कहने में चला करते हैं उन्हें उनका अनुचर आज्ञाकारी बनना पड़ता है॥ ८॥

पुनः बाहिरी साधन समानता किसी के साम्मुख्य में समान होने का कारण नहीं किन्तु आन्तरिक गुण योग्यता या उदारभावना ही उत्थान का कारण है, यह बात निःसर्गसिद्ध दृष्टि से दिखलाते हैं--

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातराचिन्न समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञातीचित्सन्तौ न समं पृणीतः॥ ९॥

(समौ चित्-हस्तौ समं न विविष्टः) एक जैसे हाथ भी कार्य में समान प्रवेश नहीं करते (सम्मातरा चित्-न समं दुहाते) बच्चे का एक जैसा निर्माण करने वाली दो धायाएं समानरूप में दूध नहीं पिलाती (यमयोः-चित् समा वीर्याणि न) दो युगलों--जुड़वां बच्चों के भी कार्य करने में समान बल नहीं होते एवं (ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः) परस्पर सम्बन्धी एक वंशीय दो बन्धु होते हुए भी समान अन्न धनसम्पत्ति से अधिकारी याचक को समान रूप में तृप्त नहीं करते॥

अधिकारी व्यक्ति को साधनसम्पन्न व्यक्ति अवश्य तृप्त करे, वह यह न कहे या सोचे कि अमुक व्यक्ति के बराबर धन मेरे पास

हो तो मैं दूं या वह तो देता नहीं मैं क्यों दूं ? ऐसा कहना और सोचना उचित नहीं युक्त नहीं क्योंकि वस्तु का सदुपयोग या सत्प्रयोग करना होड पर समान बाहिरी धन सम्पत्ति या परिस्थिति पर निर्भर नहीं है वह तो आन्तरिक गुण या सद्भावना पर निर्भर है। एक जैसे हाथ होने पर भी कार्य करने में उनका समान प्रवेश नहीं प्रवृत्ति नहीं। बच्चे को पालनार्थ दो धायाएं भी समानरूप से स्नेह कर दूध नहीं पिलातीं, एक साथ हुए दो जुड़वां बालक भी कार्य करने में समान बल नहीं लगा पाते। एवं एक पिता या परिवार में हुए समान साझे की अन्न आदि सम्पत्ति से अन्य अधिकारी को समान रूप से तृप्त नहीं किया करते। अतः धन आदि की समान प्राप्ति की होड पर धन आदि का सदुपयोग सत्प्रयोग निर्भर न करके यथाशक्ति यथावसर सदुपयोग सत्प्रयोग सत्पात्रदान में थोड़े धन होने पर भी करना अत्यावश्यक है, थोडे पर थोडा दान अधिक पर अधिक दान करना चाहिए, आत्मा में उदारता गुण को लाने और परमात्मा की कृपा का पात्र अपने को बनाने तथा सुखप्रद परमात्मा के सत्सङ्ग का लाभ पाने में परम साधन है ॥ ६ ॥

—:(०):—

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२१

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः=प्रजापति परमात्मा की उपासना से उसके विराट् स्वरूप एवं उसके तेज को अपने अन्दर धारणकर्ता प्रजापति परमात्मा का उपासक।

देवता—कः=प्रश्नात्मक अनिर्वचनीय सुखस्वरूप प्रजापति परमात्मा।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१

(हिरण्यगर्भः) हिरण्यमय—चमचमाता हुआ गर्भ सूर्यादिमय मध्यवर्ती गर्भसदृश भुवन जिसका है[1] अथवा हिरण्य—प्रकाशमान सूर्यादिपिण्ड-समूह गर्भ में मध्य में जिसके हैं वह हिरण्यगर्भ परमात्मा (भूतस्य) उत्पन्न हुए समस्त जगत् का पूर्ण (जातः) प्रसिद्ध (एकः पतिः-आसीत्) अकेला स्वामी है। वह (अग्रे समवर्तत) उत्पन्न जगत् से पूर्व वर्तमान था (सः) वह (इमां पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत द्याम्) और द्युलोक को (दाधार) धारण कर रहा है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरूप प्रजापति[2] परमात्मदेव के लिये नम्रभावनारूप भेंट से स्वात्मा को समर्पित करें॥

घर में नाना प्रकार की वस्तुएं, भांति-भांति के खिलोने, अलङ्कार वस्त्रभूषा के पदार्थ किसी शिल्पी ने (कारीगर ने) बनाए यह ज्ञात

---

१. "हिरण्यगर्भः-हिरण्यमयो गर्भोऽस्य" (निरु० १० । २३)

२. "को वै प्रजापतिः" (गो० प्रां० ६ । ३)

"प्रजापति वै कः" (ऐ० २ । ३८)

"सुखं वै कम्" (गो० उ० ६ । ३)

है तब इस सुभूषित अलङ्कृत विविध जगत् का भी तो कोई कर्ता अलङ्कर्ता देव है वह कौन है यह विह्वलता जिज्ञासा उसे अपनी श्रद्धा भेंट देने को होती है। पता चला वह ऐसा देव इस जगत् से पूर्व वर्तमान था कारीगर की भांति पर जगत् के समान दृश्यरूप में न था। दृश्य तो उत्पन्न होने वाला है हां इस दृश्य जगत् से इसके बनाने वाले का बोध अवश्य होता है तो फिर वह इससे पूर्व था तो क्या पूर्व ही था अब नहीं, नहीं ऐसा नहीं, वह अब भी है और पूर्व भी था। वह स्वामी था और अब भी स्वामी बना हुआ है। तो क्या पूर्व था और अब भी स्वामी है इस जगत् से कहीं पृथक् है? कारीगर की भांति था? नहीं! नहीं!! क्योंकि वह भौतिक नहीं वह इससे पृथक् ही नहीं किन्तु इसके अन्दर है और अन्दर भी एक ही स्थान में नहीं किन्तु वह इस समस्त द्यावापृथिवीमय आकाश से लेकर पृथिवीपर्यन्त द्युलोक से पृथिवीलोकपर्यन्त जगत् को धारण किये हुए है इस सब के अन्दर और बाहिर विराजमान है। सो ऐसे प्रजापति हमारे सुखसाधक सुखस्वरूप परमात्मा के लिये हम अपने प्रेम तथा नम्रता से भरे भावों को समर्पित कर उसे अपने अन्तरात्मा में धारण करें ॥ १ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

(यः-आत्मदाः-बलदाः) जो आत्मज्ञान का देनेवाला, बल का देनेवाला (यस्य विश्वे देवाः) जिसके अधीन हुए समस्त चेतनदेव विद्वान् बुद्धिमान् विवेचनशील जन और जड़देव सूर्य आदि (यस्य प्रशिसम्-उपासते) जिसके प्रशासन को सेवन करते हैं—मानते हैं (यस्य छाया-अमृतम्) जिसकी शरण अमृत है (यस्य मृत्युः) जिसकी अशरण मृत्यु है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस ऐसे

प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिए प्रेम नम्रता सद्भावरूप भेंट द्वारा आचरण करें ॥

परमात्मा बडा कृपालु दयालु है, जीवात्मा संसार में अबोधावस्था और अशक्तावस्था में आया है इसे वह अपने को समझने ज्ञानवान् बनने के लिए ज्ञान देता है और अपनी शक्ति का विकास करने के लिये बल देता है। उस ऐसे कृपालु दयालु प्रभु के शासन को समस्त जड़ चेतन देव मानते हैं विशेषतः चेतनदेव वेदद्वारा दी गई उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं और उसकी शरण पाकर अमर बन जाते हैं मृत्यु से परे हो जाते हैं अन्यथा उसकी शरण न लेने से अज्ञानी जन संसार में मृत्यु के पाश में फंस जन्मते मरते रहते हैं। चेतनदेव ही क्या जड़देव भी उसके सृष्टिक्रमरूप प्रशासन को नहीं तोड़ पाते हैं। उस ऐसे प्रशासक परमात्मा की शरण अमृत है—मृतत्व से पृथक् करती है शरण न लेना मृत्यु का ग्रास बनना है ॥ २ ॥

और—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

(यः) जो परमात्मा (प्राणतः-निमिषतः) प्राण लेते हुए और शान्त चेष्टा करते हुए जडरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने महत्त्व से (एकः-इत्) अकेला ही (राजा बभूव) राजा है (यः) जो (अस्य द्विपदः-चतुष्पदः-ईशे) इस दो पैर वाले मनुष्य आदि चार पैरवाले प्राणी पर स्वामित्व करता है। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिये अपने प्रेम नम्रता सद्भावरूप भेंट समर्पित करें ॥

सृष्टि के रचयिता परमात्मा ने चार प्रकार की प्रधान रचना की है। जिनमें मनुष्य, पशु, सरीसृप, शान्तगतिवाले वृक्षवनस्पति। मनुष्य के मस्तिष्क को देखो छोटे से स्थान में छोटे से डब्बे में पांच दश ही नहीं किन्तु पचासों सैकड़ों और हजारों तक विद्याएं समा जाती हैं तथा समा सकती हैं। इसे सैकड़ों सहस्रों डाक्टरों ने चीरा फाडा खोला टटोला पर यह किसी को पता न चला कि कौन विद्या कहां किस झिल्ली या तन्तु में स्थान लेती है। हाथी के मस्तक के साथ लम्बी सूंड लगादी नीचे ऊपर के पदार्थों को ले सके। ऊंट भी तो ऊंचा प्राणी है उसे भी सूंड जैसी लम्बी गर्दन दे दी। पक्षियों के दोनों ओर दो पंख लगा दिए जो दोनों ओर अपना भार तोल कर उड़ सके, इत्यादि सब में उसकी कला भासती है। वह इन सब का अपने महान् सामर्थ्य से अकेला राजा है—स्वामी है। ऐसा ध्यान रखते हुए उसकी उपासना करनी चाहिए॥ ३॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

(इमे हिमवन्तः) ये हिमवालेपर्वत (यस्य महित्वा-आहु) जिसके महत्त्व को कह रहे हैं (रसया सह समुद्रं यस्य) नदियों सहित समुद्र—नदियां समुद्र जिसके महत्त्व को कह रहे हैं (इमाः प्रदिशः-यस्य बाहू) ये समस्त दिशाएं जिसकी बाहु अर्थात् धारण सामर्थ्य है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिये प्रेम नम्रता श्रद्धा सद्भाव की भेंट प्रदान करें॥

जगदीशदेव के रचे ऊंचे ऊंचे हिमवान् पर्वत, लम्बी लम्बी नदियां, फैला हुआ समुद्र और विस्तृत दिशाएं उसके महत्त्व को

बतला रहे हैं। हमने हिमालय पर्वतों पर चढना आरम्भ किया तो प्रथम एक पर्वत शिखर सम्मुख दिखलाई पडा उस पर पहुंचे तो उससे भी ऊंचा अन्य मिला वहां चढ जाने पर उससे भी ऊंचा अन्य पर्वत शिखर सामने आ खडा हुआ, अच्छा उसपर भी चढ गए फिर एवं ऊंचे ऊंचे चढते चले गये तो आगे फिर हिम ही हिम पाया हिम की श्वेतिमा को परखा तो प्रसन्नता-प्रसाद और आश्चर्य के साथ जगदीश का स्मरण आया, भूतल के प्राणी और वस्तुएं विन्दु दीखने लगे और भय भी लगा कि यहां से गिरे तो चकना चूर! अहो तेरी महिमा ? नदियों के साथ साथ यात्रा करते हुए उसकी लम्बाई को देखा और अन्त में समुद्र तक पहुंच समुद्रयात्रा करी, समुद्र की उत्तान तरङ्गों और गहराई मीलों नीचे देख ठण्डी सांस आती है यहां ईश्वर ही रक्षक है। दिशाओं को चारों ओर देखा तो अन्त न पाया तब निष्कर्ष यह समझ में आया कि पर्वतों की ऊंचाई नदियों के बहाव समुद्र की गहराई दिशाओं की असीमता उस जगदीश के महत्त्व को बतला रहे हैं साथ ही मानव को भी उसके स्तवन गुणगान करने का पाठ पढ़ा रहे हैं ॥ ४ ॥

तथा—

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

(येन-उग्रा द्यौः पृथिवी च दृढ़ा) जिस परमात्मा ने तेजोमय द्युलोक को और पृथिवीलोक को दृढ किया (येन स्वः स्तभितं येन नाकः) जिसने सुख तथा नितान्तदुःखरहित मोक्ष को धारण किया है (यः-अन्तरिक्षे रजसः-विमानः) जो अन्तरिक्ष में लोकमात्र को सम्भालने वाला है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरूप

प्रजापति परमात्मा के लिये प्रेम श्रद्धा भेंट समर्पित कर स्वागत करें ॥

ऊपर आकाश की ओर देखा तो चमचमाता हुआ द्युमण्डल नक्षत्रमण्डल दृष्टिपथ आया, भांति भांति के असंख्य ग्रहतारे नक्षत्र सितारे दीखने लगे। कहते हैं कि इनमें बहुतेरे पृथिवी से भी लाखों गुणा बड़े और भी अधिक बड़े हैं, इन सबको सम्भालने थामने वाला परमात्मा ही है। यह पृथिवी पिण्ड ही हमारे से तो बहुत बड़ा है हम तो इसके एक ही छोटे से स्थान में रहते हैं स्थल में या जल में भी हम पूर्ण स्वतन्त्र तथा साधिकार विचर या गति नहीं कर सकते। यह तो इसके पृष्ठ पर हमारी स्थिति हुई पर इसके अन्दर की रचना भिन्न भिन्न वस्तुओं का संग्रह इसमें है कैसे ठसाठस पदार्थ भरे हुए हैं भरने वाला वही जगदीश है। गगन में अनन्त जलराशि और लोक लोकान्तरों को पक्षी की भांति उड़ान शक्ति देनेवाला भी वही है। साधारणसुख और मोक्षधाम भी तो उसके अधीन है जहां का हमें ईश्वर सुख प्राप्त कराता है। आओ उस महान् जगदीश की महिमा का गान करें उसका स्तवन और ध्यान करें ॥५॥

तथां—

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने। यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

(क्रन्दसी) रोदसी-द्यावापृथिवी[1] (तस्तभाने) उस परमात्मा से रोके का ताने (अवसा) रक्षण के हेतु (रेजमाने) कांपते हुए (मनसा) मन से मानो अन्दर ही अन्दर (यम्-अभ्यैक्षेताम्)

---

१. "क्रन्दसी रोदसी" "क्रदि रोदने" (भ्वादि०)
अर्थसामान्य से यहां रोदसी द्यावापृथिवी हैं।

जिसको देखते हैं 'यह वर्णन काव्यभाषा का है। अथवा विभक्ति व्यत्यय से' (यम्) जिसने (अवसा) स्वरक्षण शक्ति से (क्रन्दसी) द्यावापृथिवी को (मनसा) मनन शक्ति से (अभ्यैक्षेताम्) 'अभ्यैक्ष्येताम्' देखे हैं (यत्र-अधि) जिसके आधार पर (सूरः-उदितः) सूर्य उदय हुआ हुआ (विभाति) चमकता है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिये प्रेम श्रद्धा नम्रता भेंट प्रदान करें ॥

ब्रह्माण्ड या खगोल के ऊपर नीचे के दोनों भाग द्यावापृथिवी द्युलोक पृथिवी लोक आकाश में तने हुए खिंचे हुए मानो क्रन्दन करते हुए रोदन करते हुए कांपते हुए रक्षा के हेतु अपने निर्माता रक्षक संस्थारक परमात्मा की ओर मन से देख रहे हैं—उसकी ओर रक्षार्थ मन किए हुए हैं या यों कहिये कि परमात्मा ने रक्षा के हेतु क्रन्दन करती हुई कांपती हुई द्यावापृथिवी—द्युलोक पृथिवी लोक को अपनी मननशक्ति से देखा—जाना तथा सूर्य जिसके अधीन हो उदय हो रहा है। उस ऐसे महान् परमात्मा की हम उपासना करें ॥६॥

तथा—

आपो ह यद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् । ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥

(बृहतीः-आपः-हयत्-अग्नि जनयन्तीः-गर्भं दधाताः) सृष्टि के आरम्भ में महान् अप् तत्त्व[1] परमाणुप्रवाह जब अग्नि को-आग्नेय

---

१. "आपो वा इदमग्रे यत्तःसलिलमासीत्" (जै० उ० १ । ५६ । १)

"तम आसीत् तमसा गूढमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्"

(ऋ० १० । १२९ । ३)

पदार्थ को उत्पन्न करने के हेतु गर्भ धारण करते हुए (विश्वम्-आयन्) विश्व में प्रकट हुए तो (ततः) फिर (देवानाम्-असुः-एकः समवर्तत) समस्त अग्नि आदि देवों का प्राणरूप एक देव देवों का देव परमात्मा वर्तमान था (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस प्रजापति सुखस्वरूप के लिए हम प्रेम श्रद्धा भेंट द्वारा अपने को समर्पित करें ॥

सृष्टि के उत्पत्तिसमय प्रारम्भ में परमाणुप्रवाह व्याप रहा था, जब उसमें प्रवाहितगति हुई तो सर्व प्रथम अग्नि अर्थात् प्रकाश और ताप शक्ति उत्पन्न हुई, इसे ही उसने अपने गर्भ में धारण किया हुआ था पश्चात् अन्य देव सूर्य आदि उत्पन्न हुए। यह ठीक है अग्नि आदि देव प्रथम उत्पन्न हुए परन्तु इन देवों का भी देव तथा इनका प्राणरूप परमात्मा पूर्व से ही वर्तमान था जिसकी शक्ति से आपः-अप् तत्त्व—परमाणुप्रवाह ने इनकी उत्पत्ति के लिये धारण किया था। अतएव वह परमात्मा इनका निमित्त होने से हिरण्यगर्भ है उसकी उपासना करनी चाहिए ॥७॥

पुनः—

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् । यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥

(यः-चित्) और जिसने (महिना) अपने महत्त्व से—महत्ता से (यज्ञं जनयन्तीः) सृष्टियज्ञ—संसारयज्ञ—समष्टि को उत्पन्न करने के हेतु[1] (दक्षं दधानाः-आपः पर्यपश्यत्) बल को—प्रवाहरूप वेग को[2] धारण करते हुए जलसमान बहनेवाले परमाणुओं को देखा[3]।

---

१. "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (अष्टा०)
२. दक्षं बलम्" (निघ० २ । ९)
३. 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" (मनु० १ । ८)
"आपः=अपः" विभक्तिव्यत्ययेयः । 'व्यत्ययेयन प्रथमा अपः" (सायणः)

किसने देखा सो कहते हैं (यः-देवेषु-अधि-एकः-देवः-आसीत्) जो देवों में एक देव था और है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस द्रष्टा प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिये प्रेम श्रद्धा नम्रता भेंट अपना समर्पण करें ॥

परमाणुप्रवाह में संसार को उत्पन्न करने के हेतु एक वैद्युत समान निर्बाध और निर्विराम बल या वेग आ जाता है, वह बल कितना है इसे कोई जान नहीं सकता न अनुमान लगा सकता है। केवल देवों का देव परमात्मा ही जानता है क्योंकि वह बल उसी ने तो डाला है, वह कब तक रहेगा और क्या-क्या करके छोड़ेगा इसका कुछ अवभास इस नानारूप विश्व और इसके प्रलय हो जाने से किया जा सकता है, पूर्णज्ञान तो परमात्मा को ही है, जीव तो अल्पज्ञ है। आओ उस सर्वज्ञ से अधिक ज्ञान लेकर विशेषज्ञ बन जावें उसके सत्सङ्ग का और विश्वभ्रमण का लाभ लें ॥ ८ ॥

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं

सत्यधर्मा जजान। यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥९॥

(यः) जो (पृथिव्याः-जनिता) पृथिवी का उत्पन्न करनेवाला है (वा) और[1] (यः) जो (सत्यधर्मा) सत्यधर्मवाला, अकाट्यनियम-वाला (दिवं जजान) द्युलोक को उत्पन्न करता है (च) और (यः) जो (बृहतीः-चन्द्राः-आपः-जजान) महान् आह्लादकारी जलों को या नक्षत्रतारों से भरे अन्तरिक्षलोक को[2] भी उत्पन्न करनेवाला है।

---

१. "वा-अथापि समुच्चयार्थे वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा वायुश्चत्वा मनुश्च त्वा" (निरु० १।५)

२. "आपोऽन्तरिक्षनाम" (निघं० १।३)

वह (नः-मा हिंसीत्) हमें हिंसित न करे—हिंसा से बचावे-बचाता है। उस (कस्मै देवाय हविषा विधेम) सुखस्वरूप प्रजापति परमात्मा के लिये प्रेम श्रद्धा नम्रतारूप भेंट से अपना समर्पण करें ॥

जिस अटल नियमों वाले परमात्मा ने पृथिवीलोक द्युलोक तथा दोनों के मध्य महान् जलप्रवाहों एवं प्रकाशमान अन्तरिक्ष को उत्पन्न किया है वह हमारा सुखदाता है। उसने यह विश्व हम जीवों के लिए ही बनाया है, हम इस संसार में ऐसा आचरण करें कि जिस से हमें वह सब प्रकार की पीड़ा से बचा सके उस ऐसे सुखदाता और दुःख से त्राता सुखस्वरूप परमात्मा के लिए प्रेम श्रद्धा नम्रता से अपना समर्पण करें ॥ ९ ॥

तथा—

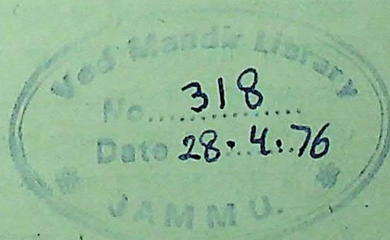
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥

(प्रजापते) हे प्रजायमान-उत्पन्नमात्र वस्तुओं के स्वामिन्! (त्वत्-अन्यः) तुझ से भिन्न (ता-एतानि विश्वा जातानि न परिबभूव) उन इन सारे उत्पन्न हुए पदार्थों का अधिकर्ता नहीं है (यत्कामाः-ते जुहुमः) जो जो कामना रखते हुये हम तेरी आत्म-भावनाओं से उपासना करें—अपने अन्दर तुझे धारण करें (तत्-नः-अस्तु) वह हमारी कामना सिद्ध हो (वयं रयिणां पतयः स्याम) हम उत्तमैश्वर्यों के स्वामी हों ॥

संसार की समस्त वस्तुओं का अधिकर्ता स्वामी परमात्मा ही है अन्य कोई नहीं। हमें जो कामना हो उसी से मांगे अन्य के सम्मुख

न गिडगिडावें, अन्य कोई दे नहीं सकता, देता वही है जो स्वामी हो अस्वामी से मांगना वंचना है धोखा है कालक्षेप करना है। परमात्मा से मांगने पर ही स्वामी बन जाते हैं स्वामी की कृपा ही फलप्रद होती है अस्वामी की नहीं फलती, अस्वामी कृपा कर ही क्या सकता है। उस ऐसे महान् कृपालु सुखस्वरूप प्रजापति परमात्मा की अर्चना प्रेम श्रद्धा नम्रता से हमें अवश्य करनी चाहिए ॥१०॥





ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२९

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी=सृष्टि से पूर्व स्वस्वरूप में वर्तमान विश्वराट् विश्वरचयिता परमात्मा, उपाधिरूप में भाववृत्त का ज्ञाता एवं प्रचारक भी प्रजापतिरूप में प्रसिद्धिप्राप्त विद्वान् ।

देवता—भाववृत्तम्=वस्तुओं का उत्पत्तिवृत्त ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा-परो यत् । किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥

(तदानीम्) उस समय—सृष्टिकाल से पूर्व प्रलयावस्था में (असत्-न—आसीत्) शून्य नहीं था—नितान्त अभाव नहीं था। तथा (सत्-न-उ-आसीत्) सत् अर्थात् प्रकट रूप में भी कुछ वर्तमान न था (रजःन-आसीत्) रञ्जनात्मक प्रदेश—कणमय गगन अर्थात् अन्तरिक्षलोक भी न था[1] (परः-व्योम न-उ) विश्व का सीमावर्ती आकाश—खगोल भी न था[2] पुनः (किम्-आवरीवः) कौन अत्यन्त घेरने योग्य=परिसीमित करने योग्य है—किस को परिसीमित किया जावे अर्थात् ऐसा भी कुछ न था (कुह) घेरने योग्य वस्तु के घेरने का प्रदेश भी कहां अर्थात कहीं नही—कोई नहीं था।

---

१. "भुजिरञ्जिभ्यां कित्" (उणादि० ४ । २१७) सूक्ष्मधूलिः (दयानन्दः) "रजसो अन्तरिक्षलोकस्य" (निरु० १२ । ७)

२. "वि ऽ ओम्"=वि-ओम्=विशेष रक्षक पारवर्ती सीमावर्ती घेरा खगोलरूप आकाश ।

तथा (कस्य शर्मन्) किसके सुख शान्ति के निमित्त[3] (गहनं गभीरम्-अम्भः किम्-आसीत्) गहन गम्भीर सूक्ष्म जल भी क्या हो अर्थात् कुछ नहीं था जिससे कि भोग्य सामग्री उत्पन्न होती है जिस में कि आरम्भ सृष्टि में बीज ईश्वर डालता है[4] ॥

विचारशील पुरुषो ! क्या कभी सोचा कि इस वर्तमान सृष्टि से पूर्व क्या था ? इस वर्तमान सृष्टि से पूर्व शून्य तो न था क्योंकि शून्य से उत्पत्ति या व्यक्ति का प्रकाश नहीं हुआ करता, पर जो था भी वह भी प्रकट सत्ता रूपमें न था, तब क्या धूलिसमूह जैसा कण-समूह था सो भी नहीं और न विश्व को सीमित करने वाला आकाश था । जब सीमित करनेवाला आकाश भी न था पुनः सीमा में आने वाला पदार्थ भी क्या हो सकता है वह भी न था यही जानना चाहिए। स्मरण रहे जहां घेरा जावे ऐसा प्रदेश भी तो नहीं था पुनः ऐसी स्थिति में किसी भोक्ता जीव के सुख शान्ति निमित्त आश्रय गहन गम्भीर सूक्ष्म जल भी पानार्थ न था—स्थूल भोग की तो क्या कथा ? सृष्टि से पूर्व व्यक्त और सूक्ष्म रूप में कुछ भी उत्पन्न हुआ पदार्थ न था, बस यही सृष्टि से पूर्व की स्थिति जानना और मानना चाहिए। मनु ने भी कहा है "अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" (मनु० १ । ५) कुछ न कहने योग्य न जानने योग्य सब ओर सोया हुआ सा फैला हुआ था ॥१॥

तथा—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसी-त्प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥

---

३. "शर्म सुखनाम" (निघं० ३ । ६)

४. "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् (मनु० १ । ८)

(मृत्युः-न-आसीत्) सृष्टि से पूर्व मृत्यु—मारक शक्ति भी न थी (तर्हि) तब मृत्यु के अभाव में (अमृतं न) अमृत भी न था—न मारक शक्ति से विपरीत अमृत अर्थात् मुक्ति थी—सब जीव मुक्तावस्था में थे ऐसा भी नहीं कह सकते तथा (रात्र्याः-अह्नः प्रकेतः-न-आसीत्) रात्रि का दिन का प्रज्ञान अर्थात् पहिचान पूर्वरूप भी न था। था तो केवल (तत्-एकम्-अवातं स्वधया-आनीत्) वह केवल वायु की अपेक्षा न रखता हुआ स्वधारण-शक्ति से सदा जीता जागता चेतन ब्रह्म था (तस्मात्-अन्यत् किञ्चन परः-न-आस) उससे भिन्न कोई दूसरा न था।

सृष्टि से पूर्व क्या मृत्यु का राज्य था ऐसा भी नहीं कहा जा सकता मरने वाली—नश्वर वस्तु के साथ मृत्यु का सम्बन्ध है जब कोई नश्वर वस्तु ही नहीं थी-फिर मृत्यु कैसे उस समय हो पुनः मृत्यु का प्रतिद्वन्द्वी अमृत था सो भी नहीं क्योंकि अमृत कहते हैं 'न मृत' मृत्यु से छूटना तो कैसे जड़ वस्तुओं के मृत्यु से छूटने का कथन युक्त नहीं पुनः सृष्टि होने से जीव का मृत्यु से छूटना शरीर नष्ट होने से नहीं किन्तु शरीरधारण के कारणभूत राग आदि से छूटना अमृत अर्थात् मोक्ष का पाना होता है सो इसका भी अचेत और प्रयत्नहीन दशा में उस समय अमृत नहीं था। रात्रि का या दिन का भी चिह्न न था क्योंकि ये सृष्टिदशा में ही होते हैं। बस केवल सत्ता थी जीती जागती शक्ति ब्रह्म या परमात्मा नाम से कही जाती है। परन्तु वह वायु के आधार से जीने वाली सत्ता नहीं किन्तु वह तो अपने ही आधार से जीने वाली और सदा जीने वाली अपितु जिसके आधार पर अन्य जीने वाले जीते हैं, दूसरों को जीवन देने वाली सब की जीवनाधार शक्ति ब्रह्म था, उससे भिन्न जीता जागता सचेत सावधान कोई न था ॥ २ ॥

हां उस समय एक स्थिति और यह थी—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । तुच्छ्येनाम्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ३ ॥

(अग्रे तमसा गूढम्) सृष्टि से पूर्व जो था अन्धकार से आवृत (तमः-आसीत्) अन्धकाररूप था (इदं सर्वं सलिलम्-अप्रकेतम्-आः) यह सब उस समय जो था वह जल की भांति जलसमान एकीभूत अविज्ञेय था (तुच्छ्येन यत्-अपिहितम्-आभु-आसीत्) तुच्छरूप से छिपा हुआ 'आभु' सब ओर फैला हुआ जो अव्यक्त प्रकृतिनामक उपादान कारण था (तपसः) परमात्मा के ज्ञानमय तप से (तत्-महिना-एकम्-अजायत) वह महत्तत्त्व के रूप में एक उस अनन्त परमात्मा के सम्मुख प्रादुर्भूत हुआ।

सृष्टि से पूर्व अन्धकार सा था, जो था जानने योग्य न था, जलसमान एकीभूत फैला हुआ पड़ा था। जैसे मनुस्मृति में भी कहा है "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" (मनु० १।५) अर्थात् यह अन्धकाररूप न जानने योग्य लक्षणरहित तर्कना के अयोग्य बताने समझाने के अयोग्य गूढ़ सोया जैसा शान्त सर्वत्र फैला हुआ अव्यक्त था। पुनः वह अव्यक्त परमात्मा के सम्मुख तुच्छरूप में था एक देशी था तथा तुच्छरूप न होने जैसा छिपा हुआ था। जैसा भी था वह उस परमात्मा के ज्ञानमय तप से प्रथम महत्तत्त्व के रूप में उसके सम्मुख आया, या वह सृष्टिक्रम में प्रथम कार्यावस्था में आया। इस प्रकार यह 'आभु' नाम का पदार्थ—अव्यक्त उपादान कारण प्रकृति यहां कहा गया है जिसके लिये आगे "इयं विसृष्टिर्यत आबभूव" मन्त्र ७ में "आबभूव" क्रिया के साथ सम्बन्ध रखने से 'आभु' नाम सार्थक हुआ। तथा "यो अस्याध्यक्षः" (७) जो परमात्मा इस 'आभु' का अध्यक्ष है॥ ३॥

तथा एक अन्य स्थिति यह भी थी—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

(कामः-तत्-अग्रे समवर्तत) सृष्टिसे पूर्व काम अर्थात् जीवात्माका वासनाभाव या सङ्कल्प वर्तमान था (यत्-मनसः-अधि रेतः-आसीत्) जो कि मन के अन्दर शरीर धारणार्थ एक बीजरूप था[1] (कवयः) जिसे क्रान्तदर्शी विद्वानों ने (असति सतः-वन्धु मनीषा प्रीतष्य) अशरीरी—आत्मा में आत्मा के निमित्त शरीर का बान्धने वाला अपनी विवेचनशील बुद्धि से प्रतीत करके निश्चय करके (हृदि निरविन्दन्) हृदय में निर्विण्ण हो गए वैराग्य को प्राप्त हो गए ॥

सृष्टि की रचना जीवात्माओं के लिये हुई अतएव यहां कहा है कि सृष्टि से पूर्व काम-वासनाभाव था, सो वह जीवात्माओं का था परन्तु वह मन के अन्दर वर्तमान हुआ हुआ जीवात्माओं के शरीर धारण करने में बीज था । योगी, ध्यानी, ज्ञानी महात्माओं ने योगज बुद्धि से अशरीर—शरीर से भिन्न सत्ता चेतन आत्मा के निमित्त शरीर का बन्धन अर्थात् शरीर में आने का बन्धन जानकर—निश्चय कर हृदय में एतदर्थ वैराग्य धारण कर लिया । कामभाव—वासनाभाव देहधारण में कारण है यह यथार्थ है । वासना के अभाव से मोक्ष हो जाता है, योगीजन इस कामभाव या वासना-भाव को इस प्रकार शरीर धारणरूप संसार का पुनः पुनः जन्म मरण का हेतु जान वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं, और उस कामभाव को त्याग कर मोक्ष-भागी बनते हैं । यहां मन्त्र में इस प्रकार विवेचन में ईश्वर और अव्यक्त प्रकृति से भिन्न एक तीसरी सत्ता जीवात्मा भी आई

---

१. "रेतः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवति" (ऐ० ३ । २)

है जो कि सृष्टि से पूर्व वर्तमान थी जिसके कि कामभाव—वासनाभाव की पूर्ति के लिये यह सृष्टि ईश्वर ने रची है। इसीलिए यह विविध सृष्टि है क्योंकि उक्त पूर्ति के लिए जीवों के कर्म विविध हैं॥ ४॥

उक्त वैराग्य का विवरण या वर्णन—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासीत्। रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

(रेतोधाः-आसन्) सृष्टि से पूर्व रेतोधाः थे अर्थात्—रेतः-शरीर की बीज शक्ति जो पूर्व मन्त्र में कामभाव—वासनाभाव कहा गया है उसे धारण करने वाले जीवात्मा थे (महिमानः-आसन्) वे महान् थे—असंख्य थे[1] (एषां रश्मिः) इनका बन्धन या इनकी बन्धनरस्सी-लगाम[2] अदृष्ट—पूर्वकृत कर्म संस्कार (तिरश्चीनः-विततः) विस्तृत फैला हुआ था[3]। जो (अधःस्वित्-आसीत्-उपरिस्वित् आसीत्) नीचे भी था—नीच योनिवाला भी था और ऊपर भी था—उत्कृष्टयोनि वाला भी था। उनके (अवस्तात् स्वधा परस्तात् प्रयतिः) इधर—शरीर के पूर्व भाग में स्वधा अर्थात् 'स्व-धा' अपने को शरीर में धरना—जन्म पाना है और उधर—शरीर के पर भाग में प्रयति-प्रयाण अर्थात् शरीर को छोड़ कर चल देना—मृत्यु है॥

सृष्टि में जन्म लेने वाले और मुक्ति में रहने वाले जीवात्मा असंख्य हैं; जिनको वैराग्य नहीं अथवा जो मुमुक्षु नहीं या मुक्ति

---

१. महत्-इमनिच्। इमनिच् स्वार्थे। तथा च सायणः
'स्वार्थे-इमनिच् (सायणः)

२. "अभिशवो वै रश्मयः" (शत० ५।४।३।१४)

३. "तिरस्तीर्णो भवति" (निरु० ३।२०)

में नहीं हैं ऐसे जीवात्माओं को शरीर में बान्धने के लिए बन्ध पाश रस्सी या लगाम जो कामभाव-वासनाभाव है वह विस्तृत फैला हुआ है। कोई बन्धन या लगाम निकृष्ट योनि में खींच लाता है और कोई उत्कृष्ट योनि में ले आता है, नीच योनि हो उत्कृष्टयोनि हो है बन्दीघर ही। इस शरीररूप बन्दीघर के दो सिरे या द्वार हैं, जिनमें एक सिरा या द्वार है जन्म-शरीर में आना और दूसरा सिरा या द्वार है प्रयाण--मृत्यु--शरीर को त्यागना। जीव का शरीर में आना और इससे निकलना स्वेच्छया नहीं—स्ववश नहीं है किन्तु कर्मानुसार ईश्वराधीन है। शरीर में आना तो अदृष्ट--पूर्वजन्मकृत कर्म के अनुसार ईश्वराधीन है और प्रयाण--मृत्यु--शरीर से अलग होना पूर्वजन्म तथा वर्तमान जन्म में किए कर्मानुसार ईश्वराधीन है। इस प्रकार शरीर में पराधीन आता है और इससे पराधीन ही जाता है। यह स्वाधीन है तो जन्म और मरण के बीच का जीवन या जीवनकाल, इस पर पूर्ण अधिकार करके ही विवेकी दूरदर्शी महानुभाव अभ्युदय प्राप्ति के साथ निःश्रेयस-अध्यात्म-मोक्षसाधना का आचरण करते हैं तब जन्म मरण के चक्र से बच जाते हैं ॥ ५ ॥

अहो—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥

(कः-अद्धा वेद) कौन तत्त्वतः जानता है (कः-इह प्रवोचत्) कौन तत्त्वतः-खोलकर इस विषय में प्रवचन कर सके, कि (कुतः-इयं विसृष्टिः कुतः-आजाता) कैसे यह विविध सृष्टि किस निमित्त करणद्वारा प्रादुर्भूत हुई (अस्य विसर्जनेन[1] अर्वाक्-देवाः) इस

---

१. विसर्जनात्। विभक्तिव्यत्ययेन तृतीया।

जगत् के मूलकारण का विभागीकरण हो जाने के पीछे उत्पन्न हुए देव अर्थात् विद्वान् जन हैं, उनमें से (अथ कः-वेद यतः-आबभूव) पुनः कौन जान सकता है जिस उपादान कारण से यह सृष्टि प्रादुर्भूत हुई।

इस सृष्टि में भांति-भांति की विविधता पाई जाती है। यहां सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण भी मिलते हैं तथा वस्तुओं में परस्पर प्रधानभाव और गौणभाव भी पाए जाते हैं साथ ही परस्पर विरोधी तत्त्व भी मिलते हैं। अग्नि है तो विरोधी जल भी है, पृथिवी ठोस है तो जल तरल भी है, पृथिवी जल स्थूल एवं भारवान् हैं तो अग्नि वायु सूक्ष्म एवं हलके भी हैं। ऊंचा पर्वत है तो नीचा समुद्र भी है, किन्हीं वस्तुओं में मिठास है तो किन्हीं में खटास भी है, कोई रंग में गोरा है तो काला भी है, सुगन्ध है तो दुर्गन्ध भी हैं, संजीवन है तो विष भी है। स्थलचर है तो गगनचर भी है, फूल हैं तो कांटे भी हैं। इत्यादि विविध सृष्टि परस्पर विरोधी पदार्थमयी सृष्टि किस उपादान से बनी उसका स्वरूप कैसा है और ऐसे विरोधी पदार्थों की रचना एक आश्रय में किसके द्वारा अथवा किसकी प्रेरणा या किसकी शक्ति से हुई अर्थात् कौन और कैसा निमित्तकारण है? यह सब तत्त्वतः कौन जानता है और कौन खोल कर दूसरे को प्रवचन कर समझा सकता है ऐसा कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं। विद्वान् जन अपनी बुद्धि को दौड़ाते हैं उन्होंने कुछ जाना और दूसरों को प्रवचन द्वारा जनाते भी हैं किन्तु तत्त्वतः जानने वाला और प्रवचन कर समझाने वाला तो कोई नहीं है। भला कैसे कोई तत्त्वतः जाने और प्रवचन कर समझावे ये तो पश्चात् उत्पन्न हुए हैं पुनः कैसे पूर्वकालिक सृष्टि से पूर्व के वृत्त तक पहुंचे। वर्तमान सृष्टि का भी पूर्ण ज्ञान या समस्त सृष्टि का ज्ञान तो क्या इसके किसी एक अङ्ग पृथिवीपिण्ड के सम्बन्ध में भी इसके केन्द्र

तक क्या-क्या भरा पड़ा है और किस स्वरूप वाले तथा किस गुण वाले वे पदार्थ हैं उन्हें कौन जाने और कौन कह सके ? यह तो इस पृथिवी पर की एक वस्तु की रचना के सम्बन्ध में है शरीरकला का भी तत्त्वतः ज्ञान नहीं सामुद्रिक प्राणियों की शरीरकला जानना तो अतिदुष्कर ही है। फिर सृष्टि के पूर्व की बात कोई विद्वान् कैसे तत्त्वतः जान सके और बता सके ? जो कि सृष्टि के अन्दर भूत-विसर्जन के पश्चात् आया या जन्मा। तब तत्त्वतः जानने वाला केवल परमात्मा ही है यह अगले मन्त्र में कहा है ॥ ६ ॥

अब पूर्व मन्त्रोक्त प्रश्न का उत्तर देखें—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि
वा न वेद ॥ ७ ॥

(इयं विसृष्टिः-यतः-आबभूव) यह विविध सृष्टि जिस उपादान कारण से प्रादुर्भूत हुई—समस्त रूप से व्यक्त हुई[1] (अस्य यः-अध्यक्षः परमे व्योमन्) इस उपादान कारण अव्यक्त प्रकृति का जो अध्यक्ष महान आकाश में वर्तमान है (अङ्ग) हे जिज्ञासु ! (सः) वह अध्यक्ष परमात्मा (यदि वा दधे यदि वा न) चाहे तो इस विविध सृष्टि को धारण करे—सृष्टि के रूप में रखे चाहे तो न धारण करे—संहार करदे यह उसके अधिकार में है। और वह अध्यक्ष परमात्मा (वेद यदि वा न वेद) इसके उपादान कारण को चाहे तो जाने अपने ज्ञान में रखे चाहे तो न जाने न ज्ञान में रखे,

१. मन्त्र में 'अस्य-अध्यक्षः' में 'अस्य' यह शब्द 'यतः आबभूव' के कथन मे 'आबभूव' क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले उपादान कारण अव्यक्त के लिए आया है जिसको कि उक्त क्रियानुसार मन्त्र ३ में 'आभु नाम दिया गया है।

ज्ञान में रखना सर्जन की ओर नम्र कर देना सृष्टि का प्रारम्भ कर देना, न ज्ञान में रखना इसका कुछ न बनाना मूलरूप में उपादान-रूप में पड़े रहने देना प्रलय स्थिति को बनाए रखना। इस प्रकार उत्पत्ति प्रलय पर भी उसका अधिकार है॥

इस विविध सृष्टि का उपादान कारण अव्यक्त प्रकृति नाम का है, वह ही व्यक्तरूप में विविध सृष्टि बन जाता है, कैसे बन जाता है यह सङ्केत यहां मन्त्र में दिया है कि जब परमात्मा इसकी ओर ध्यान करता है कि इसकी सृष्टि बनाना है तब वह सर्जन करना सृष्टि को उत्पन्न करना आरम्भ कर देता है जैसे कुम्हार जब देखता है हां मिट्टी है तब उससे वह घड़ा बनाने का आरम्भ कर देता है। पुनः परमात्मा सृष्टि को बना कर धारण करता अर्थात् उसे निश्चित समय तक--नियत अवधि तक बनाए रखता है, पश्चात् उसका संहार करना आरम्भ कर देता है पूरा संहार हो जाने पर मूलरूप में उतने ही समय तक—उतनी ही अवधि तक रखता है प्रलय बनाए रखता है--प्रकृति की ओर से नितान्त उपेक्षा रखे हुए होता है मानो उस समय उसे जानता ही नहीं। इस प्रकार उस ऐसे अनुपम कलाकुशल अध्यक्ष को जानना उसकी उपासना करना मानव के लिये अत्यन्त अनिवार्य है और जीवन का परम ध्येय है॥ ७॥



यजुर्वेद अध्याय ४०

ऋषिः—दीर्घतमाः=दीर्घ अन्धकारवाला—दीर्घकाल से अज्ञानान्धकार से युक्त तथा दीर्घ अर्थात् जीवन[1] की आकांक्षा करनेवाला[2] पुनः पुनः मृत्यु से छूट कर अमृतत्व का इच्छुक मुमुक्षु जन।

देवता—२-३, ५-१७ आत्मा=जडजङ्गमरूप विश्व का आत्मा विश्वात्मा परमात्मा। ४ ब्रह्म।

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१

(जगत्याम्) जगती में—जगतों के समूहरूप समष्टि सृष्टि में (यत् किम्-च) जो कुछ भी (इदं सर्वं जगत्) यह सब जगत् चल परिणामयुक्त कार्य वस्तु—प्रत्येक कार्य वस्तु है—जड़ जङ्गम वस्तु मात्र है। वह (ईशा वास्यम्) ईश्वरद्वारा वास अर्थात् निवास और आवास में अधिकरणीय अवश्य अधिकार करने योग्य[3] अवश्य अधीन करने योग्य है—साधिकार वासित और आच्छादित है (तेन) तिस से—ऐसा होने पर—इस हेतु (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) हे नर[4] हे मानव! तू त्याग से—वर्जन और निर्लेप भाव

---

१. "आयुर्वैदीर्घम्" (तां० १३।११।१२)

२. "तमु आकांक्षायाम्" (दिवादि०)

३. "वस निवासे" (भ्वादि०) "वस आच्छादने" (अदादि०) श्लेषलङ्कार से दोनों अभीष्ट हैं।
   आवश्यके ण्यत् "कृत्याश्च" (अष्टा० ३।३।१७१)

४. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥ इस उत्तर मन्त्र से 'नर' शब्द सम्बद्ध है।

से उक्त जगत् को भोग। अतः (मा गृधः) मत स्पृहा कर—मत ललचा। क्योंकि (धनं कस्य स्वित्) धन—भोग पदार्थ किसका है ? सोच क्या किसी का है ? अर्थात् किसी का न हुआ न है और न होगा॥

प्यारे मानवसन्तान! तू ने नानाविधपदार्थमय संसार में पदार्पण किया यहां आते ही तेरे अन्दर इसे भोगने की प्रवृत्ति जागी इससे यह तो तेरी समझ में आगया ही कि जगत् का और तेरा भोग्य—भोक्ता सम्बन्ध है। मन्त्र में 'भुञ्जीथाः=इसे भोग' यह तुझे भोगने का आदेश दिया है। परन्तु तूने क्या यह सोचा कि जगत् को भोगने के लिये तेरे अन्दर प्रवृत्ति क्यों जागी ? देख! प्रवृत्ति जागने का कारण हुआ करते हैं संस्कार, पर तूने संसार में नूतन पग रखा है तब संस्कार कहां से आए, यह सोच। इस प्रकार तेरे अन्दर वर्तमान हुए संस्कार तेरे पूर्ववृत्त (पूर्वजन्म) के सूचक हैं पुनः! तू शाश्वत अर्थात् पूर्व से वर्तमान नित्य एवं अमर चेतनतत्त्व सिद्ध हुआ और जगत् भोग में आजाने के कारण नश्वर और जड ठहरा, यह तो हुई तेरी और इस जगत् की बात। अब तू यह सोचने का कष्ट कर कि जगत् में तेरे पदार्पण से पूर्व यह जगत् तो था ही तब इसका किसी अन्य के साथ भी सम्बन्ध हो सकता है क्योंकि तू तो इसका भोक्ता है और यह तेरा भोग्य है जड होने से इसे तेरी भोक्तृशक्ति के अधीन होना पडा तब अन्य प्रकार की अधीनताओ के धर्म भी इस जड जगत में सम्भावनीय और अनिवार्य हैं पुनः इसके उन अधीनत्व-धर्मों का अधिकर्ता—अधिकारकर्ता जीव से भिन्न तुझ जैसा चेतनदेव हो सकता है और अवश्य है जो कि तुझ से भी अत्यधिक शक्तिसम्पन्न शाश्वत अमर चेतनदेव है। फिर इस जगत् का और उस देव का क्या सम्बन्ध हो सकता है यह देखना है। जबकि तुझ से भिन्न चेतन है तब वह

भोक्ता तो नहीं किन्तु इसका रक्षिता अर्थात् स्वामी हुआ, अब, सोच ! तू जगत् के एक देश में है तब वह समस्त जगत् में व्यापक होकर रहेगा और रहता है। फिर जगत् को तूने साठ घड़ी या चौबीस घण्टे ध्यान से देखा होगा तो तू ने समझा होगा कि दिन-रात में पृथिवी चन्द्र सूर्य और विविध ग्रह नक्षत्रों की गतियां इस जगत् को घड़ी या कलायन्त्र (मैशीन) के जैसा सिद्ध करती है तब वह स्वामी और व्यापक चेतनदेव इसका नियन्ता भी हुआ और है यह स्पष्ट हुआ। पुनः जगत् का और भी निरीक्षण कुछ काल तक या समस्त ऋतुचक्र तक करे तो इसमें उत्पत्ति ऋतु ऋतु पर देखकर उस स्वामी व्यापक नियन्ता अमर देव को इस जगत् का कर्ता रचयिता या निर्माता भी कहना होगा। इस प्रकार वह परमात्मदेव इस जगत् का स्वामी भी इसमें व्यापक-रक्षिता इसका नियन्ता भी और इसका कर्त्ता—रचयिता—निर्माता भी है। केवल स्वामी नहीं केवल व्यापक—रक्षिता नहीं केवल नियन्ता नहीं केवल कर्ता नहीं। किसी भी कलायन्त्र (मैशीनरी) के रूपदेने वाले चार संयोजक होते हैं। प्रथम उसके अलग अलग कलाभागों (पुर्जों) का बनानेवाला शिल्पी (लोहार आदि) दूसरा उन कलाभागों (पुर्जों) को युक्त (फिटिंग) करनेवाला योक्ता (फिटर-मिस्त्री) तीसरा युक्त हुए यन्त्र को चलाने वाला नियन्ता (ड्राईवर) चौथा चलशक्तिसम्पन्न यन्त्र (मैशीनरी) का स्वामी। सो इस विश्वयन्त्र का शिल्पी (कारीगर) योक्ता (फिटर) नियन्ता (ड्राईवर) और स्वामी वह अकेला परमात्मदेव अपनी कर्तृत्व व्यापकत्व नियन्तृत्व और स्वामित्व शक्ति से है।

जबकि इस जगत् का कर्ता नियन्ता इसमें व्यापक और इसका स्वामी परमात्मदेव ही है, तू केवल भोक्ता ही है तब तेरे लिये यह एक विधान है कि 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इसे त्याग से भोगकर राग

से नहीं। इसके भोग में इतना रत न हो कि अपने अमरत्व को खो बैठे–भोग वस्तु के नाश के साथ अपने को नष्ट हुआ समझ कर घोर संकटों को झेले। नहीं नहीं ऐसा नहीं करना। अतएव कहा है कि तू 'मा गृधः' मत ललचा मत स्पृहा को बढ़ा। और फिर 'कस्य स्विद्धनम्' भोग्य धन न किसी का हुआ न है न होगा। कोई भी इसे स्वामी रूप से अपना न बना सका। पुनः इसके भोगों में अपने को अन्धाधुन्ध फंसाना श्रेष्ठ नहीं। सोच तो सही! जो वस्तु तुझसे अल्पकाल में अलग हो जावेगी या जिससे तू अलग हो जावेगा उसमें मोह कैसा? इस अनित्य में अपने नित्य आत्मा को फंसाने की भूल क्यों करता है? प्यारे जो रंग कच्चा है तेरे शुभ्र आत्मपट पर ठहरता ही नहीं फिर उसमें रंगने का श्रम क्यों करता है? यदि रंगता है उस कान्तिमय रंग में इसे क्यों नहीं रंगता जिसमें समस्त रंगों की छटा है और जो न उड़ने वाला तथा तेरे आत्मवस्त्र को चमका देनेवाला रंग है अतएव कहा है त्याग से भोग कर राग से नहीं, राग का पात्र तो है विश्वात्मा अन्तर्यामी परमात्मा जोकि इस जगत् का कर्ता नियन्ता व्यापक स्वामी है। उसीके आधार पर अमृतभोग को प्राप्त कर सकता है अन्य भोग तो नश्वर हैं उनमें राग कैसा! उनमें तो त्याग ही श्रेय है[1] ॥१॥

मानवजीवन का दूसरा पार्श्व—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२

(इह) इस संसार में (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्-एव)

---

१. इस मन्त्र की विशेषव्याख्या देखो हमारी लिखी "उपनिषद् सुधासार" पुस्तक में।

करता हुआ ही तथा करने के हेतु[1] हो (शतं समाः-जिजीविषेत्) मनुष्य सौ वर्षों तक या बहुत[2] वर्षों तक[3] जीने की इच्छा करे तथा जीवित रहना चाहिए (एवं त्वयि नरे) इस प्रकार तुझ मनुष्य के निमित्त (इतः-अन्यथा न-अस्ति) इससे भिन्न प्रकार या मार्ग जीवन का अन्य कोई नहीं है—मानव जीवन का मार्ग तो यही है अन्य नहीं है। और (न कर्म लिप्यते) तुझ मनुष्य में इस प्रकार जीवन बिताने से न कर्म लिप्त होता है—नहीं लिप्त हो सकता है॥

प्यारे अमृत पुत्र ! संसार में आकर तूने भोग भोगने हैं। शैशव काल में माता का स्तन्य पीना पिता की गोद में पलना एवं जब तक समर्थ न हो तब तक भोग भोगने का तेरा प्रथम जीवन हुआ। इससे तू यह तो समझ ही गया है कि तेरी भोगों में प्रवृत्ति जागी संस्कारों से और संस्कार तेरे अन्दर आए हैं पूर्वजन्म से इस प्रकार संस्कारों के कारण हैं तेरे पूर्वजन्मकृत कर्म। अब जबकि तू कर्म करने में समर्थ हो गया है अपने इस जीवन और भावी जन्म के लिये कर्म करना भी तेरे लिये अनिवार्य हो गया है क्योंकि तू मनुष्य है, मनुष्य योनि में ही कर्म किए जा सकते हैं पशु पक्षी योनि तो केवल भोग योनि है किन्तु मनुष्य योनि भोग और कर्म करने की योनि है। भोग तुझे संसार में कैसे करना है यह तूने सीख लिया है त्याग से करना, पर कर्म कैसे करना अब यह समझना है। प्रथम बात तुझे यह सीखनी है कि कर्मशीलता को अपने में पूर्ण स्थान दे, कभी भी कर्मत्याग और आलस्य का अभ्यास न डालना, कारण कि कर्म अर्थात् क्रिया ही जीवन है और

---

१. "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (अष्टा० ३। २। १२६)
से लक्षण और हेतु अर्थ में श्लेषालङ्कार से दोनों अर्थ हैं।

२. "शतं बहुनाम" (निघं० ३। १)

३. "समानां संवत्सराणाम्" (निरु० ११। १५)

शक्ति है। जिस नदी में गति नहीं उसका जल निर्बल दूषित और अपेय हो जाता है, वायु में गति होने पर ही प्राणियों को जीवन और बल दे सकता है। अतएव कर्म शून्य या निकम्मा रहकर कोई भी मनुष्य चिरजीवित नहीं रह सकता अपितु नानाप्रकार के रोगों का ग्रास बनकर अल्प आयु में प्रयाण को प्राप्त हो जाता है। आलस्य तो जीनेवाले के लिये मृत्यु के समान है "आलस्यं जीवतो मृतिः" (हितो०)

दूसरी बात तुझे यह जाननी है कि मानव का जीना जीनेमात्र के लिए नहीं है। किन्तु कर्म करनेके हेतु जीना है और अधिक से अधिक वर्षों तक इसीलिये जीना है कि कर्म कर सके। जीनेमात्र के लिये कर्म करना तो प्राणीमात्र का स्वभाव है वह कर्म तो भोग प्रवृत्ति है कर्म नहीं उसे भोग ही कहा जायगा। किन्तु मानव का कर्म कर्तव्य कर्म होने से उनसे विलक्षण है अतएव वह कर्म नाम से कहा जाता है। इस प्रकार कर्तव्य कर्म निरन्तर करने चले जाने का मानव को विधान है यही मार्ग करने का है इसी में किया कर्म निष्काम कर्म कहलाता है, वह मानव में लिप्त नहीं होता है, दान देना पर कर्तव्य समझकर देते रहना, दान के पश्चात् या पूर्व निज फल या स्वार्थ को सम्मुख न रखना चाहिए, दान में निज यश की टटोल न करो कि समाचारपत्रों में मेरा यश गाया गया कि नहीं मेरे नाम का पत्थर लगाया गया कि नहीं मुझे ऊंचे पद या आसन पर बिठाया गया कि नहीं? इत्यादि भावना श्रेष्ठ नहीं उक्त दान भी सात्विक न रहा, साथ में अभिमान होकर उदारता-रूप गुण की हानि हो जाती है उक्त यशोगान हो जाने पर रागी और अनुकूल यशोगान न सुनने पर द्वेषी बनकर अध्यात्म प्रसाद से वंचित हो जाता है। भविष्य में दान न देने की भावना के उत्पन्न हो जाने से शुभ कर्म का परित्याग हो जाता है बस यही दान कर्म का लिप्त होना है। इसी प्रकार नगर, समाज, राष्ट्र, प्राणी

मात्र, धर्म और विद्याप्रचार के कर्म को भी कर्तव्य दृष्टि से ही करना श्रेष्ठ है उसमें मुख्य, प्रधान, नेता, महात्मा, धर्मात्मा, आदि पदों पदवियों को प्राप्त करूं करे रखूं या अन्य लौकिक स्वार्थ लक्ष्य में रखकर कर्म करना घृणित है अनुपादेय है। किन्तु ऐसे समस्त कर्मों में अपनी और सबकी वृद्धि उन्नति सुखसम्पत्ति के हेतु कर्तव्य दृष्टि से करते चले जाना चाहिए। यही कर्म करने का आदेश है, सन्देश है, सन्मार्ग है, सुपथ है, सदुपाय है, सदाचार है, समाचार है, शिष्टाचार है, मानव जीवन का संस्थापक है कल्याणसधाक है ॥२॥

उक्त भोग और कर्म की विधि को त्यागकर जीवन विताना मानव जीवन से गिरकर असुर जीवन बन जाना है ऐसी स्थिति में कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

(असुर्याः-नाम ते लोकाः) हां ! असुरसम्बन्धी वे स्थान या जन्म हैं ? जो (अन्धेन तमसा-आवृताः) घने अन्धकार से आच्छादित हैं (तान्) उन जन्मों दशा-स्थानों को (ते प्रेत्य-अपि-गच्छन्ति) वे मरकर भी तथा जीते भी प्राप्त होते हैं (ये के च) जो कोई[1] (आत्महनः-जनाः) आत्मघाती मनुष्य है ॥

मननशील मानव ! नरजीवन अथवा मनुष्यजीवन का विधान तूने जान लिया है कि आस्तिकभाव के साथ-साथ न्याय से भोग करना, यावज्जीवन निरन्तर कर्तव्य कर्म करना, दीर्घ जीवन की इच्छा रखना अथवा दीर्घजीवन बनाना। परन्तु उक्त तीन विधानों का उल्लङ्घन कर के जीवन विताना नरजीवन से गिरनता

---

१. ये के च=ये के चन=ये केचित्। यहाँ 'च' 'चन' के अर्थ में है।

असुर बनना साथ ही आत्मघाती भी बनना है। क्योंकि ये तीनों बातें आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं। आत्मा अमर है अनश्वर है नित्य है और भोग अस्थायी है नश्वर है अनित्य है अतएव त्याग से निर्लेप भोग भोगना उचित है क्योंकि नश्वर भोगों के साथ राग या लगाव हो जाने से उनके नाश में मनुष्य अपने को भी नष्ट हुआ समझता है अपने आत्मा के अमरत्व को भूल जाता है वियोगरूप आघात से अकाल मृत्यु के मुख में चला जाता है अथवा कभी कभी उनके वियोग से अधीर हो आत्महत्या तक कर डालता है। दूसरे आत्मा चेतन है शरीर इन्द्रियों और मन का स्वामी है उनसे कार्य लेना भी इसका शाश्वत धर्म है इन्हें निरन्तर कार्तव्य कर्म में लगाए रखना मानव को आवश्यक है पर ऐसा न करके या लोभ मोह भयवश हो इन्हें कर्तव्य कर्म में न लगाना या मदकारी व्यसन में पड़ अपने चेतनत्व और स्वामित्व का लोप कर देना आत्मघात है। तीसरे दीर्घ जीवन की इच्छा रखना—दीर्घ जीवन की भावना को समृद्ध करना भी आत्मा का भीतरी गुण है उसके विपरीत जीवननिराश को स्थान देना एवं अपने और दूसरे के जीवन को नष्ट करना भी आत्महत्या है। इन आत्मघाती असुरों के लिये घने अन्धकार से आच्छादित अर्थात् अनात्मता या जड़धर्मों से परिपूर्ण जन्म हैं या दशाएं हैं जहाँ पहुंचने को इसी जन्म से उनकी भूमि बन जाती है, वे ऐसे जन जीते हुए भी न जीते हुए के समान हैं ॥३॥

इस प्रकार मानव का अभ्युदय अर्थात् भोग और कर्म के विधान के अनन्तर अब निःश्रेयस अर्थात् अध्यात्मजीवन के अधिनायक ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन्
पूर्वमर्षत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो
मातरिश्वा दधाति ॥४॥

(अनेजत्) ब्रह्म[1] अचलायमान—एकरस—निर्विकार है (एकम्) संख्या में एक तथा केवल है (मनसः-जवीयः) मन से वेगवान् है (देवाः-एनत्-न-आप्नुवन्) इन्द्रियां इसे प्राप्त नहीं कर सकतीं। क्योंकि (पूर्वम्-अर्षत्) वह ब्रह्म पूर्व से ही प्राप्त है प्रथम से ही विद्यमान है (तत् तिष्ठत्) वह सर्वत्र स्थित हुआ स्थूल एवं एक देशीगति से रहित हुआ भी (अन्यान् धावतः) अन्य दौड़ते हुए पदार्थों को (अत्येति) अतिक्रमरण कर जाता है—पीछे डाल देता है (तस्मिन्) उसके आधार पर (मातरिश्वा) माता के गर्भ में जानेवाला जीवात्मा (अपः) कर्म को[2] (दधाति) धाररण करता है ॥

प्यारे नरसन्तान भोग और कर्म के यथार्थ आचरण-द्वारा अभ्युदय को सिद्ध करके तथा भोग और कर्म की उच्च-नीच गतियों को और उनके परिणामों को जानकर अपने जीवन के एक भाग को चरितार्थ कर लेने के पश्चात् अब तुझे अपने जीवन के दूसरे भाग की ओर भी चलना है जिससे कि निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो, इसे श्रेय मार्ग कहते हैं। वह यह परमात्मा के ज्ञान ध्यान में विशेष प्रवृत्ति रखना है। इस मन्त्र द्वारा तुझे यह सीखना या जानना है कि परमात्मा का स्वरूप क्या है और उस तक पहुंचने या उसे पाने के लिये मनुष्य के पास क्या साधन सामग्री या उपकरण एवं सामर्थ्य है। सो प्रथम परमात्मा का स्वरूप कहा गया है कि परमात्मा एक है— उसका कोई सजातीय समशक्तिमान् या विजातीय सबल विरुद्धशक्तिमान् नहीं हैं और न उसका सहायक न बाधक है वह एक है अकेला है केवल है अखण्ड है। तथा वह अचलायमान है एकरस है निर्विकार है । वायु किरण विद्युत्

---

१. इस मन्त्र का देवता ब्रह्म होने से मन्त्र में अभीष्ट ब्रह्म है।

२ "अपस कर्मनाम" (निघं० २।१)

जैसे वेगवान् पदार्थों पर भी नियन्त्रणकर्ता और विभु है और मन में वेगशक्ति प्रदाता जीवात्मा का भी अनिवार्य आधार अन्तः-साक्षी एवं अन्तर्यामी है। इन्द्रियों का वह विषय नहीं मन की सीमा से भी परे केवल आत्मभाव से स्वात्मसमर्पण अथवा आत्मशक्ति से या अन्तरात्मा से ही प्राप्त होने वाला या साक्षात् किया जाने वाला है। अतएव उसे विभु अन्तर्यामी अन्तःसाक्षी सर्वसाक्षी जानकर पापकर्मों से बच सत्कर्मों का सेवन करना चाहिए। किसी राजा महाराजा आदि शासक से छिपकर कोई कर्म किया जा सकता है परन्तु परमात्मा से छिपकर नहीं, जो उसे धोखा देना चाहता है वह संसार में गिर जाता ॥४॥

और वह परब्रह्म—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

(तत्-एजति) वह ब्रह्म गति करता है (तत्-न-एजति) वह गति नहीं करता है (तत्-दूरे) वह दूर है (तत्-उ-अन्तिके) वह ही समीप है (तत्-अस्य-सर्वस्य-अन्तः) वह इस सब प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के अन्दर है (तत्-उ-अस्य सर्वस्य बाह्यतः) वह ही इस सब प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के बाहिर भी है।

प्यारे मननशील जन ! क्या तू यह जानता है कि सब से अधिक गतिमान् कौन है ? वैसे तो वायु में बडी गति दीखती है घण्टों में ही समुद्र से वृष्टिवात (मांसून) अति दूर पर्वतों पर उड़कर चली जाती है परन्तु इससे भी अधिक-गतिवाली सूर्यकिरणें और विद्युत्तरङ्गें हैं। सूर्यकिरणें सेकण्डों में ही लाखों मील पहुंच जाती हैं और विद्युत्तरङ्गें भी तत्क्षण ही अति दूर तक काम करती हैं अति दूर देशों के संवाद तत्क्षण सुनते ही हैं किन्तु सूर्यकिरणों

विद्युत्तरङ्गों से भी अधिक गतिमान् परमात्मा है उसकी तो अतुल विभुगति है वहां सेकेण्ड या क्षण का लाखवां या करोड़वां भाग भी दूरातिदूर जाने में अपेक्षित नहीं। ऐसे विभुगतिवाले से वायु किरणें विद्युत्तरङ्गें कैसे आगे बढ़ सकें ? उसे कैसे लांघ सकें उसके बाहिर कैसे जासकें। गति ही शक्ति है अतएव उस विभुगतिमान् अर्थात् अनन्तशक्तिमान् के सत्सङ्ग से शक्ति प्राप्त करना एवं उसके सदाश्रय के अन्दर मोक्ष में अव्याहतगति से विचरना चाहिए। मानव ! तू यह भी समझ कि कुछ पदार्थ हमारे समीप हैं और कुछ हम से दूर हैं, जब हमें समीप में इष्टसिद्धि करनी होती है तो दूर के पदार्थ हमारे लिये अनुपयोगी होते हैं और जब दूर इष्टसिद्धि हो तो समीप के पदार्थ निरर्थक होते हैं। क्योंकि जो पदार्थ दूर हैं वे समीप नहीं और जो समीप हैं वे दूर नहीं यह बात सांसरिक या भौतिक पदार्थों में है। परन्तु परमात्मा अभौतिक और चेतन अनन्त विभु है जो समीप भी है और दूर भी है अपितु उससे अधिक समीप कोई नहीं और न उससे अधिक दूर कोई है, वह तो समीप से समीप और दूर से दूर है । उपनिषद में कहा भी है "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मुण्ड २।२।६) परमात्मा ही दूर और निकट है उसके साक्षात्कार से लौकिक कर्म क्षीण होजाते हैं। उसका सत्सङ्ग करलें तो दूर और समीप की इष्टसिद्धि होजावे। जिज्ञासु जन ! परमात्मा इस समस्त प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् के अन्दर अणु अणु में भी है और इसके बाहिर भी है अपितु जगत् को घेरने वाले आकाश के भी पार है, वेद में अन्यत्र कहा भी है "त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः" (ऋ० १। ५२। १२) परमात्मन् ! तू आकाश के भी पार है। वस्तुतः यह समस्त विश्व परमात्मा के अन्दर समुद्र में पड़े गेन्द के समान तुच्छ हैं। ऐसे अनन्तदेव की शरण ले अपने को निर्भय बनाना और सर्वत्र स्वातन्त्र्य एवं स्वाराज्य को पाना है ॥ ५ ॥

उस ऐसे विभु परमात्मा की अनुभूति से प्रथम सिद्धि कहते हैं—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥६॥

(यः-तु) जो तो (सर्वाणि भूतानि) समस्त वस्तुओं को (आत्मन्-एव) विश्व के आत्मा—परमात्मा में[1] 'स्थित' ही (अनुपश्यति) देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) समस्त वस्तुओं में 'व्याप्त' (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है (तत्) फिर, वह (न विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता है ॥

प्यारे जिज्ञासु ! परमात्मा की विभुता—महती व्यापकता को अनुभव करचुकने वाले या उसे निज जीवन में ढाल लेने वाले अपना लेने वाले के सम्मुख पत्र फूल फल वनस्पति धातु रत्न मणि आदि सुन्दर सुन्दर वस्तुएं एवं वन पर्वत समुद्र आदि पृथिवीस्थ पदार्थ और विद्युत् मेघ आदि तथा चन्द्र तारे सूर्य आदि आकाशीय पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड यद्यपि अपनी महिमा दर्शाते हुए अपनी ओर आकर्षित करते हुए आते हैं किन्तु परमात्मा के विभुत्व का दर्शक या अनुभवकर्ता उनकी ओर आकर्षित नहीं होता उनका स्वरूप उसके सम्मुख गौण है वह तो उनके अन्दर परमात्मा की विभुसत्ता का दर्शन एवं भान ही करता है। उसके सम्मुख तो "जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है" की उक्ति चरितार्थ होती है। उसके अन्दर संशय का सम्पर्क नहीं होता कि मेरा इष्ट या उपास्य देव कौन है या क्या अग्नि है सूर्य है वायु है या नहीं है । यह तो नितान्त निःसन्देह हुआ इन प्रभावशाली भौतिक देवों में उन देवों के देव महादेव परमात्मा को ही अपना इष्ट एवं उपास्य देव सम-

१. 'ङि' विभुक्ते लुंक् । "सुपां सुलुक्" (अष्टा० ७।३।३९)

भता है अनुभव करता है, भटकने का वहां अवसर नहीं। जैसा कि उपनिषद् में कहा है, "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मुण्ड० २।२।८) हृदय की गांठ खुलजाती है और सारे संशय दूर हो जाते हैं उस दूर निकट वर्तमान मिभु परमात्मा को देख लेने पर। उसके सम्मुख चमचमाता हुआ सूर्य आता है तो परमात्मदेव की झांकी दिखलाता आता है, चन्द्र तारे जगमगाते और झिलमिलाते हुए आते हैं तो उसकी आभा प्रभा को बतलाते आते हैं। अन्य पदार्थ भी यदि तरङ्गित होते हुए और गूंजते हुए आते हैं तो उसी का तान भरते एवं गान सुनाते आते हैं। यह है परमात्मा के विभुत्वदर्शन की भौनिक वस्तुओं में दृष्टि और अपने अन्दर प्राप्त सिद्धि ॥ ६ ॥

परमात्मा के विभुत्वदर्शी की दूसरी सिद्धि—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

(विजानतः) परमात्माके विभुत्वदर्शी ज्ञानी के (यस्मिन्) जिस दर्शन—ज्ञान या मन में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (आत्मा-एव-अभूत्) केवल आत्मा ही है स्त्री, पुरुष, बालक, गौ, हरिण, मोर, आदि मोहक प्राणी तथा कुरूप जन, सिंह, सर्प आदि भयङ्कर प्राणी उसके सम्मुख अपना मोहक या विकराल—भयानक व्यक्तित्व नहीं दिखलाते या वह इन मोहक और विकराल भयानक रूपों में उन्हें नहीं देखता किन्तु उसके सम्मुख आत्मभाव में सब मेरे जैसे आत्मा हैं ऐसा निश्चय या अनुभव हो गया शरीरभेद तो परमात्मा की रचनाकला है, पुनः उस ऐसे (एकत्वम्-अनुपश्यतः) एक आत्मा मात्र दृष्टि से देखते हुए के (तत्) उस दर्शन—ज्ञान या मन में (कः-मोहः कः शोक) कौन मोह कौन शौक है ? अर्थात् कोई नहीं ॥

प्यारे विचारक ! परमात्मा के वैभव दर्शन की दूसरी स्थिति या सिद्धि यह है कि समस्त प्राणियों को आत्मभाव से देखे, न किसी

से वैर और न किसी से राग। उनमें अपने जैसा आत्मा समझना अन्य बाह्य आकार प्रकारों की ओर मन को विचलित न करता, ऐसे महात्मा के प्रति कोई प्राणी अपने व्यक्तित्व या बाह्य रूप से मोह और शोक का कारण नहीं बन सकता। उसके सम्मुख स्त्री आदि व्यक्ति अपने स्त्रीत्व आदि या बाह्यरूप से मोह उत्पन्न नहीं करती और न सिंह आदि प्राणी उसे अपने बाहिरी विकराल रूप से शोक का कारण बनता है। उसके समीप वे सब आत्मभाव से भासित होते हैं, अलग अलग प्राणी शरीर उसे परमात्मा की विभूति कृति ही दीखते हैं, क्या बड़े से बड़ा शरीर हाथी ह्वेल मछली हो या छोटे से छोटा शरीर मच्छर चींटी आदि हो। यह हुई परमात्मा के विभुत्वदर्शी की समस्त प्राणी शरीरों में दृष्टि, भेद केवल उसकी रचनाकला का है आत्मा को अपने जैसा सब में समझ मोह शोक से रहित रहने की यह दृष्टि और सिद्धि है ॥ ७ ॥

अब लीजिये परमात्मा के विभुत्वदर्शी की तीसरी सिद्धि वह परमात्मा को किस प्रकार अनुभव करता है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

(सः-पर्यगात्) वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है—अनन्त है (शुक्रम्) वह ब्रह्म शुभ्र—अतुल भासमान है (अकायम्) काय-रहित नेत्रादि इन्द्रियों के निकायरहित—जीवशरीररहित (अव्रणम्) व्रणरहित अवकाशरहित—अवकाशवाले काष्ठ पाषाण स्वर्ण आदि ठोस धातु एवं पृथिवी चन्द्र सूर्य आदि पिण्ड जैसे व्यक्तिरूप से रहित (अस्नाविरम्) धारारहित—धारामय विद्युत् किरण और वायु जैसी जड़सत्ता से रहित (शुद्धम्) निर्मल—अनावरण निःसङ्ग (अपापविद्धम्) पापसम्पर्क से अलग (कविः) क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ (मनीषी) मनोवृत्तियों का ज्ञाता (परिभूः) सब पर स्वामित्व

रखने वाला (स्वयम्भूः) स्वयं सत्ता से विराजमान (शाश्वतीभ्यः-समाभ्यः) सदा से साथ रहने वाली जीवरूप प्रजाओं के लिए (अर्थात्) विद्याविषयों तथा जगतपदार्थों को (यथातथ्यतः) यथावत्—ठीक ठीक (व्यदधात्) प्रकाश करता तथा रचता है ॥

प्यारे उपासक ! परमात्मा के विभुत्व दर्शन की यह तीसरी स्थिति या सफलता है । यहां मनुष्य परमात्मा की गोद में बैठा हुआ उसके साक्षात् स्वरूप को देख देख हर्षित मोहित और आनन्दित हो रहा है तथा उसके स्वरूप का इस प्रकार भान कर रहा है कि परमात्मा मेरे सब ओर विराजमान है अतएव वह मेरे अन्दर है और मैं उसके अन्दर हूं । यह मेरा अन्तर्यामी देव कायिक व्यक्तियों कीट पतङ्ग पक्षी मनुष्य पशु (हाथी ह्वेल मछलीपर्यन्त) जैसा कायिक नहीं, क्योंकि उक्त जीवशरीरों में इन्द्रियों के निकाय (गोलक) होते हैं किन्तु परमात्मा अकाय है । न वह आवकाशिक पदार्थों वृक्ष (चील चनार वट आदि) पाषाण शिला–चट्टान–गिरि पर्वत आदि तथा पृथिवी चन्द्र सूर्य आदि पिण्डों जैसा अवकाशवाला पदार्थ है क्योंकि यह 'अव्रण' है और न ही विद्युत् किरण वायु के जैसा धारामय व्यक्ति है क्योंकि इनमें अणुरूप सूक्ष्म अवयवों की धाराएं चलती हैं किन्तु परमात्मा 'अस्नाविर' धारारहित है । 'इस प्रकार परमात्मा एक देशी व्यक्तिरूप से रहित होता हुआ किसी आवरण से आवृत्त या किसी सङ्ग से सक्त भी नहीं है किन्तु शुद्ध'[1] ऐसा यह मेरा परमात्मा समस्त जड़ के धर्मों दोषों से रहित तथा जीव के स्वभावों से भी अलग है क्योंकि 'अपापविद्ध' है । सर्वज्ञ घटघटवासी अन्तर्यामी सब का स्वामी स्वाधार अन्यों का आश्रय हम जीवों को अपनी कृपा का पात्र बना हमारे लिये विद्याविषयों का विधान

---

१. इससे ब्रह्म में माया का आवरण या अविद्या का सङ्ग कल्पित नहीं किया जा सकता ।

और पवित्र पदार्थों का निर्माण करता है, ज्ञान धर्म निज दर्शन का अमृत पान कराता है ऐसा उपास्य देव हमारा सदा संरक्षक रहे ॥८॥

अध्यात्म में साक्षात् प्रवेशार्थ उपाय छः मन्त्रों में है। प्रथम तीन मन्त्र सम्भूति-असम्भूति के हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥९॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥११॥

(ये-असम्भूतिम्-उपासते) जो जन असम्भूति अर्थात् प्रकृति[1] की उपासना करते हैं। वे (अन्धंतमः प्रविशन्ति) घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं। (ये-उ) जो ही (सम्भूत्यां रतः) सम्भूति अर्थात् सृष्टि में रत हैं—फंसे हैं (ते) वे (ततः-भूवः-इव तमः) उससे भी अधिक जैसे घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥

(सम्भवात्) सम्भव—सम्भूति—सृष्टि से (अन्यत्-एव-आहुः)

---

१. असम्भूति=न सम्भूति, सम्भूति=मिलकर बनने वाली सृष्टि। 'सम्भूय गच्छत' अर्थात् मिलकर चलो तथा "सम्भवामि युगेयुगे" (गीता ४।८) मैं युग युग में उत्पन्न होता हूं। अतःसम्भूति उत्पन्न होनेवाली सृष्टि। सम्भूति-सृष्टि और असम्भूति-सृष्टि से भिन्न सृष्टि जैसी जड़ प्रकृति। "नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः। अब्राह्मणमानये-त्युक्ते ब्राह्मणसदृशः पुरुष आनीयते न लोष्टमानीय कृती भवति" (महाभाष्यम्) जैसे अब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण से भिन्न ब्राह्मण जैसा क्षत्रियादि मनुष्य है।

और ही फल कहते हैं (असम्भवात्) असम्भव–असम्भूति–प्रकृति से (अन्यत्-आहुः) अन्य फल कहते हैं (इति) ऐसा कथन (धीराणाम्) धीर—ध्यानी महापुरुषों का (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो (नः) हमें (तत्-विचचक्षिरे) उसका व्याख्यान करते थे ॥

(यः) जो (सम्भूतिं च विनाशं च तत्-उभयं सह) सम्भूति-सृष्टि और विनाश[1] असम्भूति अर्थात् प्रकृति इन दोनों को साथ साथ (वेद) जानता है। वह (विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा) विनाश अर्थात् सृष्टि के अव्यक्तरूप प्रकृति से मृत्यु को तरकर (सम्भूत्याऽमृतम्-अश्नुते) सृष्टि से अमृत को प्राप्त करता है ॥

यहां ९वें मन्त्र में जो असम्भूति की उपासना से घने अन्धेरे में प्रवेश होना और सम्भूति की उपासना से उस से भी अधिक घने अन्धेरे में प्रवेश होता कहा गया है वह अकेले-अकेले के सेवन करने का फल कहा गया है क्योंकि ११वें मन्त्र में दोनों को साथ साथ जानने का फल गिरना नहीं किन्तु मृत्यु को तरना और अमृत को पाना उत्कृष्ट फल बताया है। इनके अलग अलग सेवन से उत्कृष्ट फल नहीं मिलता किन्तु गिरना ही होता है। एक मनुष्य के पास केवल प्रकृति—कारण रूप गेहूं आदि शुष्क अन्न मात्र है वह नहीं जानता कि इसकी रोटी आदि भोजन कैसे बनता है वह उसे कच्चा ही खाता रहता है तो अनेक रोगों का ग्रास बन जाता है, अतः घने अन्धेरे में प्रवेश करता है। अन्य मनुष्य के पास सृष्टि रोटी आदि बना हुआ भोजन है, वह नहीं जानता कि यह किससे बनी है पर खाता चला जाता है बना भोजन धीरे-धीरे बिगड़ अखाद्य हो जाता है या समाप्त हो जाता है अधिक काल तक न

१. "णश अदर्शने" (दिवादि०) दृष्ट का अदृष्ट हो जाना विनाश-प्रकृति बन जाना।

ठहरने से तो पुनः यह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है इस प्रकार पूर्व की अपेक्षा उससे भी अधिक घने अन्धेरे में प्रवेश होता है। फल दोनों का भिन्न भिन्न है अलग अलग सेवन करने पर भी और मिलाकर सेवन यरने पर भी यह गत १०वें मन्त्र में कहा है। ११वें मन्त्र में फल दोनों का साथ साथ सेवन करने का उठना दर्शाया कि प्रकृति के सेवन का फल मृत्यु को तरना और सृष्टि के सेवन का फल अमृत का पाना है। यह फल अध्यात्म जीवन के होने से सृष्टि और प्रकृति भी अध्यात्मरूप में हैं। अतः यहां सृष्टि-अध्यात्म सृष्टि है इन्द्रियादिसंघातरूप शरीर, और प्रकृति है उसका कारण-रूप मन, कहा भी है "मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे" (प्रश्नो० ३।३) मन के कारण जीव शरीर में आता है। जैसा जैसा होता है मन वैसा वैसा बनता है तन। अतः दोनों मन और शरीर को साथ जानने से अध्यात्म प्रकृति अर्थात् मन के निरोध संयम से मृत्यु पुनः पुनः मरण को तरकर अध्यात्म सृष्टि अर्थात् इन्द्रियादिसंघात-रूप शरीर से परमात्मा की ओर प्रवृत्ति करके उसका श्रवण करने से अमृत को पाना होता है।

प्यारे मानवसन्तान! श्रोत्रनेत्रादिमय देह केवल संसार के भोग-विलासों में ही समाप्त कर देने के लिये नहीं है किन्तु इससे उस अन्तर्यामी परमात्मा का श्रवण कर उस तक पहुंचने के लिये है। जैसा कि अन्यत्र वेद में कहा है "उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि। किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम् ॥" (ऋ० ७।८६।२) किमैं अपनी देह से संवाद करता हूं पूछता हूं कि उस वरणीय और वरनेवाले अन्तर्यामी परमात्मा के अन्दर मैं कब विराजमान हो सकूंगा, वह मेरे किस हव्य को स्वागत से स्वीकार कर सके और मैं कब उस सुखरूप देव को सुमनाः—अच्छे मन वाला बन कर देख सकूं। अतः मानव को आवश्यक है कि कानों से उस परमात्मा के उपदेश सुने उसके

प्रवचन पाठों को आंखों से पढ़े अपितु समस्त इन्द्रियों से सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करते हुए भी उसकी विभूति को परखे अर्थात् चन्दन आदि की सुगन्ध को सूंघे तो प्रभु की विभूति का ध्यान हो, किसी फल का आस्वादन करे तो परमात्मा की रसायनकला का बोध हो, किसी फूल पक्षी आदि रूपवान् को देखे तो उसकी छवि भासे या उसकी लगाई प्रदर्शनी जाने, स्पर्शनीय वस्तु का स्पर्श करे तो ईश की महिमा या कौशल का बोध हो, किसी पक्षी आदि की ध्वनि सुने तो कविवर जगदीश की वीणा गूंजती प्रतीत हो। पुनः मन को भी देखे मन समस्त इन्द्रियों का केन्द्र है मनोरूप कीली पर इन्द्रियां नाचती हैं या घूमती रहती हैं सारा शरीर भी मन का अनुसरण करता है। मन की प्रतिकूलता से सब इन्द्रियां और शरीर प्रतिकूल चलने लगते हैं और अनुकूल होने पर अनुकूल आचरण करते हैं। मन में परमात्मा का मनन करने से इन्द्रियां भोगों में न भटककर परमात्मा की ओर झुक जावें। मानव का परम ध्येय है मृत्यु को तरना अमृत–अमरत्व–अमरपद मोक्ष या परमात्मा को पाना। यह मानवमात्र की इच्छा रहती है कि मैं 'न मरूं' पर शरीर तो छूटेगा ही इच्छा अन्यथा नहीं है अमरपद प्राप्त होता है। सो यह ऐसा ही है जैसे जलप्रवाह को तरना पुनः सुरम्यभूमि स्थल को पाना। तैरने और पार पाने के साधन हैं चप्पू और नौका दोनों का सम्मिलित उपयोग एवं मन और शरीरका सम्मिलित यथार्थ उपयोग मृत्यु को तरने और अमृत को पाने में साधन है ॥९-११॥

दूसरे तीन मन्त्र विद्या-अविद्या के विषय में—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥

(ये-अविद्याम्-उपासते) जो जन अविद्या अर्थात् कर्म[1] केवल कर्म ज्ञानशून्य कर्म की उपासना करते हैं । वे (अन्धं-तमः प्रविशन्ति) घने अन्धेरे में प्रवेश करते हैं (ये-उ विद्यायां रताः) जो ही विद्या—ज्ञान—केवल ज्ञान—कर्म शून्य ज्ञान में ही रत हैं-लगे रहते हैं (ते) वे (ततः-भूयः-इव तमः) उससे भी अधिक घने अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ॥

(विद्यायाः) ज्ञान से (अन्यन्-एव) अन्य ही फल (आहुः) कहते हैं (अविद्यायाः) अविद्या अर्थात् कर्म से (अन्यत्) अन्य फल (आहुः) कहते हैं (इति) ऐसा कथन (धीराणां शुश्रुम) धीर—ध्यानी विद्वानों का सुनते हैं (ये) जो (नः) हमें (तत्) उस कथन का (विचचक्षिरे) व्याख्यान करते थे ॥

(यः) जो मनुष्य (विद्यां च-अविद्यां च तत्-उभयं सह वेद) ज्ञान और कर्म दोनों को साथ-साथ जानता है । वह (अविद्यया) कर्म से (मृत्युं तीर्त्वा) मृत्यु को तर कर (विद्यया) ज्ञान से (अमृतम्-अश्नुते) अमृत को प्राप्त होता है ॥

यहां १२ वें मन्त्र में जो अविद्या—कर्म की उपासना से घने अन्धेरे में प्रवेश होना और विद्या—ज्ञान की उपासना से उससे भी अधिक घने अन्धेरे में प्रवेश करना कहा गया है वह अकेले-

---

१. अविद्या-न विद्या, विद्या—ज्ञान,पूर्व की भांति ज्ञान से भिन्न ज्ञान जैसा कर्म अर्थ हुआ । ज्ञान है आत्मा का गुण "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्"(न्याय० १ । १ । १०) ज्ञान का सहयोगी प्रयत्न है, लोक में कर्म हुआ । उपनिषद् में भी ज्ञान कर्म का सहयोग दर्शाया है "विद्याकर्मणी समन्वारभेत" (बृहदा० ४ । ४ । २)

अकेले के सेवल करने का फल कहा गया है क्योंकि १४वें मन्त्र में दोनों को साथ-साथ जानने का फल गिरना नहीं किन्तु मृत्यु को तरना और अमृत को पाना उत्कृष्ट फल बताया है। इनके अलग-अलग सेवन से उत्कृष्ट फल नहीं मिलता किन्तु गिरना ही होता है। एक मनुष्य केवल कर्म—ज्ञानशून्य कर्म कर रहा है बिना सोचे समझे चल रहा है—कहां जाना है क्यों जाना है और किस मार्ग से तथा किन साधनों से जाना चाहिये इत्यादि ज्ञान से रहित हो चला जा रहा है तब निःसन्देह वह घने अन्धकार में प्रवेश करेगा अवश्य कहीं न कहीं किसी न किसी दुर्गन्ध स्थान में वन जङ्गल में गर्त में खड में जा गिरता ही है और दूसरा मनुष्य कर्मशून्य ज्ञान में रत है घर में बैठा-बैठा मन में तर्कवितर्क करता, सोचता ही रहता है कर्म कुछ भी नहीं करता है, धीरे-धीरे प्रकृति उसके मस्तिष्क को निर्बल निःसत्त्व बना देती है—सोचते सोचते उसका मस्तिष्क जड बन जाता है चिरकालीन चेतनारहित या उन्मत्त बन जाता है इस प्रकार यह पहिले से भी अधिक घने अन्धकार में प्रवेश कर जाता है। यदि इन दोनों को अगले जन्म देने के लिए न्याय किया जावे तो निर्णय होगा कि जो ज्ञानशून्य होकर चलता रहा है उसे चलती फिरती योनि—जङ्गम योनि—पशु पक्षी की योनि में भेजा जावे और जिसने कर्मशून्य होकर तर्क वितर्क सोच विचार में मन को थकाया मस्तिष्क को सुखाया जड़ बनाया उसे गतिहीन—जड़ योनि में—वृक्षयोनि में भेजा जावे। अत एव केवल ज्ञान में रत होना तो केवल कर्म करने की अपेक्षा अधिक गिराने वाला है। फल दोनों का भिन्न-भिन्न है, अलग-अलग सेवन करने पर भी और मिलाकर सेवन करने पर भी यह बात १३ वें मन्त्र में कही है। १४ वें मन्त्र में फल दोनों का साथ-साथ सेवन करने का उठना दर्शाया है कि अविद्या-कर्म के सेवन का फल मृत्यु

को तरना और विद्या—ज्ञान के सेवन का फल अमृत का पाना है। यह फल अध्यात्म-जीवन के होने से यहां विद्या-ज्ञान भी अध्यात्म ज्ञान—परमात्म ज्ञान है। इस प्रकार अध्यात्म कर्म—अष्टाङ्ग योगाभ्यास से मृत्यु को तरना मरणप्रबन्ध बन्धन को तरना और अध्यात्म ज्ञान—परमात्मज्ञान से अमृत अमर पद—मोक्ष को पाना बनता है। जलप्रवाह को तैरने के साधन चप्पू और नौका होते हैं चप्पू प्रेरणा देता है नौका को और नौका चला करती है प्राप्तव्य रम्य स्थल भूमि की ओर, यहां सर्वत्र फैले हुए मृत्युप्रवाह को तैरने का साधन अध्यात्म प्रकृति मन चप्पू रूप में और अध्यात्म सृष्टि श्रोत्र नेत्रादि संघातरूप शरीर नौका के समान हैं। प्रस्तुत मन्त्रों में मनरूप चप्पू को प्रेरणा देने के लिए अध्यात्म कर्म अष्टाङ्ग योगाभ्यास और शरीररूप नौका से उतर कर सुरम्य स्थल अमरपद मोक्ष पाने को अध्यात्म ज्ञान—परमात्म ज्ञान कहा है। यहां मन्त्रों का सार यह निकला कि अध्यात्म सृष्टि—श्रोत्र नेत्रादि संघातरूप शरीर से परमात्मा का श्रवण करना, अध्यात्म प्रकृति—मन से मनन करना, अध्यात्म कर्म—अष्टाङ्ग योगाभ्यास से निदिध्यासन परमात्मप्राप्ति के लिये स्वात्मशक्ति लगानारूप यत्न करना और अध्यात्भ ज्ञान—परमात्मज्ञानरूप परवैराग्य से साक्षात्कार करना होता है ॥ १२—१४ ॥

चेतावनी और कर्तव्य—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳस्मर ॥१५॥

(वायुः) बाह्य वायु (अनिलम्) आन्तरिक आयु अर्थात् प्राणशक्ति को धारण करता है। और वह (अमृतम्) मरणधर्मरहित अमर जीवात्मा को धारण करता है (अथ) अनन्तर ऐसा संगठन न रहने पर—किसी एक का भी अभाव हो जाने पर (शरीरं

भस्मान्तम्) शरीर भस्मान्त है—भस्म अर्थात् नाश हो जाना है अन्त में जिसका ऐसा नश्वर है। अतः (क्रतो) हे क्रियाशील एवं प्रज्ञानवान्[1] जीव ! तू (ओ३म् स्मर) ओ३म् का स्मरण कर (क्लिबे स्मर) अपने सामर्थ्य के निमित्त स्मरण कर—अपने को समझ (कृतं स्मर) किये हुए और कर्त्तव्य का भी स्मरण कर[2]॥१५॥

प्यारे ज्ञानवान् जन ! जिस शरीर पर तू अभिमान करता है क्या तुझे पता है इसका अस्तित्व क्या है ? प्यारे ! यह तो नश्वर है इसे अग्नि से जल जाना है जल में गल जाना है रोगों से रुग्ण और विष से विषण्ण हो जाना भी इसका धर्म है तथा शस्त्रों से कट कटकर मांस के लोथड़ों और हड्डियों के टुकड़ों के रूप में छिन्न-भिन्न हो जाना अन्त में जरा से जीर्ण निःसार शुष्क काष्ठ सा बन जाना भी इसका धर्म है, पुनः ऐसे नितान्त नश्वर देह पर अभिमान कैसा ?। तू इसे 'मैं' (अपना आपा) समझ बैठा है, देख ! यदि शरीर ही "मैं" वस्तु हो तो फिर शव (मुरदा) भी मैं कह सके—बोल उठे और चल सके। अतः यह भी एक भूल ही है जो इसे मैं समझे हुए है। वस्तुतः वह "मैं" तो नश्वर शरीर से भिन्न है। इस शरीर में तीन पदार्थ ऐसे हैं, जिनके रहने पर यह शरीर इस अवस्था में बना रहता है या जीवित कहलाता है और जिनके न रहने पर यह शव (मुरदा) बन कर नष्ट हो जाता है। उन तीन में एक वस्तु है अमर जीवात्मा जिसे प्रत्येक मनुष्य "मैं" रूप में अनुभव करता है, दूसरी वस्तु है प्राणशक्ति या

---

१. "क्रतुः कर्मनाम" (निघं० २। १) "क्रतुः प्रज्ञाननाम" (निघं० ३। ९) छान्दसो मतुब्लोपः।

२. इस मंत्र का विशेष अर्थ और विवरण देखो हमारी "उपनिषद्-सुधासार" पुस्तक के अन्तर्गत कठोपनिषद् की भूमिका में, यह मन्त्र कठोपनिषद् का मूल है अत एव विस्तृत अर्थ वहां किया है।

हृदयस्थ जीवनशक्तिरूप प्राण और तीसरी वस्तु बाह्य वायु है। इनमें से किसी एक का भी विच्छेद—वियोग या अभाव हो जाने पर शरीर इस रूप में नहीं ठहर सकता। वायु न मिले तब शरीर मृत हो जावेगा, प्राणशक्ति या हृदयस्थ जीवनशक्तिरूप प्राण समाप्त हो जावे रोगों आघातों एवं हृद्गतिभङ्ग (हार्टफेल) आदि द्वारा देह मुरदा बन जावे और यदि अमर जीवात्मा ही इस शरीर को छोड़ कर चला जाये "योगेनान्ते तनुत्यजाम्" योगरूप स्वात्मबल से स्वप्राणान्त करने वाले योगियों का आत्मा शरीर छोड़ कर चला जावे तो भी शरीर विनष्ट हो जावे। फिर इस शरीर के मोह में कालयापना क्यों करता है। तू अपनी शक्ति को पहिचान अपने को जान, अपने कर्त्तव्य को सोच, अपने इष्टदेव अन्तर्यामी परमात्मा का स्मरण कर। प्यारे मनुष्य! अपने जीवन में अनेकों और असंख्यों का स्मरण करता है, समस्त आयु को विविध स्मरणों में लगा देता है परन्तु अन्त में कोई भी स्मरण काम नहीं आता अपितु वे सब मृत्युरूप गहरे दुःख सागर में डुबकियां ही देते हैं। केवल एक ओ३म् का स्मरण ही मृत्युरूप गहरे दुःखसागर में डुबकियां खाने से बचाता है विमान में बिठाकर व्योम में उडा ले जाने की भांति ऊपर उभार कर अपने अमृत शरण में लेता है अतएव प्यारे भद्र जन! ओ३म् का स्मरण करना जीवन का परम ध्येय बनाना चाहिये।

प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

(अग्ने देव) हे अग्रणायक ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! तू

(विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त प्रज्ञानों-चलने के उपायों मार्ग-दिशाओं को जानने वाला है। अतः (अस्मान्) हमें (राये) जीवनैश्वर्य एवं मोक्षसम्पत्ति के लिये (सुपथा) सुमार्ग से (नय) ले चल। तथा (अस्मत्) हमारे से (जुहुराणम्-एनः) कुटिल या अनुचित पाप एवं त्रुटि को (युयोधि) अलग करदे (ते) तेरे लिये (भूयिष्ठां नमः उक्तिं विधेम) बहुत बहुत नमन उक्ति—नम्र स्तुति समर्पित करते हैं॥

प्यारे पथिक ! सब कुछ तैयारी के पश्चात् अब तो तुझे श्रेयो-मार्ग में चलने के लिये एक बात शेष है, वह यह कि तू पूर्णरूप से अपने इष्ट देव अग्रणायक ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा को अपना समर्पण करदे क्योंकि वह सर्वज्ञ है, जहां वह तेरी त्रुटियों को जानता है साथ में दयालु भी है, जब तू उसके प्रति अपने को सौंप देगा तो अन्दर से त्रुटियों को दूर कर अपने ज्ञानप्रकाश में जीवन के श्रेष्ठ मार्ग पर चलाते हुए आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न कर अपने अमृत शरण में ले अमर बना देगा तेरी जीवनयात्रा को सफल बना देगा इस यात्रा में तू न भटकेगा न कोई तुझे भटका सकेगा। बस तू आत्मभाव से कह उठ हे मेरे नायक देव ! मुझे जीवनैश्वर्य और मोक्षैश्वर्य की प्राप्ति के लिये सुमार्ग से ले चल तेरे सिवा कोई मेरे दोष का ज्ञाता नहीं मेरी निर्बलता को दूरकर मैं तेरी अतीव नम्रस्तुति करता हूँ अपने को पूर्ण तेरे प्रति समर्पित करता हूँ तू ही मेरा है मैं तेरा हूँ ॥१६॥

मार्गदर्शक परमात्मा का सन्देश अनुमति या स्वीकृति के रूप में—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

(हिरण्मयेन पात्रेण) सुन्हरे चमकीले पात्रसमान सूर्य जो संसार को स्वप्रकाश देने से मार्गदर्शक बनाहुआ इसके द्वारा(सत्यस्य मुखम्-अपिहितम्) सत्यस्वरूप सत्यज्ञानप्रकाशस्वरूप सत्यमार्गदर्शक का स्वरूप ढका गया है इसके बाह्यरूप से वह ढकागया है। परन्तु (आदित्ये-यः-असौ पुरुषः) सूर्य में जो वह पूर्ण पुरुष है उसे पूरित किए हुए व्यापे हुए हैं जिसके व्यापने से वह प्रकाशमान तथा संसार का मार्गदर्शक बना हुआ है (सः-असौ-अहम्-ओ३म् खं ब्रह्म) सो वह पुरुष मैं ओ३म् नाम से प्रसिद्ध व्यापक ब्रह्म हूँ तू यह जान ॥

यह ठीक है, संसार में सूर्य की महिमा गाई जा रही है और है भी ठीक संसार में सूर्य प्रकाशस्वरूप पिण्ड है सबको प्रकाश देता है और मार्ग दिखाता है। परन्तु इस सूर्य में यह महिमा यह शक्ति या यह गुण किसने दिया या किससे आया यह भी देखना है, इस सूर्य के अन्दर व्यापक पुरुष परमात्मा है यह उसी के दिए प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (कठो० ५।१५) वही इस सूर्य में प्रकाश दे रहा है वही इस मार्ग-दर्शक का भी मार्गदर्शक है यह जानना चाहिए। यही बात यहां श्रुति में जीवात्मा को परमात्मा अपने सम्बन्ध में उसका अग्रणायक बन कर कह रहा है कि मैं उस प्रकाशमान सूर्य में व्यापक हूँ पूर्णरूप से व्याप्त हूँ इसका प्रकाशक और मार्गदर्शक हूँ, मैं ओ३म् नाम से प्रसिद्ध किया जाने वाला तथा ओ३म् नाम से उपास्य व्यापक ब्रह्म तेरा अग्रणायक हूँ अमृत फलदायक हूँ मुझे मान और मेरा ध्यान कर मैं अवश्य निज शरण में तुझे ले अमृतभोगभागी कर-दूगा ॥१७॥



प्रकीर्णसमन्वय

ईश्वर

सृष्टि के प्रति ईश्वर—

*—

ऋषिः—दीर्घतमाः=लम्बे अन्धकारवाला—बहुत काल से अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ, तथा जीवन का इच्छुक[1]—नियमित जीवनकांक्षी संयमी जन।

देवताः—विष्णुः=व्यापक परमात्मा।

---

*—प्रकृति का अध्यक्ष तथा सृष्टि का कर्ता धर्ता संहर्ता परमात्मा (पढो—"इयं विसृष्टि···" सूक्त० पृष्ठ १५५)।

विश्व का अकेला स्वामी परमात्मा सृष्टि से पूर्व था वही द्यावापृथिवीमयी सृष्टि को धारण किए हुए है (पढो—"हिरण्यगर्भः···", समवर्तता० पृष्ठ १३६)।

प्रकृति से विश्वरचयिता परमात्मा ने द्यावापृथिवीमयी सृष्टि को उत्पन्न किया (पढो—"किं स्विदासीदधिष्ठानं···" पृष्ठ १०२)।

द्यावापृथिवीमयी सृष्टि का रचयिता और भुवनों का धारकपरमात्मा (पढो—"किं स्विद् वनं···" पृष्ठ १०४)।

१. "आयुर्वैदीर्घम्" (तां० १३। ११। १२)

"दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे" (ऋ० १। १५८। ६)

"तमु कांक्षायाम्" (दिवादि०)

तीनों लोकों का रचयिता धर्ता—

विष्णो नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥

(ऋ० १। १५४। १)

(विष्णोः-वीर्याणि नु कं प्रवोचम्) मैं व्यापक परमात्मा के पराक्रमों का हां अवश्य जहां तहां प्रवचन करूं (यः पार्थिवानि रजांसि विममे) जिसने पृथिवीजाति के लोकों—पिण्डों को विशेष कला से बनाकर रखा (यः-उत्तरं सधस्थम्-अस्कभायत्) जो पृथिवी पिण्डों के ऊर्ध्व नक्षत्रतारों के समस्थान द्युमण्डल को सम्भाले हुए है। वह ऐसा (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन स्थानों—पृथिवी लोक द्युलोक तथा मध्यवर्ती अन्तरिक्ष लोक में व्याप्तिरूप शक्ति से विक्रमकरता हुआ (उरुगायः) बहुत प्रकार से गाने योग्य—प्रशंसा-करने योग्य—स्तुतियोग्य है।

कोई मनुष्य एक साधारण प्रासाद (महल) बना देता है तो हम उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते परन्तु उस व्यापक परमात्मा की शक्ति तो देखो पृथिवी पिण्डों को बनाया, उनके ऊपर विविध वनस्पतियों प्राणि-शरीरों को रचा, गिरि पर्वतों को उभारा, नदी स्रोतों को बहाया, समुद्र को फैलाया और अन्दर भांति भांति की धातुओं मणिरत्नों को चमकाया एवं ऊपर आकाश में चमचमाते हुए विविध महाकाय असंख्य चन्द्र-तारों तथा सूर्य जैसे प्रकाश पिण्डों के क्षेत्र या मण्डल को भी रचकर सम्भाला हुआ एवं दोनों के मध्यवर्ती स्थिति को भी स्वाधीन किए हुए है। क्या ये उसके पराक्रम कम हैं? नहीं! नहीं!! उस जैसा तो कोई हो ही नहीं सकता, उसकी भारी प्रशंसा स्तुति मनुष्य को करनी चाहिए, बड़े के इष्टदेव के गुणगाने से अपने अन्दर गुणों का लाभ होता है

संसार में बड़े के सङ्ग एवं इष्टदेव के ध्यान से मनुष्य तर जाता है—ऊपर उठ जाता है और कल्याण का भागी बन जाता है ॥

❀—

ऋषि—वामदेवः-प्रशस्तविद्वान् ।

देवता—इन्द्रः-ऐश्वर्यवान् शक्तिसम्पन्न परमात्मा ।

सृष्टि और प्रलय का कर्ता—

क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोतीयर्ति रेणुं मघवा समोहम् ।
विभञ्जनुरशनिमाँ इव द्यौरुत स्तोतारं मघवा वसौ धात्॥

(ऋ० ४। १७। १३)

(मघवा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अक्षियन्तं त्वं क्षियन्तं कृणोति) एक स्थान पर न रहने वाले फैले हुए एक अव्यक्त कारण वस्तु को सर्जन काल में एक स्थान पर ठहरता हुआ—ठहरनेवाला बना देता । तथा (समोहं रेणुम्-इयर्ति) संश्लिष्ट संगठित पर्वतसमान एवं पृथिवी आदि को भी संहारकाल में धूलि बना कर उड़ा देता है (मघवा विभञ्जनुः-अशनिमान्-इव द्यौः) वह ऐसा शक्तिमात् परमात्मा अन्य पदार्थों तथा प्रतिद्वन्द्वी या पापी जनों का तो ऐसे विमर्दन करनेवाला है जैसे विद्युत् से युक्त गगनमण्डल मेघों को छिन्नभिन्न करके अस्त व्यस्त कर देता है। परन्तु (स्तोतारं वसौ धात्) अपने स्तुतिकर्ता उपासक को तो सर्वसुख सम्पत्ति के निवास में या धन सम्पत्ति में धर देता है-सुरक्षित स्थापित कर देता है ॥

परमात्मा की महती शक्ति है जो प्रकृति जैसी अव्यक्त अदृश्य वस्तु को पकड़ कर ठोस पिण्डों का रूप दे देता है और पुनः उन पिण्डों को संहार कर धूलिरूप सूक्ष्म अदृश्य अव्यक्त बना देता है।

❀—ओषधि-वनस्पतियों और पशु-पक्षियों का भी उत्पादक परमात्मा (पढो—'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं·· " पृष्ठ ११६) ।

फिर मध्यवर्ती पदार्थों और प्राणि—शरीरों की तो गति वा स्थिति ही क्या ? उसके सम्मुख क्या कोई पापी जन अभिमान करे, वह बड़ा दण्डदाता है पापी उससे कैसे बच सकता है ॥

—

ऋषिः—स्वयम्भूः-ब्रह्म=स्वयं निज बल पर प्रवृद्ध होने वाला आत्मरूप चेतनतत्त्व ।

देवता—परमात्मा=जगत् को उत्पन्न तथा धारण करके प्रलय काल में इसके उपादान कारण प्रकृति के प्रवाह को समेट अपने स्वरूप में विराजमान होनेवाला परमात्मा ।

प्रकृति को सृष्टिरूप में और सृष्टि को पुनः प्रकृतिरूप में लाने वाला—

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि-दिशः परि स्वः । ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य-तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् ॥

(यजु० ३२।१२)

(द्यावापृथिवी) द्युलोक पृथिवीलोक को—खगोल के ऊर्ध्व और अधोभाग को (सद्यः परि-इत्वा 'परीत्य') तुरन्त—उत्पत्तिसम-काल से ही परिप्राप्त होकर—स्वाधीन करके (लोकान् परि) लोकों को परिप्राप्त करके स्वाधीन करके (दिशः परि-) दिशाओं को परि-प्राप्त करके—स्वाधीन करके (स्वः परि-) सूर्य को परिप्राप्त करके

❀—सृष्टि और प्रलय कर्ता परमात्मा विश्व में व्यापक है (पढो—"य इमा विश्वा भुवनानि···" पृष्ठ १०१)।

द्यावापृथिवीमयी सृष्टि को परमात्मा विस्तृत करता है पुनः प्रलय-काल में समेट लेता है उस समय जीव भी मुग्धावस्था में होजाते हैं (पढो—"विश्व कर्मन्···पृष्ठ १०६)।

स्वाधीन करके जो ब्रह्म विराजमान है (ऋतस्य विततं तन्तुं विचृत्य) पदार्थों में स्थिर अव्यक्त प्रकृति नामक उपादान के फैले हुए तन्तु को विच्छिन्न करके--समेट कर[1] (तत्-अपश्यत्) उसने देखा (तत्-आसीत्) वह था (तत्-अभवत्) वह हो गया ॥

पृथिवीलोक द्युलोक तथा अन्य लोकों और सूर्य एवं समस्त दिशाओं को सृष्टिकाल से ही व्याप्त होकर विराजमान परमात्मा ने प्रकृति के तन्तुरूप विस्तृत तने हुए जगत् को समेट लिया तो देखा कि अव्यक्त प्रकृति जो उपादान कारण पहिले था तो उसी रूप में हो गया। आदि सृष्टि में परमात्मा ने जगत् के उपादान कारण अव्यक्त को जगत्सर्जनार्थ छोड़ा तो वह फैलकर जगत् के रूप में परिणत हो गया पुनः जब समेटा तो वह फिर अव्यक्तरूप में आ गया। इस प्रकार यह सृष्टि और पुनः प्रकृति या प्रलयरूप देना परमात्मा के अधीन है। ऐसे शक्तिशाली परमात्मा की शरण और उपासना करना मानव के परम कल्याण का हेतु है ॥

*--

ऋषिः—मेध्यातिथिः=पवित्र अतिथि—आत्मा।

देवता--इन्द्र=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

खगोलप्रसारक सूर्यप्रकाशक लोकनियन्ता तथा तन्मात्रों का धारक-

---

१. "चृती ग्रन्थने" (तुदादि०) विचृत्य—विश्लिष्य।

*—समस्त नक्षत्रमण्डल और खगोलको प्रकाशित कर परमात्मा सम्भाले हुए है (पढो "धीरा त्वस्य महिना…" पृष्ठ २९)।

लोकत्रय और समस्त पिण्डों को सम्भाले हुए परमात्मा (पढो "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च…" पृष्ठ १४०)

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्। इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे इन्द्रे सुवानास इन्दवः ॥

(ऋ० ८।३।६, अथर्व० २०।११८।४)

(इन्द्रः-मह्ना रोदसी शवः पप्रथत्) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ने अपने महत्त्व से खगोल के रोधन करने वाले* ऊर्ध्वमण्डल और अधोमण्डल क्षेत्र को स्थिर करने के लिये उन पर अपने बल का¹ प्रसार किया। पुनः (इन्द्रः सूर्यम्-अरोचयत) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ने सूर्य को प्रकाशमान किया (इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे) ऐश्वर्यवान् परमात्मा के आधार पर ही समस्त लोक-लोकान्तर नियन्त्रित हैं—यातायात करते हैं (इन्द्रे सुवानासः—इन्दवः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा के आश्रय पर ही उत्पन्न हुए-प्रकट होते हुए प्रारम्भिक तन्मात्राएं व्यापारार्थ समर्थ हुईं ॥

लोक-लोकान्तरों की गति बड़ी अद्‌भुत है, आकाश में इनका कोई विश्रामस्थान (स्टेशन) नहीं क्योंकि ये विश्राम नहीं करते, न इन की परस्पर टक्कर होती है क्योंकि ये किसी महान् ऐश्वर्यवान् नायक के अधीन गति करते हैं। कभी-कभी ज्योतिषी सम्भावना करते है कि अमुक तिथि में अमुक तारा और हमारी पृथिवी एक विन्दु पर पहुंचेंगे उस तारे की टक्कर से पृथिवी नष्ट-भ्रष्ट हो जावेगी। पर समय आता है निकल जाता है, इस प्रकार एक को दूसरे से बचा कर चलाने वाला परमात्मा है। सूर्य का प्रकाश भी अनुपम है करोड़ों मील दूर से प्रकाश आता है तब भी इसके ताप से सन्तप्त हो जाते

---

*. "रोदसी रोधसी विरोधनात्, रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः"
(निरु० ६।१)

१. "शवः-बलनाम" (निघं० २।९)

हैं। आंखें इसके सम्मुख नहीं हो सकतीं परन्तु इसे चमकाने वाला भी वही है, उपनिषद् में कहा है "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (कठो० ५।१५) उसी की ज्योति से सब ज्योतिष्मान् होता है। इन सब लोकों और सूर्य आदि प्रकाशमान पिण्डों को ऊपर नीचे से घेरने वाले ऊर्ध्वमण्डल तथा अधोमण्डल को भी वही बल दे रहा है। प्रारम्भिक परमाणुप्रवाह या तन्मात्राएं भी उसके अधीन परिभ्रमण कर रही थीं। उस ऐसे जगदीश्वर का मानना चिन्तन करना अवश्य चाहिये ॥

ऋषिः—वामदेवः=प्रशस्त विद्वान्।

देवता—सविता=उत्पादक प्रेरक परमात्मा।

स्थावर जगम का उत्पादक धारक संहारक—

बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी। स नो देवः सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरुथमंहस ॥

(ऋ० ४।५३।६)

(बृहत्सुम्नः) महत् सुख का हेतु[1] अतिसुखस्वरूप—आनन्दघन (जगतः स्थातुः-उभयस्य) जङ्गम स्थावर दोनों वर्गों का (प्रसवीता वशी निवेशनः) प्रेरक—आविर्भाव का निमित्त—उत्पत्तिकर्ता वशीकर्ता—धारक निवेशस्थान—लयस्थान—संहारक है (सः-सविता देवः) वह ऐश्वर्यविधाता परमात्मदेव (नः शर्म यच्छतु) हमारे लिये सुख को[2] प्रदान करे। वह सुख (अस्मे-अंहसः क्षयाय त्रिवरुथम्) हमारे पाप के नाशार्थ तीन घरों वाला[3] हो। ईश्वर का प्रदान

१. "सुम्नं सुखम्" (निघं० ३।६)
२. "शर्म सुखम्" (निघं० ३।६)
३. "वरुथं गृहम्" (निघं० ३।४)

किया हुआ विशेष शरणसुख आत्मा, मन और शरीर में वसने वाला हो ॥

स्थावर जङ्गम का आधार वशीकर्ता प्रेरक परमात्मदेव महासुख-स्वरूप आनन्दघन है वही हम मानवों को सुख प्रदान करता है अपितु पाप के नाशार्थ उसे प्रदान किया। सुख तीन प्रकार का प्राप्त होता है जोकि शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सुख है। त्रिविध सुख की आकांक्षा मानव की है जिसे वह ही पूरी करता है अन्य वस्तुओं से यह त्रिविध सुख नहीं मिलता है। जड़ वस्तुओं से बहुधा शारीरिक सुख या ऐन्द्रियिक सुख ही मिलता है। जङ्गम या चेतनों से सच्चे स्नेह सम्बन्ध द्वारा मानसिक सुख भी कुछ अंश में प्राप्त हो जाता है आत्मिक सुख तो इन दोनों में से किसी से भी नहीं मिलता, वह तो स्वात्मा में विराजमान परमात्मा से ही प्राप्त होता है अपितु उक्त त्रिविध सुख का प्रदाता वही परमात्मा है ॥

ऋषिः—विश्वामित्रः=सर्वमित्र सब जिस के मित्र हों सबसे प्रेम करने वाला जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

द्यावापृथिवीमयी सृष्टि का धर्ता प्रकाशविधाता—

इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे। दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्य-मुषसं सुदंसाः ॥

(ऋ० ३।३२।८)

(इन्द्रस्य पुरूणि सुकृतानि कर्म व्रतानि) ऐश्वर्यवान परमात्मा के बहुत—असंख्य उत्तम अन्यून-पूर्ण कार्यशक्तियां और नियम हैं (विश्वेदेवाः-न मिनन्ति) उन्हें सभी जड़चेतनदेव तोड़ नहीं सकते

हैं—उल्लङ्घन नहीं कर सकते हैं (सुदंसाः) उत्तम कर्म शक्ति वाला[1] परमात्मा (इमां पृथिवीं द्यां दाधार) इस पृथिवीलोक और द्युलोक को धारण कर रहा है। तथा (सूर्यम्-उषसं जजान) उसने सूर्य और प्रातः-वेला को उत्पन्न किया है।

जिस ऐश्वर्यवान् परमात्मा ने प्रचण्ड सूर्य को रचा प्रकाश को विस्तृत रूप दिया, द्युलोक पृथिवीलोक एवं विश्व या खगोल के उपरिभाग और अधोभाग को धारण किया है उसके असंख्य कर्म नियम हैं और वे पूर्ण हैं त्रुटिरहित हैं उनका कोई भी जड़ या चेतन देव उल्लङ्घन नहीं कर सकता। जड़ देवों में से पृथिवी का दैनिक और वार्षिक गति करना, चन्द्रमा का पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा करना, अन्य आकाशीय पिण्डों का घूमना सूर्य का प्रकाश प्रदान करना तथा निज कक्षामण्डल में गति करना, ध्रुव का प्रचलन, अग्नि का प्रज्वलन और ताप, वायुका वेग आदि कार्य उस परमात्मा के शासन में हो रहा है। चेतन देवों महाविद्वानों का भी निज कर्मफलों का भोगना उस परमात्मा के अधीन ही होता है। प्रत्येक देव को उत्पत्ति-स्थिति-विनाश के चक्र में भी उसी के शासन से आना पड़ता है॥

ऋषिः—स्वयम्भूः-ब्रह्म=निज ध्यानशक्ति से सम्भूत प्रवृद्ध आत्मतत्त्व।

देवता—परमात्मा=विश्व में प्रविष्ट विश्वात्मा ईश्वर।

अनन्त परमात्मा में विश्व उत्पन्न विलीन होता और तुच्छरूप में रहता है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येक-नीडम्। तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ (यजु० ३२।८)

---

१. "दंसः कर्मनाम" (निघं० २।१)

(वेनः) ध्यान से कान्तिमान् जन (तत् सत्-गुहा निहितं पश्यत्) उस अविनाशी नित्यब्रह्म को हृदयगुहा में स्थित हुआ देखता है (यत्र विश्वम्-एकनीडं भवति) जिसमें संसार एक घौंसले के समान तुच्छरूप से है (तस्मिन्-इदं समेति च वि-च 'व्येति च') उस अनन्त ब्रह्म में यह संसार प्रलयकाल में विलीन भी हो जाता है और सर्गकाल में प्रकट भी हो जाता है (सः-विभूः प्रजासु-ओतः प्रोतः-च) वह विभुः-विशेषरूप से सब में रहने वाला वस्तु वस्तु में ओत प्रोत है उत्पत्ति या सर्ग की ओर चलते हुए भी और नाश या प्रलय की ओर आते हुए भी समस्त जगत् के अन्दर व्याप्त रहता है।

यह सारा विस्तृत संसार जिसके पार का पाना मानव की शक्ति से परे है, बड़े से बड़े वेगवान् विमान में बैठकर भी मनुष्य सारी आयु समाप्त कर दे अपितु अनेक जन्मों तक भी चलता चला जावे तो भी इसका पार या छोर नहीं पा सकता। यह ऐसा अपार संसार उस अनन्त परमात्मा के अन्दर एक तुच्छ घोंसले के समान है उस में ही यह उत्पन्न होता और उसमें ही प्रलय को प्राप्त होता है, वह सर्गकाल पर उत्पन्न होती हुई और प्रलय काल पर प्रलीन होती हुई समस्त वस्तुओं में भी व्यापक रहता है। उस ऐसे अनन्त परमात्मा को योगाभ्यास द्वारा कान्तिमान् हुआ ध्यानी जन अपने हृदय के अन्दर विराजमान साक्षात् करता है स्वात्मा में नितान्त संसक्त अनुभव करता है और अपने को कृतकृत्य बनाता है॥

ऋषिः—स्वयम्भु ब्रह्म=निज ज्ञान से सम्पन्न प्रवृद्ध आत्मतत्त्व।

देवता—परमेश्वर=कलाओं से पूर्ण ईश्वर।

जगदुत्पत्ति से पूर्व सबका स्वामी षोडशी—

यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ (यजु० ३२।५)

(यस्मात्-पुरा) जिस परमात्मा से पूर्व (किञ्चन-एव जातं-न) कोई भी वस्तु उत्पन्न न हुई थी (यः-विश्वा भुवनानि-आबभूव) जो सब लोकों पर छाया हुआ है—जिसके आश्रय में सब लोक हैं (प्रजापतिः प्रजया संरराणः) वह जीवरूप प्रजा का पालक अधिष्ठाता अपनी जीव प्रजा द्वारा सम्यक् रम्यमाण होने के हेतु[1] (त्रीणि ज्योतींषि सचते) तीनों लोकों पर स्वप्रभावप्रकाशक अग्नि विद्युत् सूर्य को संयुक्त करता है (सः-षोडशी) वह सोलह कलाओं का स्वामी है ॥

उत्पन्न होने वाली कोई भी वस्तु उत्पत्ति से पूर्व नहीं होती अतः उत्पन्नमात्र वस्तु से पूर्व परमात्मा विद्यमान था उसने सबको उत्पन्न किया प्रथम लोकों को उत्पन्न कर उन पर वह छा गया उन्हें स्वाधीन किया पुनः प्रमुख तीन लोकों पर अग्नि विद्युत् सूर्य इन तीन ज्योतियों को उस प्रजापति ने अपनी जीव प्रजा द्वारा गुण गान आराधना स्तुति उपासना के हेतु संयुक्त किया जिससे ये ज्योतियां जीव प्रजा को प्रजापति परमात्मा का पन्थ दर्शावें उसकी ओर प्रवृत्त करें कि वह सोलहकलावाला स्थावर जङ्गम जगत् की सोलह कलाओं अर्थात् निर्माण की स्थितियों–विभागों–मुख्य उपकरणों का स्वामी है कलाकार है। वे कलाएं हैं प्रश्नोपनिषद् के छटे प्रश्न में कही हुई प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम। इन सोलह कलाओं में कुछ कलाएं प्राणी जगत् या जङ्गम जगत् की हैं और कुछ स्थावर जगत् की हैं। जिनमें 'प्राण, श्रद्धा, मन, इन्द्रिय, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म ये आठ कलाएं तो जङ्गम जगत् की हैं इनसे जङ्गम जगत् का कलेवर बनता है शेष आठ कलाएं स्थावर जगत् की हैं जिनसे स्थावर का आकर बनता हैं। इस प्रकार इन सोलह कलाओं से कलाकार परमात्मा ने समस्त स्थावर जङ्गम जगत् का निर्माण किया, इन एक

---

१. संरराणः—कर्मणि कर्तृ प्रत्ययः।

एक कला पर विचार करने से उस कलाकार का परिचय मिलता है ।।

ऋषिः—मातृनामा=माता सबकी माता तथा सबके निर्माता के प्रति नम्र स्वभाववाला उपासक जन ।

देवता—गन्धर्वः=वेदवाणी का धारक–वेदस्वामी परमात्मा ।

विश्व का स्वामी एक स्तुत्य परमात्मा—

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः । तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ (अथर्व० २।२।१)

(यः) जो (दिव्यः) कमनीय ज्ञानप्रकाशस्वरूप (गन्धर्वः) वेद वाणी का धारक (भुवनस्य-एकः-एव पतिः) विश्व का एक ही स्वामी (विक्षु नमस्यः-ईड्यः) समस्त देवों में या समस्त वस्तुओं में नमस्करणीय और स्तुति करने योग्य है (दिव्य देव) हे कमनीय ज्ञान-प्रकाशस्वरूप देव (ते नमः-अस्तु) तेरे लिये नमस्कार हो (तं त्वा ब्रह्मणा यौमि) उस तुझ को मन्त्र—मनन—जपध्यान से प्राप्त होता हूं । अतः (ते दिवि सधस्थम्) तेरे ज्ञान प्रकाश स्वरूप में मेरा समान स्थान हो ।

मनुष्य संसार में विविध वस्तुओं को प्यार एवं नमस्कार करता रहता है अपितु उनकी प्रशंसा में लगा रहता है, परन्तु समस्त वस्तुओं में प्यारा नमस्करणीय और स्तुति प्रशंसाके योग्य केवल विश्व का स्वामी परमात्मा ही है वह तो सचमुच प्राणों से भी प्यारा प्राणों का प्राण और पूज्यों का पूज्य देवों का देव अतिपूज्य महाप्रशंसनीय है । जैसे-जैसे मनुष्य मनन करेगा सोचेगा विचारेगा उसे निश्चय होता जावेगा । अपितु मनन से अनेक और अधिकाधिक नमन भावों को समर्पित करता हुआ अपने मन में स्थिररूप से उसे बिठा लेता है मानो स्वयं उस परमात्मा के ज्ञानप्रकाशरूप एवं

अध्यात्मप्रकाशरूप सहवास में वह जा बैठा है या अपना समान स्थान बना लिया हैं, ऐसी स्थिति को अनुभव करता है ॥

ऋषिः—कुत्सः=स्तुतिकर्ता[1] ।

देवताः—अध्यात्मम्=आत्मा में वर्तमान ब्रह्म ।

कालत्रय में निष्पन्न जगत् का अधिष्ठाता—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्व० १०।८।१)

(यः) जो परमात्मा (भूतं च भव्यं च) उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले का। एवं (यः) जो परमात्मा (सर्वं च) और सब वर्तमान जगत् का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है (च) और (यस्य केवलं स्वः) जिसका केवल सुखस्वरूप है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए नमस्कार करना चाहिए उसकी ओर अपना समर्पण करना चाहिये।

मनुष्य एक दो वस्तुएं बना कर अभिमान कर बैठता है कि मैंने इनको बनाया है मैं बड़ा शिल्पी या कलाकार हूं तथा अन्य जन भी उसकी मुक्तकण्ठ से स्तुति प्रशंसा करने लगता है उसे बहुशः नमस्कार करता है परन्तु प्यारे सज्जनो! इस विश्व पर तो दृष्टिपात करो क्या क्या इसमें बन रहा है, पृथिवी के ऊपर बन रहा है और इसके अन्दर बन रहा है। क्या क्या बन रहे हैं कोई परिगणन कर सकता है? नहीं! कोई नहीं!! पीछे भी बहुत बन चुका है और आगे भी बनेगा। इन सब बने हुओं बनते हुओं और बनने वालों पर अधिष्ठाता इनका रचयिता परमात्मा है उस ऐसे सर्व-निर्माता अधिष्ठाता को हमें आत्मभाव से नमस्कार करना चाहिए॥

१. "ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्" निरु० ३।११।५)

ऋषिः—दीर्घतमाः=लम्बे अन्धकार से युक्त—दीर्घकाल से ब्रह्म-ज्ञान से शून्य—अज्ञानान्धकार में पडा हुआ तथा अमर जीवन का इच्छुक।

देवता—विश्वे देवाः=दिव्य गुण वाले पदार्थ तथा अमरदेव।

मुक्तात्माएं वेदों और वेदों के प्रतिपाद्य पदार्थों का आश्रय परमात्मा—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

(ऋ० १।१६४।३९)

(यस्मिन्-परमे व्योमन् अक्षरे) जिस परम व्यापक अविनाशी परमात्मा में (ऋचः) ऋचाएं—वेद मन्त्र—उनके ज्ञानविषय। तथा (विश्वे देवाः) ज्ञान विषयों के उपयोक्तव्य सब देवता दिव्य-गुणयुक्त अग्नि वायु सूर्य आदि प्रमुख पदार्थ तथा ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न सिद्ध जन मुक्तात्माएं (अधि-निषेदुः) आश्रय पाये हुए हैं (तं यः-न वेद) उसे जो नहीं जानता है (किम्-ऋचा करिष्यति) वह ऋचामात्र से—केवल मन्त्र से क्या करेगा—क्या अभीष्ट साधेगा या कुछ ही संसार में स्वहित साधेगा (ये-इत् तत्-विदुः) जो तो उसे जानने वाले हैं (ते-इमे समासते) वे ये उसमें समागम प्राप्त करते हैं—उसके आश्रय में मोक्ष में विराजते हैं—मुक्त देव बनते हैं।

न पढ़ने से पढ़ना श्रेष्ठ है, अन्य शास्त्रों के पठन पाठन से ऊंचा स्थान वेद के पठन पाठन का। वेद के भी ज्ञान विषयों में प्रमुख ज्ञान करना है व्यापक अविनाशी परमात्मा का जो कि समस्त ज्ञानों का अवलम्बन और समस्त देवों—अग्नि सूर्य आदि भौतिक

पदार्थों एवं मुक्तात्माओं का भी आश्रय है। इस प्रकार वेद की ऋचाओं और ऋचाओं में कहे देवताओं का अवलम्बन अथवा ज्ञानात्मक और विकारात्मक जगत् का तथा ब्रह्मज्ञानी मुक्तों का अवलम्बन परमात्मा है, उसके जाने माने विना मानव जीवन का साफल्य नहीं किन्तु उसी के साक्षात् ज्ञान से ज्ञानी जन उसमें समागम प्राप्त करते हैं अन्यथा उसके समागम का लाभ नहीं मिला करता। इस विषय को इस रूप में भी देख सकते हैं कि पठनीय प्रकरण वाक्य पर निर्भर है, वाक्य निर्भर है पद या शब्द पर, पद या शब्द निर्भर है क, ख आदि वर्ण पर। क, ख आदि वर्ण निर्भर है स्वर पर, स्वर निर्भर हैं 'अ' अक्षर पर। 'अ' अक्षर व्यापक अविनाशी शब्द ब्रह्म है। जिसे इसका यथार्थ ज्ञान नहीं वह पठनीय पाठों में चल नहीं सकता। 'अ' का अर्थ या प्रतिपाद्य है परम व्यापक अविनाशी परमात्मा। उसका ज्ञान समस्त पठनीय पाठों का प्रमुख और सार ज्ञान है उससे रहित ज्ञान निःसार है। जो इस परम व्यापक अविनाशी परमात्मा को जानते हैं वे उसमें समागम प्राप्त करते हैं मुक्त हो जाते ॥

ऋषिः—ब्रह्मा=ब्रह्मनिष्ठ[1] जन।

देवता—अध्यात्मम्=आत्मा में साक्षात् होने वाला ब्रह्म।

जड जङ्गम का ज्ञाता सर्वज्ञ सर्वप्रवर्त्तक अकेला—

स प्रजाभ्यो विपश्यति यश्च प्राणिति यश्च न।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥

(अथर्व० १३ । ४ । ११ । १२)

(सः-प्रजाभ्यः-विपश्यति) वह परमात्मा संसार की वस्तुओं को विशेष रूप से देखता है—जानता है (यः-च प्राणिति यः-च न)

---

१. "यो ब्रह्मनिष्ठः स्यात्त ब्रह्माणं कुर्वीत" (गो० उ० १ । ३)

जो प्राण ले रही है और जो न प्राण ले रही है (तम्-इदं सहः-निगतम्) उसको यह बल[1] प्राप्त है (सः-एषः-एकः) वह यह एक है (एकवृत्-एकः-एव) अकेला सृष्टि के प्रति वर्तनेवाला अकेला जीवों का कर्मफलप्रदाता तथा अकेला सब को आवृत करने वाला है ॥

कोई मनुष्य इस समस्त संसार को जान नहीं सकता क्योंकि मनुष्य अल्पज्ञ है, समस्त संसार के जानने की बात तो दूर रही किन्तु इसके किसी एक क्षेत्र का भी पूर्ण ज्ञान मनुष्य को नहीं हो पाता। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं मिल सकता जो सारी वनस्पतियों को या खनिज वस्तुओं को जानता हो। न कोई ऐसा मनुष्य हो सकता है जो सारे प्राणी-शरीरों का ज्ञाता हो, न ही कोई ऐसा ज्योतिषी है जो सारे ग्रह-तारों की गतिविधि और स्वरूप तथा आन्तरिक वृत्तान्त को जान सके। केवल परमात्मा ही विश्वात्मा तथा अन्तर्यामी होने से सर्वज्ञ है जो कि संसार के प्रत्येक प्राणी और अप्राणी को जानता है, सब को जानने में उसकी ही शक्ति है वह अकेला ही जगत् को अपने अन्दर लिए हुए उसकी उत्पत्ति स्थिति लय करने में समर्थ तथा जीवों के कर्मों का फल भी अकेला ही देने वाला है। उस ऐसे सर्वज्ञ की शरण लेने से मानव अपने को विशेष मानव या विशेषज्ञ बना सकता है ॥

*—

ऋषिः—कुत्सः=स्तुतिकर्ता जन।

देवता—अध्यात्मम्=आत्मा द्वारा अनुभूत ब्रह्म।

सूर्य के उदय और अस्त का आधार तथा प्रवर्त्तक अनन्त देव—

---

१. "सहः-बलनाम" (निघं० २। ६)

*—सूर्य को भी महाक्षेत्र में गति करने के लिये मार्ग देनेवाला परमात्मा है (पढो—"उरु हि राजा…" पृष्ठ २०)।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र न गच्छति ।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किञ्चन ॥

(अथर्व० १० । ८ । १६)

(यतः सूर्यः-उदेति) जहां से सूर्य उदय होता है (यत्र च-अस्तं गच्छति) और जहां अस्त को प्राप्त होता है (तत्-एव ज्येष्ठम्) उसको ही ज्येष्ठ श्रेष्ठ इष्टदेव (अहं मन्ये) मैं मानता हूं (तत्-उ किञ्चन न-अत्येति) उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता है ।

आकाशीय पिण्डों में सूर्य महापिण्ड है इसकी महत्ता कई प्रकार की है जो कि ताप से प्रकाश से आकार से और कार्य से है। सूर्य का ताप भारी है लोहे जैसी ठोस धातु को भी २५ लाख मील दूर रहने पर भी उसे वायव्य रूप दे देता है (गैस बना देता है), प्रकाश भी महान् है उसके प्रकाश को आंख से सीधे नहीं देखा जा सकता और समस्त सौर मण्डल में अर्व खर्व मीलों से भी दूर तक पहुंचता है, आकार में महान् है जिस पृथिवी पर हम रहते हैं यह लगभग २४ सहस्र मील के घेरे में है सूर्य इससे तेरह लाख गुणा बड़ा कहा जाता है, कार्य भी इसका भारी है पृथिवीगोलों को आकर्षित किये हुए है अतएव इसे ग्रहपति कहते हैं। परन्तु एक सत्ता है जिसके सम्मुख सूर्य भी एक छोटी सी वस्तु है जिसके आधार पर सूर्य का उदय और अस्त होता रहता है जो इसके उदय और अस्त का प्रवर्त्तक है वह सत्ता है अन्तर्यामी अनन्त परमात्मा। अरे लोगो ! मैं उपासक उसे ही ज्येष्ठ श्रेष्ठ उपास्य समझता हूं यह सूर्य उसके सम्मुख अल्प है तुच्छ है उस असीम का ये ससीम सूर्य आदि कोई भी उलङ्घन नहीं कर सकता है ॥

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः=प्रभु का वामस्थानीय तथा अङ्गी अङ्गों के स्वामी आत्मा को आनन्दरस से भरनेवाले प्रभु के अन्दर रत होनेवाला उपासक ।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा ।

जगद्रक्षार्थ आकाशमण्डल के भी पार—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः । चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥

(ऋ० १ । ५२ । १२)

(त्वम्) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! तू (धृषन्मनः) धर्षणशील मननशक्तिवाला (स्वभूत्योजाः) निज विभूतिरूप पराक्रमवाला होता हुआ (अस्य रजसः) इस लोकसमूह—जगत् के (अवसे) रक्षणार्थ (व्योमनः पारे) खगोलरूप आकाशमण्डल के पार में वर्तमान है। तथा (भूमिम्-ओजसः प्रतिमानं चकृषे) पृथिवी को अपने पराक्रम का प्रतिमान अर्थात् परिचायक ठोस पिण्ड बनाता है जो कि सूक्ष्म तत्त्वों को पकड़ इतना मूर्तरूप दे दिया है पुनः इस ठोस पृथिवी के ऊपर वर्तमान (अपः स्वः-दिवं परिभूः-एषि) सूक्ष्म जलों, अन्तरिक्ष और द्युलोक को स्वाधीन कर विराजमान हो रहा है।

यह समस्त विश्व एक खगोल में है, विश्व के उस खगोल महान् आकाशमण्डल के पार में अनन्त परमात्मा है जो इस विश्व की अपने अबाध्य ज्ञान और पराक्रम से रक्षा करता है। उसने इस विश्व में द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और सूक्ष्म जल को स्वाधीन रखा हुआ है तथा पृथिवी को ठोस पिण्डरूप दिया है यह पृथिवी ठोस पिण्ड उस जगत्स्वामी का परिचायक है जिसने सूक्ष्म अवयवों से ऐसा ठोसरूप दे दिया है और इसके ऊपर जलों स्थूल सूक्ष्म रूप में प्रवाहित किया है। उस ऐसे कलाकार का चिन्तन करना चाहिए जो पृथिवी को ठोस करने और उसके अन्दर स्वर्ण आदि धातुओं को अति कठोर बनाने में समर्थ है। मनुष्य तो उड़ती

हुई धूलि को छोटी सी ढेलीमात्र परिमाण में भी ठोस नहीं बना सकता परन्तु परमात्मा तो विस्तृत विश्व को घेरने में भी समर्थ है। ऐसे शक्तिमान् प्रभु का चिन्तन मानव को पाप से बचाता है कल्याणमार्ग का पथिक बनाता है ॥

*—

ऋषिः—वर्षागिरो महाराजस्य पुत्रभूता वार्षगिरा ऋज्राश्वाम्बरीष-सहदेवभयमानसुराधसः=वर्षार्थस्तुतिकर्ता महाराज के पुत्र सरल इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला, विद्याप्रेरक विद्वान्, सहनशील, पापकर्म से भयशील, पुण्यार्जित धनवाला।

देवता—इन्द्र=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

द्यावापृथिवीमय जगत् से अतिमहान् लोकों का कर्ता—

न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्च न शवसो अन्तमापुः स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥

(ऋ० १ । १०० । १५)

(यस्य) जिस ऐश्वर्यवान् परमात्मा के (शवसः-अन्तम्) बल के अन्तको (देवाः-देवता[1])विद्वान् जन अपने देवत्वगुणसे (न-आपुः) प्राप्त नहीं कर सकते (न मर्ताः) न मनुष्य (-आपः) न आप्त ऋषि महर्षि (सः-त्वक्षसा) वह अपने बल से[2] (क्ष्मः-दिवः-च प्ररिक्वा) पृथिवी और द्युलोक का अतिरेक करनेवाला—तुच्छ करनेयाला (मरुत्वान् इन्द्रः-नः-ऊती भवतु) लोकों को धारण करनेवाला मरुतों का भी अधिष्ठाता परमात्मा हमारी रक्षा के लिए हो।

*—निरन्तर बहते हुए जल वायु वेग और प्रगतिशील किरणें परमात्मा के पराक्रम का अन्त नहीं पासकते (पढ़ो—"न हि ते क्षत्रं" पृष्ठ १८)

१. देवता=देवतया टाविभक्तेर्लुक् सुपां सुलुक्…" (अष्टा० ७।३।३९)

२. "त्वक्षं बलम्" (निघं० २ । ८)

साधारण मनुष्य भी अपने ज्ञान बल से संसार की बहुतेरी वस्तुओं का अन्त पा लेता है, ऋषि उससे अधिक अधिक सूक्ष्म वस्तुओं का भी अन्त जान लेता है और मुक्त जन का तो ज्ञान उससे विशेषज्ञ बन जाने से सबसे अधिक उत्कृष्ट हुआ करता है वह और भी अधिक अतिसूक्ष्म एवं अदृश्य वस्तुओं का भी अन्त जान पाता है परन्तु समस्त लोकों को वातसूत्रोंद्वारा चलानेवाले तथा खगोल के ऊर्ध्व और अधोदेश अर्थात् समस्त खगोल जिसके सम्मुख तुच्छ है—एक देशी है उस ऐसे शक्तिशाली परमात्मा के बल का अन्त या पूरा ज्ञान क्या मनुष्य क्या ऋषि और क्या देवता—मुक्तात्माएं कोई भी नहीं पा सकते, उसके आदेश में रहना श्रेयस्कर है ॥

ऋषिः—आकृष्टामाषाः=आकृष्ट कर लिए हैं धारण कर लिए हैं सोमरूप स्नेहरूप परमात्मा से ध्यानोपासना द्वारा स्नेह रस[1] जिन्होंने ऐसे उपासक जन।

देवता—सोमः=पवित्रकारक शान्त रसपूर्ण साक्षात्कृत परमात्मा।

विश्व का स्वामी विश्व में व्यापक विश्व का द्रष्टा—

विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते परियन्ति केतवः। व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥

(ऋ० ९। ८६। ५)

(सोम विश्वचक्षः) उपासनाद्वारा अन्तरात्मा में आविर्भूत करने योग्य—स्नेह शान्तिमयरसपूर्ण विश्वद्रष्टा परमात्मन्! (ते-ऋभ्वसः सतः प्रभो) तुझ अतिज्ञानप्रकाशवान्[2] सच्चे प्रभु के (केतवः-

१. मष हिंसायाम्" (भ्वादि०)

२. "ऋभवः-उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा" (निरु० ११।१५)

विश्वा धामानि परियन्ति) सूचक झण्डे सब स्थानों में लहराते हैं। क्योंकि (धर्मभिः-व्यानशि पवसे) तू अपने गुणकर्मों से व्यापक हुआ सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। अतः (विश्वस्य भुवनस्य पतिः-राजसि) समस्त संसार का पति हो विराज रहा है।

जैसे राजा किसी भी राष्ट्र में अवश्य हुआ करता है पर वह साधारण जन की भांति दृष्टिगोचर नहीं होता, राष्ट्र में होते हुए भी उसके मिलने का स्थान विशेष ही होता है तथापि उसके राजचिह्न राज्यभर में सूचकरूप में वर्तमान होते हैं एवं इस संसार का राजा परमात्मा इन्द्रियों के सम्मुख नहीं है किन्तु इस जगत् के अन्दर वर्तमान है इसमें व्यापक है तथापि उसके केतु—चिह्न या प्रज्ञान पहिचान की पताकाएं सर्वत्र फेहरा रही हैं वे सूचित कर रही हैं कि इस संसार राष्ट्र का स्वामी महान् है अनन्तगुणकर्मवान् है वह समस्त लोकों का द्रष्टा ज्ञाता परमात्मा अपनी व्यापक शक्ति से भासमान है वही हमारा शरण्य है उसकी शरण का स्थान मानव का हृदयमन्दिर है क्योंकि वह व्यापक है यह उसके मिलन का मन्दिर है अन्यत्र के पदार्थ तो उसकी सूचक पताकाएं हैं॥

इस प्रकरण का सार—

ईश्वर की सृष्टि से पूर्व स्वाधार वर्तमान था, सृष्टि के उपादान कारण प्रकृति का अध्यक्ष था और सर्गकाल में प्रकृति को सृष्टि के रूप में तथा प्रलयकाल में सृष्टि को पुनः प्रकृतिरूप में ले आने वाला, सृष्टि का उत्पत्तिकर्ता धर्ता संहर्ता, सृष्टि में विविध वनस्पतियों प्राणीशरीरों का निर्माता, पृथिवी आदि समस्त आकाशीय पिण्डों का धर्ता नियन्ता मार्गविधाता गतिप्रदाता, सूर्य आदि प्रकाशक पिण्डों का प्रकाशदाता, समस्त विश्व का स्वामी, समस्त सृष्टि का ज्ञाता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक आकाश से भी परे अनन्त है।

जीवात्माओं के प्रति ईश्वर—

❀—

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः=विकुण्ठा अर्थात् अप्रतिहतकर्मशक्ति उससे सम्पन्न अप्रतिहतकर्मशक्तिमान्—इन्द्रियविजयी—संयमी कर्मशील शरीरी आत्मा।

देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः=सृष्टि रचने धारण और संहार में तथा जीवात्माओं के कर्मफलप्रदान में अप्रतिहतशक्तिमान्-सर्वशक्तिमान् विश्वात्मा ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

पिता के समान और कर्मफलप्रदाता है—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः। मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम्॥

(ऋ० १०।४८।१)

(अहं वसुनः पूर्व्यः पतिः-भुवम्) मैं धनैश्वर्य[1] का पुरातन स्वामी हूं (अहं शश्वतः-धनानि संजयामि) मैं सदा से[2] प्रथम से ही धनों को स्वाधीन किए हुए हूं (जन्तवः-मा पितरं न हवन्ते) प्राणी मुझे पिता के समान मानकर बुलाते हैं—पुकारते हैं (अहं दाशुषे भोजनं विभजामि) मैं दाता—पात्र को प्रदानकर्ता के लिये भोग्यवस्तु विशेषरूप से देता हूं।

जो मनुष्य पात्रदान करता है—अधिकारी को दान देता है उसे यह नहीं समझना चाहिए कि उसने अपना कोई घाटा कर

---

*—परमात्मा हमारा पिता के समान सुप्राप्तव्य और कल्याणार्थ सङ्गमनीय है (पढो—"स नः पितेव सूनवे·····" पृष्ठ ११)।

१. "वसु धननाम" (निघं० २।१०)

२. शश्वतः कालात्।

लिया किन्तु उसने तो सत्पात्र को दान देकर ऐश्वर्यस्वामी परमात्मा के यहां अपना धन सुरक्षित रख दिया है। पुनः मनुष्य देने वाला भी कौन है, वस्तुतः देने वाला तो वही परमात्मा है हम तो उसके दिये धन को पात्र के प्रति दान कर पुनः उसी देव को समर्पित कर रहे होते हैं जिसका कि यह सब ऐश्वर्य है वही तो समस्त धनैश्वर्य का स्वामी है उसका दिया हुआ हमारे पास था हम कहां से लाए थे वही तो सदा से सब को देता आ रहा है उससे ही सब धनैश्वर्य लेने को उसका स्मरण करते हैं उसके नाम पर उसके आदेशानुसार देने वाले को वह परमात्मा और विशेष देता है जो कि सच्चा पिता है, पिता के पास सौंपने से विशेषरूप में पुनः अपना भाग होगा ही इसमें क्या संदेह ॥

ऋषिः—भौवनो विश्वकर्मा=भुवन अर्थात् संसार में जन्म पाने-वाला सर्वकर्मकर्ता स्वतन्त्रकर्मकर्ता जीवात्मा—कर्मठ जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

हमारा माता-पिता सुखद शरणदाता—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥

(ऋ० ८।९८।११)

(वसो त्वं हि नः पिता) हे वसानेवाले परमात्मन्! तू ही हमारा पिता (शतक्रतो त्वं माता) हे असंख्यकर्म वाले जगदीश्वर! तू हमारी माता (बभूविथ) हुआ है (अध) अनन्तर—अच्छ! (ते सुम्नम्-ईमहे) तेरे सुखद प्रसाद को मांगते हैं।

संसार के माता-पिता केवल उत्पन्न करनेवाले हैं या जन्म देने में निमित्त मात्र ही हैं परन्तु अपने अन्दर वसाने वाला माता और पिता तो हे परमात्मन्! तू ही है, तेरी शरण–तेरी गोद सुखद है। अब तो सांसारिक गोद को छोड़कर तेरी गोद में ही बैठना है तेरी

गोद के सुख को तुझ से हे प्रभो मांगता हूं, साश याचना करता हूं मुझे हे देव प्रदान कर ॥

ऋषिः—नृमेधः=मनुष्यमेधावाला या मनुष्यों में पवित्र श्रेष्ठ जन अर्थात् आस्तिक जन।

देवता—विश्वकर्मा=विश्व अर्थात् संसार जिसका कर्म है वह विश्वरचयिता परमात्मा।

पिता, कर्मफल विधाता, सर्वज्ञ और शरण्य—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

(ऋ० १०।८२।३)

(यः-नः-जनिता पिता) जो हमारा जनक पालक पिता (यः-विधाता) जो कर्मफलविधाता (विश्वा धामानि भुवनानि वेद) समस्त जन्मों—योनियों को लोकलोकान्तरों को जानता है (यः-देवानां नामधाः) जो अग्नि आदि देवों का नामकरण करने वाला परमात्मा है (तं सम्प्रश्नम्-अन्या भुवना-यन्ति) उस सम्यक् प्रश्न योग्य—रहस्यमय जिज्ञास्य परमात्मदेव को अन्य सब भुवन प्राप्त हो रहे हैं।

परमात्मा हमारा जन्मदाता और कर्मफलविधाता है वह लोक-लोकान्तरों एवं उनमें जन्मनेवाले विविध प्राणियों को भी जानता है जो कि दिव्यगुण सूर्य आदि पदार्थों का नामविधान करने वाला गुणानुसार नाम सूचक तथा नामानुसार गुणसंस्थापक है। उस ऐसे प्रष्टव्य जिज्ञास्य परमात्मा के प्रति समस्त भुवन-उत्पन्न हुए पिण्ड एवं पदार्थ गति करते हैं मानों उन पदार्थों और पिण्डों का विवेचन कर विवेचनशील उसकी ओर जाते हुए उसे बतलाते हुए समझते हैं वे उनसे मानो पूछते हैं कि इनका रचयिता धर्ता देव कौन है?

पुनः उनके विवेचन से वे मानो उन्हें बतलाते हैं दर्शाते हैं कि हमारा कर्ता धर्ता ऐसा है। चेतन पशु पक्षी भी उससे प्रेरित हुए अपनी अपनी बोली और आकृति से उस देव का बोध कराते हैं एवं मानवों में भी विद्वान् आस्तिक जन उसका सदा स्तवन भजन तथा स्थान-स्थान पर सभा सम्मेलन प्रसङ्ग में गुणगान व्याख्यान करते ही हैं। उस ऐसे प्रभु की शरण हमें प्राप्त हो यह आकांक्षा है ॥

ऋषिः—स्वयम्भु ब्रह्म—स्वयंसत्ता से वर्तमान ब्रह्म अर्थात् शरीर इन्द्रिय और मन के बन्धन से रहित अनुभूति वाला स्वाधार उद्यमी ऊपर उठा[1] संयमी जीवात्मा चेतनतत्त्व।

देवता—परमात्मा—मुक्ति का आधार जगदीश्वर।

बन्धु, पिता, कर्मफलविधाता, मोक्षप्रदाता—

न नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥

(यजु० ३२। १०)

(सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (बन्धुः-जनिता) स्नेहसम्बन्धवान् पिता (सः-विधाता) वह कर्मफलविधानकर्ता (विश्वा धामानि भुवनानि वेद) समस्त जन्मों योनियों और लोकलोकान्तरों को जानता है। तथा उस धाम को भी जानता है (यत्र तृतीये धामन्-देवाः-अमृतम्-आनशानाः-अध्यैरयन्त) जिस तृतीय धाम में अर्थात् इस जन्म और अग्रिम जन्म से भी पर धाम में—मोक्ष धाम में या

---

१. "बृहू उद्यमने" (तुदादि०) "सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्" (वेदा० ४।४।१) "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छान्दो० ८।१२।१३) चितितन्मात्रेणौडुलोमिरुपन्यासादिभ्यः (वेदा०४।४।६)

जड़ जगत् और जङ्गम जगत् से ऊपर मोक्ष धाम में मुक्तात्माएं अमृत सुख को सम्यक् प्राप्त होते हुए स्वेच्छा से वर्तमान रहते और विचरते हैं।

परमात्मा हमारा बन्धु है सदा स्नेह सम्बन्ध से वर्तनेवाला है तथा स्वात्मा में निरन्तर वर्तमान रहने वाला है, जन्म देने से वह पिता है, कर्मफल देने से विधाता है। वह समस्त योनियों, लोकों को और मुक्तों के उस मोक्ष धाम को भी जानता है जहां वे स्वच्छन्द रहते एवं विचरते हैं या विहार करते हैं। अतएव वह पिता परमात्मा कर्मानुसार योनि में लोक में वैसे वैसे शरीर में प्रविष्ट कर देता है और मोक्ष में भी पहुंचा देता है। उस ऐसे विधाता मोक्षप्रदाता पिता परमात्मा को मानना जानना अपने आत्मा में स्थान देना और उसका साक्षात् सत्सङ्ग करना चाहिए, इससे उभयलोकसिद्धि और मोक्षप्राप्ति होगी॥

ऋषिः—वामदेवः-प्रशस्त विद्वान्।

देवता—इन्द्रः-ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

सत्यपरायण जनों का परम पिता सखा त्राता सुखदाता ज्ञान प्रदाता—

त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्। सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः॥

(ऋ० ४। १७। १७)

(सोम्यानां नः) हम सोम्य अर्थात् सरल सत्यपरायण उपासकों का[1] (ददृशानः-आपिः-अभिख्याता मर्डिता त्राता सखा बोधि) भली भांति देख भाल करने वाला समीपी प्राप्त सम्बन्धवाला साक्षात् उप-

---

१. तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति (ऋ० ७।१०४।१२)

देष्टा सुखप्रदाता त्राणकर्ता मित्र होता हुआ परमात्मा तू बोध दे हमें सावधान कर। तथा (पितॄणां पितृतमः पिता) पालकों में अत्यन्त पालक पिता या पितरों के मध्य में पिता है पितृतम-ऊंचा पिता तू ऐसा होता हुआ (उशते लोकं कर्ता-ईम्-उ वयोधाः) अभिलाषी उपासक के लोक—सुखलोक को सम्पादन करने का स्वभाव रखने-वाला आयु का स्थापक हो।

मन वचन कर्म से सत्य का आचरण करने वाले सोम्य जनों की परमात्मा देख भाल करता है उन्हें उनका अभीष्ट सत्य मार्ग सुझाता है तथा उन स्थिर सुख के इच्छुकों को वाञ्छित सुख पहुंचाता है वह ऐसा परमात्मा पितरों में परमपिता है निकट सम्बन्धी जीवनदाता है। संसारी पिता तो केवल उत्पन्न कर देता है उसके हाथ में बच्चों का जीवन नहीं है किन्तु परमपिता परमात्मा के ही हाथ में है और संसारी पिता न सदा बना रहता है न सदा हित कर सकता है। परमात्मा को ही शाश्वत सदा हितकर्ता परमपिता सच्चा पिता मान कर उससे स्नेह और प्रेम बढाना चाहिए उसका गुणगान करना चाहिए॥

ऋषिः—कण्वः=मेधावी शिष्यभावपूर्ण जन।

देवता—बृहस्पतिः=वेदवाणी का स्वामी गुरुरूप परमात्मा।

वेद का प्रवचकर्त्ता गुरुओं का गुरु, आदि महर्षियों के अन्दर वेद का प्रकाशक—

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युकथ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे॥ (यजु० ३४।५७)

(ब्रह्मणस्पतिः) वेद का स्वामी-ज्ञानविज्ञान का स्वामी परमात्मा (नूनम्-उकथ्यं मन्त्रं प्रवदति) निश्चय प्रवचन करने योग्य प्रशस्त

मन्त्र अर्थात् वेदज्ञान का उपदेश देता है (यस्मिन्) जिसमें (इन्द्रः) वायु[1] (वरुणः) अङ्गिराः[2] (मित्रः) अग्नि[3] (अर्यमा) आदित्य[4] (देवाः-ओकांसि चक्रिरे) विद्वानों वेदप्रकाशक=ऋषियों ने अपने स्थान बनाए हुए हैं।

ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान की विषयदृष्टि से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद नाम से प्रसिद्ध चार वेद हैं। मन्त्ररूप चारों वेदों का आदि उपदेष्टा या प्रवचनकर्ता परमात्मा ही है, वही आदिसृष्टि में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा महर्षियों को इनका उपदेश देता या प्रवचन करता है। पूर्वजन्मकृत ज्ञानदृष्टि से इन ही महानुभावों को इनमें अधिकार प्राप्त है, अतएव इनके अन्तरात्मा में ही परमात्मा ने वेदों का उपदेश दिया या प्रवचन किया, ये नाम यौगिक एवं गुणवशात् हैं। अग्नि, वायु आदित्य, और अङ्गिराः (आपः) ही वेदों के देव हैं और ये ही उपाधिरूप में नाम भी चारों वेदप्रकाशक महर्षियों के हैं जो कि आदि सृष्टि में प्रत्येक के प्रवाह से प्रति सर्ग में अनादि नाम हैं और हुआ करते हैं। जैसा कि अन्यत्र कहा है कि "उत्तमे शिखरे जाते भूम्यां पर्वतमूर्ध्नि। ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुजाता गच्छ देवि यथासुखं स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पवने द्विजाता"। (नारायणोपनिषद्) अर्थात् पर्वतमूर्धा—हिमालय के ऊंचे शिखर पर समुत्पन्न भूप्रदेश

---

१. "यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः" (शत० ४।१।३।१९)

२. "तं वरुणं मृत्युमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्य श्रान्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत्तं वा एतमङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते" (गो० पू० १।७) कार्यकारण-साम्याद् वरुणोऽङ्गिराः।

३. "एषोऽग्निः भवति मित्रः (शत० २।३।२।१२)

४. "अर्यमा आदित्यः" (निरुक्ते)

(तिब्बत) पर ब्राह्मण अर्थात् अग्नि आदि महर्षियों द्वारा अविर्भूत हुई वेदमाता देवी संसार का सुख जिस प्रकार हो सके वैसे तू प्रचार पा ॥

ऋषिः—अङ्गिरसोऽमहीयुः=प्राणविद्यानिष्णात तथा वाणी का नहीं किन्तु मानस जप का इच्छुक[1]।

देवता—पवमानः सोमः=उपासक के अन्तरात्मा में साक्षात् आता हुआ शान्तसुखस्रावक परमात्मा।

सखा, आनन्दस्रावक परमात्मा—

पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः।

सखित्वमावृणीमहे ॥ (ऋ० ९।६१।४, साम० ३।२।१५)

(पवमानस्य) अन्तरात्मा में आते हुए (अपि पवित्रम्-उन्दतः) तथा पवित्र शान्त आनन्द रस चुआते हुए (ते) तुझ परमात्मा के (सखित्वम्) सखापन मित्रभाव को (वयम्-आवृणीमहे) हम भली भांति वरते हैं।

संसार में सख्य या मित्रता की जाती है परन्तु वह चिर तक स्थिर नहीं रहती क्योंकि बाहिरी मित्रता है और बाहिरी वस्तुप्राप्ति उसका लक्ष्य है। इस सांसारिक बाहिरी मित्रता में भारी दुःख का सामना भी करना पड़ता है और ऐसी मित्रता के भङ्ग हो जाने पर एक दूसरे का प्राण तक ले लेता है। परमात्मा की मित्रता न बाहिरी है न इसमें बाहिरी प्रयोजन है किन्तु यह तो भीतरी है और प्रयोजन भी भीतरी आत्मशान्ति है। परमात्मा की मित्रता बाहिरी आडम्बरों पर निर्भर नहीं और न बाहिरी अङ्गों से साध्य है उसका वाणी व्यापार तक से सम्बन्ध नहीं केवल मानस जप ही उसमें अपेक्षित है मानस जप की एकाग्रता में जब एकरसता–एक प्रवाहता

---

१. "मही वाङ्नाम" (निघं० १। ११)

हो जाती है या रसप्रवाहधारा चल पड़ती है। तब अन्तरात्मा में उपासक उसके आनन्दरस में आपूर भरपूर या आप्लावित हो जाता है और अन्दर ही अन्दर पुकारता है अह ह! तेरी मित्रता को अन्तर्यामिन् हम वरते रहे निरन्तर वरते रहें

*—

ऋषिः—काण्वो मेधातिथिः=मेधावी का पुत्र—उत्कृष्टमेधावी पवित्र अतिथि।

देवता—त्वष्टा=विश्व को घड़ने वाला—विश्व को बनाने वाला परमात्मा।

हमारा सब कुछ केवल, सर्वविधाता—

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुपह्वये।
अस्माकमस्तु केवलः ॥ ऋ० १।१३।१०)

(इह) इस जीवन में (अग्रियं विश्वरूपं त्वष्टारम्-उपह्वये) श्रेष्ठ प्रमुख सर्वाधार विश्व को रूप देने वाले—विश्वरूप के आधार सृष्टि-रचयिता परमात्मा को अपने आत्मभाव से अन्तरात्मा में आमन्त्रित करता हूं। क्योंकि (केवलः-अस्माकम्-अस्तु) वही केवल हमारा है और सदा हो।

जीवन में अनेक वार ऐसे अवसर आते हैं जबकि हमें दूसरे के सहाय की आवश्यकता होती है, बहुत वार हम अपने को इतने असमर्थ पाते हैं कि हम उस विघ्न, बाधक या घातक से बचाव के लिये दूसरे को पुकारते हैं! पर वह पुकार सुनने वाला जन समीप भी है या नहीं, समीप होता हुआ भी नहीं सुन पाता प्रमाद से या अनवधानता से, पुनः सुनता हुआ भी त्राण के लिये पास नहीं आता स्वयं असमर्थ होने से या समर्थ होने पर भी स्वार्थसिद्धि न

*—पाशमोचनकर्ता परमात्मा (पढो-"शुनः शः ह्वद्..." पृष्ठ २५)

होने पर या अनुदारता के कारण। परन्तु परमात्मा इन दोषों से रहित होने के कारण तुरन्त पुकार सुनता है और उसके अति समीप होने से या स्वात्मा में भी अन्तर्यामीरूप से विराजमान आत्मा का आत्मा होने से त्राण भी करता है पुनः ऐसे परमात्मा को ही हमें अपना सर्वसम्बन्धयुक्त और सर्वस्व मानना जानना चाहिए॥

ऋषि—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः=सुनहरी भावनामय गुम्फा वाला (गुलदस्ते वाला) प्राणवेत्ता जन।

देवता—अग्निः=स्वज्ञानप्रकाश से जीवन की दिशाओं को दिखाने वाला परमात्मा।

समर्पणकर्ता स्तोता उपासक का अभीष्ट साधक मार्गदर्शक तथा पिता--

त्वमग्ने उरुशंसाय वाघते स्पार्हं रेक्णः परमं वनोषि तत्। आध्रस्य चित्प्रमतिरुच्यसे पिता प्रपाकं शास्सि प्रदिशो विदुष्टरः॥

(ऋ० १।३१।१४)

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (त्वम्) तू (उरुशंसाय वाघते) बहुत शंसन स्तवन करनेवाले उपासक के लिये[1] (तत् स्पार्हं परमं रेक्णः-वनोषि) उस प्रसिद्ध स्पृहणीय कमनीय वाञ्छनीय धन को[2] संविभक्त करता है चुन कर देता है—सम्यक् प्रदान करता है जिसको वह चाहता है (आध्रस्य चित् प्रमतिः-उच्यसे) जिसने अपना समर्पण तेरे लिए कर दिया उस ऐसे शरणागत का अवश्य ही तू ऊंची मति प्रदाता या प्रमाणरूप आधार

१. "वाघतः मेधाविनाम" (निघं० ३।१८) "वाघतः- ऋत्विङ् नाम" (निघं० ३।१।१५)।

२. रेक्णः- धननाम" (निघं० २।१०)।

कहा जाता है (विदुष्टरः-पिता दिशः पाकं प्रशास्सि) अत्यन्तज्ञानी पिता होकर दिशाओं—समस्त स्थानों का उत्तम[1] प्रशिक्षणकर्ता है सब दिशाओं को अच्छा सुझाता है।

संसार में धनसंग्रह की प्रवृत्ति पाई जाती है। धनसंग्रह करना धनपति बनना भी आवश्यक है, वेद में अन्यत्र कहा भी है "वयं स्याम पतयो रयीणाम्" (ऋ० ४।५०।६) हम धन के स्वामी बनें। परन्तु भौतिक धन के स्वामी बनने का लाभ अस्थिर है, भौतिक धन का विश्वास भी क्या कल रहता है कि नहीं, यह भी तो परमात्मन्! प्रायः तेरे आदेशों के विपरीत परपीडा से प्राप्त हुआ तो वह केवल आत्मवञ्चना अधःपतन की ओर ले जाने वाला होगा, किन्तु भगवन्! तेरे द्वारा प्राप्त किया धन अनोखा है और तू धन-दाता भी निराला है। तू बहुत प्रशंसा स्तुति करनेवाले अपने उपासक पर कृपा बरसाता है उसे वाञ्छित धनैश्वर्य प्रदान करता है। पुनः जिसने अपना सर्वात्मना समर्पण तेरे प्रति कर दिया है तो तेरी कृपा का क्या कहना? उसका तो तू भी सर्वात्मना पिता ज्ञानदाता और आधार बनकर जीवन की समस्त दिशाओं को सुझाता है क्योंकि तू सच्चा मार्गदर्शक है, जब मनुष्य किङ्कर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है तो उसके उद्धार की दिशा तू ही तो दिखलाता और मार्ग सुझाता है, निश्चय तुझ से बढ़कर कोई ज्ञानी उसका दिशाबोधक और मार्गदर्शक नहीं है।

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा=अपनी इन्द्रियां गुप्त रखने के स्वभाव वाले संयमी अथवा निज वासनाओं का लोप कर देने के शील रखने वाले वैराग्यसम्पन्न कुल [पितृकुल या गुरुकुल] में उत्पन्न या व्युत्पन्न बन्धु प्रेमव्यवहार से बान्धनेवाला, सुबन्धु अच्छे व्यवहार से बान्धनेवाला, श्रुत बन्धु

१. "पाकः प्रशस्यनाम" (निघं० ३।८)।

उपदेश सुनाकर बान्धनेवाला, विप्रबन्धु विविधतृप्तिशान्ति से बान्धने वाला ये चार सज्जन महानुभाव।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा।

अतिसमीप सम्बन्धी सहवासी कल्याणकारी दिव्य धनदाता—

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिन्दाः॥

(ऋ० ५।२४।१, यजु० ३।२५, १५।४२, २५।४७)

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (त्वं नः-अन्तमः-उत त्राता) तू हमारा समीपी समीप—सम्बन्धवाला और त्राणकर्ता (शिवः-वरूथ्यः-भव) कल्याणकारी एकगृहवासी[1] अर्थात् हृदयरूप घर में साक्षात् होने वाला हो। तथा (वसुः-अग्निः) वसाने वाला अग्नि होकर (वसुश्रवाः) वसुओं को—ऐश्वर्यों को सुनाता हुआ (अच्छा नक्षि) हमें भली प्रकार प्राप्त हो (द्युमत्तमं रयिन्दाः) वह तू तेजोयुक्त कान्तिमय ज्ञान धन को दे।

परमात्मा समीप से समीप रहने वाला है, जिससे समीप और समीपी सम्बन्धीजन कोई नहीं क्योंकि वह अपने आत्मा में भी आत्मा का आत्मा यथार्थ समीपी सम्बन्धी है। सब देश सब काल में वह हमारा नितान्त रक्षा करने वाला परम आश्रय कल्याणकारी सहवासी साथी है। सांसारिक उत्कृष्ट सुख भुगाने वाला और मोक्ष में अपने साथ बसानेवाला मोक्षानन्द प्रदाता है। उसके श्रवण में दिव्यसुख-सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं वह तेजोमय धन का दाता भी है, संसार के अन्य धन अन्धकारमय हैं जिनको मनुष्य एकत्र करता रहता है क्योंकि वे प्राकृतिक हैं जड़ वस्तु से निष्पन्न होते हैं और जड़ के ही विकार हैं। परमात्मा के सङ्ग से प्राप्त धन तेजोरूप है दिव्य है तेजःस्वरूप नितान्त सुखरूप है और चेतन देव परमात्मा के सङ्ग से

---

१. "वरुथं गृहम्" (निघं० ३।४)।

प्राप्त हुआ है, उसे प्राप्त कर आत्मा तेजस्वी बन जाता है तथा मल-दोष से रहित होकर अपने को परमात्मा के आश्रय में स्वस्थ पाता है ॥

ऋषि:—हिरण्यस्तूप आङ्गिरस:=सुनहरी भावनाओं का गुम्फा-वाला (गुल्दस्ता वाला) प्राणवेत्ता जन्मसिद्धान्तरहस्यदर्शी जन।

देवता—अग्नि:=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा।

जन्मदाता निजदर्शन की प्यास बुझाता मोक्ष में धारणकर्ता—

त्वं तमग्ने अमृतत्वे उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे। यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मय: कृणोषिप्रय आ च सूरये ॥

(ऋ० १। ३१। ७)

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (त्वम्) तू (य:-दिवे दिवे श्रवसे तातृषाण:) जो तुझ श्रवणयोग्य के लिए प्रति दिन तेरे दर्शन का प्यासा रहता है (त्वं तं मर्तम्-उत्तमे-अमृतत्वे दधासि) तू उस मनुष्य को उत्तम सर्वोत्कृष्ट अमृतत्त्व-मोक्षपद पर स्थिर कर देता है। तथा (सूरये-उभयाय जन्मने मय:[1] प्रय:[2] च-आकृणोषि) उस ऐसे ध्यानी विद्वान् के लिये उभय जन्म-दोनों जन्मों-मुक्ति से पूर्व अर्थात् वर्तमान जन्म और मुक्ति के पश्चात् होने वाले जन्म के लिये 'मय:' और 'प्रय:' वर्तमान भोग तथा भावी सुख प्रदान करता है।

हे परमात्मन्। तू अपने दर्शन के निरन्तर प्यासेजन को अपनी शरण में लेकर निजदर्शनामृत का पान कराता है उसकी प्यास बुझाता है मोक्षसुख भुगाता है। संसार में भी उभयजन्म के अर्थात्

---

१ "मय: सुखनाम" (निघं० ३। ६)

२. "प्रय:-अन्ननाम" निघं० २। ७)

मोक्ष से पूर्व—वर्तमान जन्म और मोक्ष के पश्चात् मोक्ष से निवृत्त होने पर भावी जन्म के सुख को भी प्रदान करता है। परमात्मन्! तू उसके संसार और परमार्थ का साधक बन जाता है। परन्तु खेद है कि मानव को तेरी प्यास ही लगना कठिन है, प्यास लगती है नश्वर भोगों की उस प्यास में तो तडपना है व्याकुलता है और पीने पर भी प्यास या तो बुझती नहीं बुझती है तो बाहिरी दृष्टि से बुझती है फिर उभर जाती है अन्दर तो उलटा अशान्ति को बढ़ा जाती है। वस्तुतः यह बाहिरी जड़ भोगों की प्यास तो ज्वालारूप है, परन्तु परमात्मन्! तेरी प्यास तो चेतन चाह है, अमृतधारा है बढती हुई आनन्द ही आनन्द रिसाती है। अन्त में तेरे दर्शनामृत का पान कर मेरा आत्मा पूर्ण शान्त आप्तकाम हो जाता है ॥

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः=वेदवाणी पर अधिकार पाए हुए पूर्ण वेदवेत्ता विद्वान् का पुत्र या शिष्य त्रिगुणित ब्रह्मचर्य से सम्पन्न आदित्य ब्रह्मचारी विद्वान्[1]।

देवता—वैश्वानरः=विश्वनायक तथा सब नरों का इष्ट देव परमात्मा।

नमस्करणीय, गुप्तद्रष्टा और रक्षक—

विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वमग्ने तमसि-तस्थिवांसम्। वैश्वानरोऽवतूतये योऽमर्त्यो-ऽवतूतये नः ॥

(ऋ० ६।९।७)

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् मनीषी जन (भियानाः) भय करते हुए—डरते हुए (तमसि तस्थिवांसं त्वाम्-अनमस्यन्) तुझ अप्रकाश में रहते हुए गुप्त रहते हुए को नमस्कार करते हैं (वैश्वानरः-अमर्त्यः-न-ऊतये-

१. "भरद्वाजो वै त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास" (तै० ३।१०।११।३)

अवतु) वह आप विश्वनायक तथा सब नरों का इष्टदेव सदा अमर अमृतरूप प्यारा परमात्मा जिस प्रकार हमारी रक्षा हो सके वैसे रक्षा करे (नः-ऊतये-अवतु) अवश्य हमारी रक्षा करे।

परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। पर्वत की ऊंची चोटी पर है तो समुद्र की गहरी थाह में भी, प्रकाश में है तो अन्धेरे में भी विद्यमान है। घने से घने अन्धेरे में जहां कोई वस्तु नहीं दिखाई पड़ती और न कोई अपने को देखने वाला देख पाता है वह वहां भी है और अपने को देखता भी है। प्रकाश में भी भौतिक नेत्रों से न दिखाई देकर अन्धेरे में होने की भांति गुप्तरूप में ही रहता है और गुप्त रहता हुआ सब कुछ देखता है, विद्वान् संयमी जन उस गुप्त रूप में रहते हुए परमात्मा से सदा भय करते हुए उसकी ओर नम्र आस्तिकभाव प्रदर्शित करते हैं और पापकर्म से बचते हैं तथा स्वात्म-समर्पण से प्रार्थना किया करते हैं कि हे मेरे प्यारे इष्टदेव परमात्मन् ! आप हमारी रक्षा करें अवश्य रक्षा करें महती रक्षारूपा मुक्ति के लिए हमारी रक्षा करें ॥

ऋषिः—ब्रह्मा=ब्रह्मनिष्ठ जन।

देवता—वरुण=वरण करने वाला—अपनी अन्तर्यामित्व और सर्वद्रष्टृत्व शक्ति से सब को स्वाधीन रखनेवाला या सब पर छाया हुआ परमात्मा।

परमात्मा हमारे सब व्यवहारों का द्रष्टा ज्ञाता।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति

यः प्रलङ्कम्। द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा

तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥

(अथर्व० ४।१६।२)

(यः-तिष्ठति चरति) जो स्थिर बैठा हुआ है, चल रहा है (यः-च) और जो (वञ्चति) ठग रहा है—धोखा दे रहा है

(यः) जो (निलायं चरति) गुप्तरूप में छिपकर व्यवहार करता पा मारता या चोरी करता है (यः) जो (प्रतङ्कम्) प्रत्यक्ष-सम्मुख होकर तंग कर रहा बलात् लूट रहा है—मार घात कर रहा है[1] (द्वौ निषद्य यत्-मन्त्रयेते) दो मिल बैठकर जो मन्त्रणा कर रहे हैं (तत्) उसे (तृतीयः- वरुणः- राजा वेद) तीसरा वरने वाला अपनी अन्तर्यामित्व और सर्वद्रष्टृत्वशक्ति से सब को स्वाधीन करने वाला सर्वत्र राजमान परमात्मा देखता है—जानता है।

परमात्मा को यद्यपि कोई मनुष्य आंखों से नहीं देखता है परन्तु वह परमात्मा तो अपनी दिव्यदृष्टि या सर्वद्रष्टृत्वशक्ति से सब को सदा देखता ही रहता है, चाहे कोई ठहरा हुआ हो या चल रहा हो, ठग रहा हो छिपकर चुरा रहा हो या बलात् लूट रहा हो। इस प्रकार प्रत्यक्ष परोक्ष पापकर्ता को परमात्मा अवश्य देखता है, अपितु कहीं गुप्त स्थान में पर्वत की गुहा में गिरिकन्दरा में तृण-संघट में वनझमघट में भी दो मिलकर मन्त्रणा विचार करे तो भी उनका सब वृत्त वह सर्वद्रष्टा परमात्मा जान लेता है, उससे कुछ गुप्त नहीं रह सकता। उसे ऐसा सर्वद्रष्टा सर्वान्तर्यामी समझ पापा-चरण से पृथक् हो सदाचरण ही करना चाहिए वस्तुतः उसकी इस प्रकार व्यापकता सर्वद्रष्टृता सर्वज्ञता को जो जान लेता है वह पाप में प्रवृत्त नहीं होता, संसार में पाप की वृद्धि का प्रधान कारण है परमात्मा को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी और सर्वद्रष्टा न मानना तथा न जानना॥

*—

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः=ज्ञानप्रकाशक परमात्मा का लक्ष्य-

---

[1] "तकि कृच्छ्रजीवने" (भ्वादि०)।

* परमात्मा पापी पर भी कृपा करता है और निष्पाप को मुक्ति प्रदान करता है (पढो—"यो मृळयति चक्रुषे…" पृष्ठ ६७)।

कर्ता तपस्वी जन ।

देवता—सूर्यः=ज्ञानप्रकाशक परमात्मा ।

हमारी रक्षार्थ वेदवाणी का प्रदानकर्ता—

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानिच । विश्वमन्यन्निविशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥

(ऋ० १० । ३७ । २)

(सा सत्योक्तिः) वह अनन्त त्रिकालाबाध्य वेदरूपा ईश्वरीय-वाणी (विश्वतः-मा परिपातु) सब ओर से मेरी रक्षा करती है (यत्र) जिसमें—जिसके अनुसार (द्यावा च-अहानि च-ततनन्) प्रकाश-मान लोक और उन लोकों में दिन फैले हुए हैं—प्रकाशित हुए हैं (अन्यत्-विश्वं निविशते यत्-एजति) जिसके अनुसार अन्य वस्तु-मात्र ठहरती है और जो गति करती है । तथा (विश्वाहा-आपः) सर्वदा जल वर्तमान हैं (विश्वाहा सूर्यः-उदेति) सदा सूर्य उदय होता है ।

कृपालु रक्षक ईश्वर ने संसार में जीवनयात्रा के लिए अपनी वेदरूप सत्य वाणी रक्षार्थ प्रदान की है। इस वेदरूप वाणी अर्थात् वेदविद्या के अनुसार जब कि प्रकाशमय लोक प्रकाशित हुए दिन भी लोकों पर प्रकाशित हुए फैले, अपितु वस्तुमात्र वेदा-नुसार अपनी सत्ता पर स्थिर होती है अपनी गतिविधि को निभाती है , जल भी उसी के अनुसार प्रवाहित हो रहे हैं सूर्य उदय होता है और अस्त होता है । इस प्रकार समस्त जड़ जगत् उस वेदवाणी का अनुसरण करता है अपने-अपने को प्रकाशित करता है तब हमें भी वेदवाणी के अनुसार अपनी जीवनयात्रा करनी चाहिये इससे हमारा कल्याण होगा और जीवन भी प्रकाशमान होगा। उस ईश्वर की कितनी महती कृपा है जिसने हमें उपभोग के पदार्थ प्रदान

किये साथ में उनके सदुपयोग के लिए वेद-विद्या भी प्रदान की है उस ऐसे परमात्मा का कोटिशः धन्यवाद है उसे पुनः पुनः प्रणाम है ॥

इस प्रकरण का सार—

परमात्मा हमारा जन्मदाता कल्याण कर्ता पिता, हितचिन्तक-माता, स्नेही बन्धु, प्रियकारी सखा, साथरखनेवाला सहवासी, सर्व-सम्बन्धगुणवान् हितैषी, शासक राजा, वेदज्ञान का दाता गुरु, मार्गदर्शक नेता, त्राणकर्ता रक्षक, कर्मों का द्रष्टा अन्तर्यामी, कर्म फल-विधाता सुखदाता, पाशमोचनकर्ता, मोक्षानन्दप्रदाता है ।

स्वस्वरूपतः ईश्वर—

ऋषिः—भार्गवो नेमः=ज्ञानदीप्तिवाले कुल (पितृकुल या गुरुकुल में) उत्पन्न या व्युत्पन्न एक पक्षीय जिज्ञासु ।

देवता— इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा ।

ईश्वर नहीं है ऐसा नहीं, वह है विश्व के नियम उसका निश्चय कराते हैं—

प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति । नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम ॥

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्य-स्मि मह्ना । ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीति ॥ (ऋ० ८ । १०० । ३-४)

(इन्द्रः-न-अस्ति) परमात्मा नहीं है (त्वः-नेमः-उ-आह) तुम में से एक पक्ष या पक्षीय किसी जन ने जो कहा है, युक्ति दी है कि (कः-ईं ददर्श कम्-अभिष्टवाम) किसने उसे देखा है पुनः

किसकी स्तुति हम करें (यदि सत्यम्-अस्ति) जिज्ञासुओ ! तुम विवेचन करो यदि परमात्मा होवे—विवेचन से सिद्ध हो जावे तो (वाजयन्तः-इन्द्राय सु-स्तोमं सत्यं प्रभरत) अर्चना करते हुए नम्रता प्रदर्शित करते हुए[1] तुम परमात्मा के लिये उत्तम स्तुति स्तवन अवश्य समर्पित करो। पुनः विवेचन करने पर परमात्मा का निश्चय हो जाते ही जिज्ञासुओं के अन्दर परमात्मा बोलने लगा कि (जरितः-अयम्-अस्मि) हे स्तुति करने वाले तथा अपने जीवन को मेरे विना मेरी स्तुति के विना जीर्ण करने वाले जिज्ञासु ! यह मैं हूं (मह्ना विश्वा जातानि-अभ्यस्मि) मैं अपने महत्त्व से समस्त उत्पन्न हुई वस्तुओं को अभिभूत किये हुये हूं (इह मा पश्य) इनके अन्दर मुझे देख (ऋतस्य प्रदिशः-मा वर्धयन्ति) सत्य की प्रदिशाएं[2] विश्वनियम की नियामक द्योतक श्रेणियां मुझे बढा रही हैं-विद्वान् जिज्ञासुओं को मेरे अस्तित्व का विश्वास करा रही हैं या विश्व की नियन्त्रणरीतियां लोगों को मेरा बोध करा रही हैं। पुनः (आद-र्दिरः-भुवना दर्दरीमि) भली भांति सर्वतो भाव से विदारणशक्ति-सम्पन्न हुआ मैं लोकलोकान्तरों को प्रलय में विदीर्ण—जीर्ण शीर्ण कर देता हूं।

यह ठीक है कि ईश्वर भौतिक इन्द्रियों का विषय नहीं है क्योंकि वह भौतिक या स्थूल नहीं है परन्तु यह भी नितान्त सत्य है कि ईश्वर है। इस संसारयन्त्र को जब विवेचन से देखा जावे तो इसके कर्ता धर्ता संहर्ता का बोध हो जावे। संसार सावयव सखण्ड है विविध अवयवों या खण्डों का मिश्रण है, उनको संयुक्त करने वाला एकत्र करने वाला कर्ता तथा धर्ता सञ्चालक नियामक और पुनः मिश्रण का विश्लेषण करने वाला—पृथक्-पृथक् करने वाला

---

१. "वाजयति-अर्चतिकर्मा" (निघं० ५। १४)

२. "ऋतं सत्यनाम" (निघं० ३। १०)

प्रलीन करने वाला—प्रलयरूप में लाने वाला देव चेतन सत्ता ईश्वर होना चाहिए और वह है। सोचो विचारो, मिट्टी की ढेली जो बहुतेरे मृत्कणों से बनी हुई है या उनका संगठित रूप है उसे बारीक पीस कर फूंक मार कर उडा दो तो क्या वह विनष्ट हो गई ? नहीं ! विनष्ट नहीं हुई !! किन्तु उसके अवयवों या खण्डों का पृथक् भाव हो गया, वे आकाश में फैल गए या वह ढेली अपने मूल रूप में चली गई। अब उन फैले हुए कणों को कोई मनुष्य क्या फिर से ढेली का रूप दे सकता है ? नहीं दे सकता। तब बतलाओ इस पृथिवी पिण्ड को जब कि यह छोटे-छोटे अवयवों कणों अणुओं के रूप में आकाश के अन्दर फैला पडा था किसने इसे इतने बडे ढेले या पिण्ड का रूप दिया है ? तब कहना होगा कि व्यापक परमात्मा ने अपने व्यापक हाथों से इसे एकत्र कर पिण्ड रूप दे दिया। इस प्रकार उसका संहार भी अन्त में करने वाला भी वही है। तथा बडे भारी चील गिद्ध भास (बाज) पक्षी से लेकर छोटे मच्छर और उससे भी अत्यन्त छोटे उडनशील कृमि के दोनों ओर दो पंख होते हैं, एक ओर ही एक ही पंख क्यों नहीं ? एक पंख से शरीर का बोझ वायु पर कैसे तोलता ? क्या यह दोनों ओर पंखों का बनाना समझदारी का काम पक्षी ने स्वयं किया है कि पक्षी समझता है कि मैंने स्वयं अपने इस प्रकार दोनों ओर पंख बनाए, नहीं ऐसा तो मनुष्य भी नहीं कह सकता कि मैंने स्वयं अपनी दोनों ओर भुजाएं बनाईं फिर पक्षी या कृमि क्या कह सके? यह रचना तो सर्वज्ञ ईश्वर की ही है। एवं नियम से आकाश में नक्षत्र-तारों ग्रह-सितारों का आना जाना भी नियन्ता ईश्वर के द्वारा ही होता है। अतः वह ईश्वर जगत् की वस्तु वस्तु में व्यापक है और जगत् से बाहिर भी है, उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना करनी चाहिए ॥

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा=संसार में उत्पन्न सर्वकर्मकर्ता-

कर्म करने में स्वतन्त्र जीवात्मा ।

देवता—विश्वकर्मा=विश्व अर्थात् संसार कर्म रचनाकर्म शिल्प जिसका है वह विश्वरचयिता परमात्मा ।

ईश्वर के न जानने में अपने आन्तरिक दोष कारण—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थ शासश्चरन्ति ।।

(ऋ० १० । ८२ । ७ ।। यजु० १७ । ३१)

(यः-इमा जजान) जिसने इन लोकों को उत्पन्न किया (तं न विदाथ) उसे तुम नहीं जानते (युष्माकम्-अन्यत्-अन्तरं बभूव) तुम्हारे में अन्य अन्तर–बाधक है । उसे जानने में वह बाधक यह है कि (नीहारेण प्रावृताः) मनुष्य अज्ञानरूप धुन्ध या अन्धकार से घिरे हुए हैं । तथा (जल्प्याः-च-असुतृपः-उक्थशासः-चरन्ति) जल्पना करने वाले—बहुत बोलने वाले—वाणी के संयम से रहित, प्राणपोषण में तृप्त—स्वार्थपरायण, कथनमात्र या शब्दमात्र के प्रशंसक—ज्ञान से शून्य होकर विचरते हैं ।

परमात्मज्ञान में बाधक है अज्ञान, अभिमान, बहुवादिता वाणी की संयमहीनता, निज प्राणपोषण में ही रत रहना–अनुदारता तथा कभी किसी महापुरुष की प्रशंसा या परमात्मा की स्तुति करना तो वचनमात्र न कि अन्तरात्मा से अर्थात् प्रदर्शनमात्र दाम्भिक व्यवहार । इस प्रकार ये अज्ञानी गर्वित वाणी के संयमहीन अनुदार ईर्ष्यालु बर्बरस्वभाववाले दम्भी मिथ्याप्रशंसक बहुरूपिये जन उस निर्मल निर्दोष गुणागार सद्गुणभण्डार परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते । यद्यपि जगद्विधाता परमात्मा मानव के अति समीप अपितु स्वात्मा में भी अन्तर्निहित है परन्तु कथित दोष उसके जानने में बाधक हैं । हमें चाहिए इन बाधकों को हटा कर अपने उस अन्तर्यामी परमात्मा को जानें साक्षात् करें ।।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः=वेदवाणी पर अधिकार पाए हुए पिता का पुत्र या गुरु का शिष्य त्रिगुणित ब्रह्मचर्यवाला निष्णात आदित्य ब्रह्मचारी।

देवता—इन्द्रः=विश्वस्वामी परमात्मा।

परमात्मा का ज्ञान जितना मिले ले अन्य को दे, उसका पूर्ण ज्ञानी तो कोई नहीं—

तं पृच्छन्तोऽवरासः पराणि प्रत्ना त इन्द्र श्रुत्यानुयेमुः। अर्चामसि वीर ब्रह्मवाहो यादेव विद्म तात्त्वा महान्तम्॥

(ऋ० ६।२१।६)

(इन्द्र-अवरासः-तं पृच्छन्तः) हे विश्वस्वामिन् परमात्मन्! नवीन जिज्ञासु जन उस तुझको पूछते हुए—तेरे विषय में पूछ-प्रच्छ करते हुए (ते पराणि प्रत्ना श्रुत्या-अनुयेमुः) वे जन उत्कृष्ट जन सदातन श्रवणीय—श्रवण में आते हुए कर्मों का अनुगमन करते हैं—स्तुति में लाते हैं (वीर ब्रह्मवाहः-यात्-एव विद्म तात्-त्वा महान्तम्-अर्चामसि) हे वीर देव! हम भी उन्हें तेरे विषय में क्या बतलावें? मात्र तेरे लिये ब्रह्म अर्थात् मन्त्र स्तोत्र वहन करते हुए तुझ महान् को जितना जानते हैं उतनी तेरी अर्चना करते हैं। क्योंकि तुझ अनन्त को पूर्णरूप से जानने वाला कोई कैसे हो सकता है।

परमात्मज्ञान के इच्छुक जन अपने से ऊंचे विद्वानों के पास जाकर परमात्मा के विषय में ज्ञान प्राप्त करें और वे भी अपने से अधिक विद्वानों से पूछें। परमात्मज्ञान का अन्त नहीं है, स्वस्व-योग्यता के अनुसार परमात्मा का ज्ञान हुआ करता है। अधिक ज्ञानी भी यह नहीं कहा करते और न ही कहना चाहिए कि हम परमात्मा के सम्बन्ध में पूर्णज्ञानी हैं, भला अनन्त गुणकर्मशक्ति-

वाले का पूर्ण ज्ञान कैसे हो सकता है वह तो थोड़ा ही होता है अतः उपनिषद् में कहा है "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" (श्वेता० ३ । १९) परमात्मा के सम्मुख सब कुछ जाना-जाने योग्य है पर वह सर्वथा या पूर्णरूप से जाना जाने योग्य नहीं। हां जितना परमात्मा का ज्ञान किसी भी विद्वान् को है उतने के अनुसार वह परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना अवश्य करे और दूसरों को भी अवश्य उपदेश दे, यह उसका परम कर्तव्य है ॥

ऋषिः—अगस्त्यः=अग-वृक्षवनस्पति ओषधि अन्न को संग्रह करने वाला अदनाने वाला अर्थात् आहार या भोग पर निर्भर भोगी जन तथा अगः-पाप का संग्रहकर्ता पापसे सम्पर्क रखनेवाला संसारी जन, अपि च वही परमात्मा के सङ्ग या ध्यान से भोग और पाप का त्याग कर चुकनेवाला योगी मुमुक्षु जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा ।

निज दर्शन के प्यासे की प्यास बुझा कर कृतकृत्य करता है—

यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य इन्द्र मय इवापो तृष्यते बभूव । नामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥

(ऋ० १ । १७५ । ६)

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मदेव ! (यथा पूर्वेभ्यः-जरितृभ्यः) जैसे पूर्व स्तुतिकर्त्ताओं—अपने उपासक जनों के लिये तू (तृष्यते आपः-इव मयः-बभूव) प्यासे के लिये जल की भांति सुखरूप हुआ है (तां निविदम्-अनु) उसी वाणी निवेदन या प्रार्थना के अनुसार[1] (त्वा जोहवीमि) मैं तेरा आह्वान करता हूं (इषं वृजनं

१. "निवित्-वाङ्नाम" (निघं० १ । ११)

जीरदानुं विद्याम) तव अन्न[1] बल[2] और अमर जीवन को प्राप्त कर सकता हूं।

मानव को वस्तुतः परमात्मदर्शन की प्यास हो तो परमात्मा उसे अवश्य अपना दर्शनामृत पान कराता है, परमात्मा उदार है जैसे उसने पूर्व महर्षि-महानुभावों को अपने दर्शनामृत का पान कराया था उसी प्रकार पुरातन ऋषिमुनियों की भांति नम्र निवेदन को वह परमात्मा अवश्य सुनता ही है, यदि उससे निरन्तर आन्तरिक भावपूर्ण निवेदन होता रहे तो फिर उसकी कृपा बरस जाने से न केवल मानव की प्यास ही बुझती है अपितु उसे अन्न बल और अमर जीवन भी प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः परमात्मदर्शन के प्यासे की प्यास बुझाने को परमात्मदर्शन ही जल है वही उसकी भूख मिटाने को अन्न है वही उसके आगे बढ़ने को बल है और वही अमर जीवन का आधार है॥

ऋषिः—वसिष्ठः=परमात्मा में अतिशय से वसनेवाला उपासक।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

परमात्मा के आश्रय में श्रद्धालु उपासक को किसी से पीड़ा नहीं होती—

कस्तमिन्द्र त्वा वसुमा मर्त्यो दधर्षति।

श्रद्धा इत्ते मघवन् पार्ये दिवि वाजं सिषासति॥

(ऋ० ७। ३२। १४)

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् जगदीश! (तं त्वा वसुं कः-मर्त्यः-आदधर्षति) उस 'तेरे में वसनेवाले' उपासक को कौन मरणधर्मी प्राणी दबा सकता कष्ट दे सकता है अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि (मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् देव! (श्रद्धा—इत् ते पार्ये दिवि) स्थिर श्रद्धा ने[3]

१. "ईषम्-अन्ननाम" (निघं० २। ७) २. "वृजनं बलम्" (निघं०)

३. श्रद्धा=श्रद्धया विभक्ते लुंक्।

पार वर्तमान—संसार सागर से पार में वर्तमान तेरे प्रकाशमय मोक्ष स्वरूप में (वाजी वाजं सिषासति) बलवान् बना हुआ—आत्मबल[1] को प्राप्त कर रहा है।

परमात्मा में वसनेवाले को कोई भी प्राणी अपने बल से प्रभावित नहीं कर सकता—दबा नहीं सकता क्योंकि वह श्रद्धारूप सची शक्ति से सम्पन्न हुआ नश्वर संसार से परे मोक्षरूप प्रकाशमय धाम में या प्रकाशमय परमात्माश्रय में वर्तमान हुआ अनुपम बल का सेवन कर रहा होता है। अतएव तुझ महान् बलवान् की शरण आए हुए पर किस की कड़ी दृष्टि हो सके? भला कौन उस पर आक्रमण कर सके? कोई नहीं वह तो तेरी धारण में भारी बलवान् बना हुआ है। प्रभो! कृपा करो हमारे शरण्य बनो हमें अपनी कल्याणमय शरण में लो हमें बलवान् बनाओ॥

ऋषिः—विश्वामित्रः=सर्वमित्र—सब से स्नेह रखनेवाला सब जिसके मित्र हों ऐसा जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

कष्ट में परमात्मा ही शरण्य और उपास्य है—

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि। तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनाना-मिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः॥

(ऋ० ३। ३०। १)

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् जगदीश! (सोम्यासः सखायः-त्वा- इच्छन्ति) सोम्य गुण सम्पन्न तेरे सखा जन तेरी मैत्री में रत महानुभाव तुझे चाहते हैं। अतः (सोमं सुन्वन्ति प्रयांसि दधति) निरोधरूप शान्त भाव का सम्पादन करते हैं तथा अपनी अति प्यारी वस्तुओं को

---

1. "वाजः-बलम" निघं० २। ९)

प्राणों तक को तेरे लिये धार रहे हैं समर्पित कर रहे हैं (जनानाम् अभिशस्तिं तितिक्षन्ते) साधारण जनों—तुझ से विमुख संसारीजनों के अभिशासन व्यवहारों—निन्दा पीड़ा व्यवहारों को सहन करते हैं (त्वत्-कः-चन हि-आ प्रकेतः) तुझ से भिन्न कौन ही सचेत करने वाला हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

प्यारे प्रभो परमात्मन् ! तेरे उपासक सखा योगी जन तुझे चाहते हैं वे अन्य वस्तु को प्यार नहीं करते अपितु तेरे लिये सब कुछ न्योछावर करने को उद्यत रहते हैं प्राणों तक को भी बदले में दे देने को सङ्कोच नहीं करते । वे इस बात की भी परवाह नहीं करते कि अविज्ञ जन चाहे उन्हें ऐसा करने पर पीड़ा दें विषप्रदान करें या शूली पर भी क्यों न चढ़ा दें वे तो तेरे लिये तेरे मार्ग में चलने के लिये सब कुछ कष्ट सङ्कट सहते हैं पुनः तेरे विना अल्पज्ञ जीव को चेतानेवाला असत् से सत् की ओर ले जाने वाला अज्ञानान्धकार से हटाकर ज्ञानप्रकाश में पहुंचाने वाला और मृत्युपाश से मुक्त करा कर अमृत धाम को प्राप्त कराने वाला कोई नहीं है । सर्वथा तू ही शरण्य है तुझे ही हम चाहते हैं हमें आप प्राप्त होओ ॥

ऋषिः—वैकुण्ठ इन्द्रः=अदम्य दृढ़व्रती उपासक ।

देवता—इन्द्रः=ऐश्मर्यवान् परमात्मा ।

परमात्मा सदैव ईश्वर, सदैव मुक्त है, उसकी उपासना से सुखैश्वर्य और मुक्तिप्राप्ति—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद् धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन । सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥

(ऋ० १० । ४८ । ५)

(अहम्-इन्द्रः-धनं न पराजिग्ये) मैं ऐश्वर्यवान् परमात्मा अपने ईश्वरत्वरूप या स्वशक्तिरूप धन को नहीं हराता हूं । तथा (मृत्यवे

कदा चन न-अवतस्थे) मृत्यु के लिये कभी अवस्थित नहीं होता जन्म-मरण चक्र से अलग रहता हूं (सोमम्-इत् सुन्वन्तः-मां वसु याचत) अध्यात्म रस—उपासनारस को अवश्य सम्पादन करते हुए मुझ से बसाने वाले धन को मांगों (पूरवः-मे सख्ये न रिषाथन) हे मनुष्यों ![1] मेरे सखापन में-मेरी मित्रता में तुम हिंसित नहीं हो सकते ।

परमात्मा महैश्वर्यवान् है वह कभी अपने ऐश्वर्य से वियुक्त नहीं होता, उस का ऐश्वर्य शाश्वत है अनैमित्तिक है स्वतः सिद्ध है और न सबके मारक मृत्यु का वश यहां चलता है अपितु वह सदा अमर होता हुआ निज उपासकों को भी मृत्यु से परे अमररूप में स्थिर कर देता है। उसके अध्यात्म योग का निष्पादन करते हुए उपासक जनो ! तुम उससे प्राप्य निरन्तर सुख में बसाने वाले धन को मांगों वह देगा, उसके उपासक जन उसकी मित्रता में किसी से पीड़ित नहीं हो पाते, अपितु पीड़ा के सम्पर्क से मुक्त हो जाते हैं। प्यारे जीवात्मन् ! तुझे बहुत समय व्यतीत हो गया प्रकृति देवी और उसके परिवार के साथ किलोल करते हुए तथा प्राणपन से अपनाते हुए परन्तु न वह और न उसका परिवार तेरा बना; बनता भी कैसे तू चेतन है वह जड़ है अपितु तुझे तेरे स्वरूप से भी विचलित कर दिया अशान्त बना दिया। आ प्यारे ! मेरे पास आ मैं तेरा हूं तू मेरा है क्योंकि मैं चेतन हूं तू चेतन है चेतन का मेल चेतन से होता है चेतन का आश्रय चेतन होता है तू बस मुझे अनन्य भाव से स्वात्मा में अपना ले श्रद्धा ने तन्मय हो मेरा ध्यान करले फिर ले जो मेरे पास है अमरफल, निश्चय मैं तुझे अपनी शरण में ले तुझे दुःख सन्ताप से पृथक् और मृत्यु से मुक्त कर मोक्ष धाम में स्थिर आनन्दवान् बना देता हूं ॥

---

१. "पूरवः—मनुष्यनाम" निघं० २ । ३)

ऋषिः—कलिः प्रागाथः=वक्ता मनस्वी जन[1]।
देवता—इन्द्र-=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।
परमात्मा अनन्य हितैषी सुखदाता शरण्य—

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि। न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता॥

(ऋ० ८। ६६। १३)

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् जगदीश! (वयं घ ते) हम तो तेरे हैं (त्वे-इत्-उ) तुझ में ही–तेरी शरण में ही(अपि विप्राः स्मसि)हां मेधावी[2] हों; हो जावें (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार से बुलाने योग्य देव! (त्वत्-अन्यः-न हि) तुझ से भिन्न हमारा कोई नहीं। तथा (मघवन्) हे ऐश्वर्यवन्! (कः-चन मर्डिता न-अस्ति) कोई सुखदाता नहीं है।

हमने संसार को छान मारा और यहां परीक्षा भी करली है कि हे परमात्मन्! तेरे सिवाय कोई हमारा नहीं, अनेकों को अपना बनाया पर सब ने साथ छोड़ ही दिया। किसी ने हमें स्वयं छोड़ दिया हमारे से कोई उनका स्वार्थ सिद्ध न होने से और किसी को हमने छोड़ दिया उनसे अपना लाभ सिद्ध न होते देख कर और किसी को हमसे या हमको किसी से काल ने छुड़ा दिया। परमात्मन्! तू ही सदा साथ रहने वाला साथ देने वाला सच्चा साथी सच्चा बन्धु है अब तो हे देव! तेरे प्रेम में इतने मत्त तेरे अनुराग में इतने रक्त हो गए कि जहां तेरी छटा न हो जहां तेरी आभा या प्रभा न भासे वहां मन लगता नहीं अपितु उधर मन जाता नहीं उसे मन चाहता नहीं किन्तु उन्हें तुच्छ समझ कर उनसे विरक्त हो जाता है और तेरी शरण का लालायित हो जाता है। हे प्यारे प्रभो! तू

---

१. "कल शब्दे" (भ्वादि०) "मनः प्रगाथः" (जै० उ० ३।४।२)
२. "विप्रः-मेधाविनाम" निघं० ३।१५)

ही हमारा है और हम भी तेरे ही हैं सुखदाता हितैषी तू ही है हम भी तेरी शरण में ही बसे रहना चाहते हैं हम तेरे अर्पित हैं पूर्ण समर्पित हैं हमें अपनाओ ! अपनाओ !! अपनाओ !!! ॥

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः=ज्ञान से जाज्वल्यमान कुल (पितृकुल या गुरुकुल) में निष्पन्न विगतदर्भ अर्थात् अनपेक्षितकुशासन किन्तु अध्यात्म भूमि पर विराजमान या संलग्न अभ्यासी जन ।

देवता—प्राणः=प्राणस्वरूप परमात्मा ।

विश्व का प्राणरूप में नियन्ता स्वामी और व्यापक आधार—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व० ११।४।१)

(यस्य-इदं सर्वं वशे)जिसके यह सब वशमें है नियन्त्रण में है । तथा (यः-सर्वस्य-ईश्वर-भूतः) जो सबका स्वामी हुआ हुआ । और (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्) जिसमें सब प्रतिष्ठित है—रखा है । उस ऐसे (प्राणाय नमः) प्राणरूप परमात्मा के लिये मेरा नमस्कार हो एवं नम्र भाव झुकाव हो मानवमात्र को उसे नमस्कार करना चाहिए उसकी वन्दना करनी चाहिए ।

संसार में मानव बुद्धिरखनेवाला व्यक्ति है, उसे किस को नमस्कार करना चाहिए अर्थात् किसे अपना उपास्य देव मानना चाहिए ? इसके उत्तर में यहां समझना चाहिए कि संसार की कोई वस्तु उसका उपास्य देव नहीं बन सकती अपितु संसार का जो प्राण-रूप परमात्मा है जिसके सब वश में नियन्त्रण में है अर्थात् जो सबका नियन्ता तथा जो सबका स्वामी है और जिसमें सब कुछ स्थित है अर्थात् जो सबका आधार सबमें व्यापक आश्रयदाता पर-मात्मा है वही उपास्य देव है अन्य नहीं ? भला क्या प्राणों से भी अधिक कोई इष्ट अभीष्ट या प्यारा सहारा हो सकता है ? कोई नहीं,

हां प्राणों का प्यारा आत्मा का सहारा वही परमात्मा है, हम सशरीर हों या अशरीर हों, मुक्त हों या बद्ध हों सदा सब स्थितियों में प्राण है तो वही परमात्मा है अतएव वही नमस्करणीय उपासनीय है। हम उस प्राणरूप परमात्मा का सङ्ग कभी किसी भी प्रकार प्रमाद प्रलोभन मोह और भय के कारण न त्यागें। इससें हमें अपनी आत्मा का वास्तविक अस्तित्व स्थिर समझना चाहिए ॥

इस प्रकरण का सार—

विश्व के नियमों से ईश्वर के अस्तित्व का सिद्ध होना, नास्तिकता या ईश्वर को न जान सकने का कारण मानव के भीतरी दोष, ईश्वर का जितना जिसको ज्ञान हो उतना अन्यों को उपदेश देना, परमात्मा के द्वारा अपने प्यासों की प्यास बुझाना, उसके उपासकों का अन्यों के द्वारा न सताया जाना, उपासकों द्वारा परमात्मा के मार्ग में अति प्रिय वस्तु का भी त्याग कर देना, परमात्मा का सदैव ईश्वर सदैव मुक्त होना, परमात्मा की शरण पाकर मानव का उठना और सुख पाना, विश्व के प्राणरूप नियन्ता स्वामी व्यापक आधार परमात्मा को नमस्कार करना मानना उसकी उपासना करना ॥

प्रार्थना में ईश्वर—

ऋषिः—वसिष्ठः= परमात्मा में अतिशयवास करनेवाला उपासक।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

विघ्न और दुर्दशाप्रवाहों को पार करने की प्रार्थना—

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो माऽशिवासो अवक्रमुः। त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥

(ऋ० ७।३२।२७, अथर्व० २०।७६।२)

(शूर) हे पराक्रमशील परमात्मन्! (नः) हमारे सम्मुख (अज्ञाता

वृजना:-दुराध्य:-मा-अवक्रमु:) लक्ष्य से वर्जित कराने वाले अज्ञात विघ्न तथा कठिन दुर्धारणाएं दुर्दशाएं खड़ी न हों। और (मा-अशिवास:-) न अकल्याणकारी प्रसङ्ग एवं सङ्कट अवसर सामने आवें। पुनः (वयं त्वया प्रवत: शश्वती:-अप:-अतितरामसि) हम तेरे सहारे उन ऐसे बाधकरूप गहरे पुराने जलप्रवाहों को पार कर जावें।

मानव की जीवनयात्रा में उसके गन्तव्य या प्राप्तव्य स्थान से च्युत कराने वाले अनेक अज्ञात विघ्न तथा कठिन स्थितियां दुर्धारणाएं और अकल्याणकारी प्रसङ्ग आ जाने सम्भव है प्रायः आ जाया करते भी हैं परन्तु उनसे घबरा कर पग पीछे हटाना नहीं चाहिए क्योंकि गन्तव्य पर पहुंचने या प्राप्तव्य को प्राप्त करने के लिये यात्रा करना अनिवार्य है तब विघ्न भय से क्या डरना किन्तु वीर की भांति गहरे और पुराने विघ्नप्रवाहों को भी चीरते हुए परम वीर परमात्मा के सहारे चले जाना चाहिए और फिर परमशूर परमात्मा का सहारा है और निज अदम्य साहस, तब पग पीछे हटाने और डरने का क्या प्रसङ्ग ?॥

ऋषि:—नारायण:=नरों के समूह को अयन आश्रय बनाने वाला सभा समाज सत्सङ्ग का सेवन करने वाला सत्सङ्गी जन।

देवता—सविता=उत्तम गुण प्रेरक परमात्मा।

दुर्गुणों को दूर कराने और सद्गुणों को धारण कराने के लिये प्रार्थना—

विश्वानि देव सवित र्दुरितानि परासुव।

यद् भद्रं तन्न आसुव॥

(यजु० ३०।३)

(सवित:-देव) उत्तम गुण कर्म स्वभाव में प्रेरक तथा स्वयं दिव्य गुण कर्म स्वभाव वाले परमात्मन्! (दुरितनि परासुव) हमारे

दुर्गुणों दुःखों को दूर कर दे (यत्-भद्रं तत्-नः-आसुव) जो पुण्य तथा कल्याण है उसे हमारे लिये प्राप्त करा।

मानव का कर्तव्य है कि अपने जीवन पर दृष्टिपात कर पता लगावे कि कौन से अपने अन्दर दुर्गुण या दोष हैं और कौन से हमारे जीवन में लाने योग्य-धारण करने योग्य सद्गुण हैं एवं दुर्गुणों से पृथक् होते जाना और सद्गुणों को धारण करते जाना चाहिए। अपने में कौन से दुर्गुण हैं कुछ स्वयं भी पता लग जाता है परन्तु प्रमादवश व्यसनवश और अज्ञानवश अपने दुर्गुणों को दुर्गुण नहीं भी मनुष्य मानता या समझता तब ऐसी स्थिति में विद्वान् जन ही निर्देश कर सकते या सुझा समझा सकते हैं कि तुम्हारे अन्दर ये दुर्गुण हैं, परन्तु वे उन्हें दूर कर सकें यह तो कठिन ही है हां अन्तर्यामी परमात्मा की शरण में हार्दिक भाव से प्रार्थना करने से दुर्गुण दूर होने सम्भव हैं। अपने अन्दर सद्गुण कौन से हैं यह जानना तो सुगम है सद्गुणों की सद् व्यवहार की सीमा होती है कितने सद्गुण हैं चार-पांच, सात-आठ, नौ-दश आदि सीमित ही होते हैं उन्हें तो अपने अन्दर सुरक्षित रखना अन्यों को अन्दर लाना प्रविष्ट करना विना परमात्मा की आन्तरिक प्रार्थना के नहीं हो सकता। सो ईश्वर से दुर्गुणों को दूर करने और सद्गुणों को लाने की प्रार्थना अनिवार्य है॥

ऋषिः—परमेष्ठी=उच्च स्थान में चढ़ने वाला व्रती।

देवता—अग्निः=अग्रणायक ईश्वर।

असदाचरण से पृथक् रहने और सदाचरण धारण करने की प्रार्थना—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥

(यजु० १।५)

(व्रतपते-अग्ने) हे व्रतों के स्वामिन् ज्ञानप्रकाशस्वरूप अग्रणायक परमात्मन् ! (व्रतं चरिष्यामि) मैं व्रत का आचरण करूंगा (तत्--शकेयम्) उसको पालने में समर्थ होऊं—उसे पाल सकूं (तत्-मे राध्यताम्) वह मेरा व्रत तेरे द्वारा सिद्ध हो जावे (अहम्-अनृतात् सत्यम्-इदम्-उपैमि) मैं अनृत से सत्य को यह अवश्य प्राप्त होता हूँ।

मानव किसी उत्कृष्ट कार्य के लिए व्रत धारण करे स्थिर सङ्कल्प करे तथा व्रतस्वामी व्रतपालक परमात्मा से उसके निभाने के लिए शक्ति की याचना करे क्योंकि वह व्रतपति है और शक्तिस्वामी भी है। वैसे तो मनुष्य अनेक व्रत धारण करता है पर वह व्रत से विचलित हो जाता है व्रत को भङ्ग कर देता है उसका कारण है अपने व्रतधारण में व्रतपालक परमात्मा से बल प्राप्त न करना। मनुष्य उस से विमुख हुआ अपनी अल्प शक्ति पर गर्व करके या अज्ञानवश नास्तिक भावना में पड़ उसके सहाय से वञ्चित रहता है पुनः जब परमात्मा को सम्मुख लक्ष्य कर व्रत करता है तो उसमें उसकी कृपा से व्रतपालन की योग्यता आ जाती है पुनः मानव को असत्य असदाचरण से अलग होकर सत्याचरण में प्रवृत्त हो जाना चाहिए उसे कभी न छोडे अपितु उसके सदाचरण में प्रवेश बढ़ता ही चला जावे तो तब उसके मन में वाणी में आचरण में सत्य आपूर भरपूर होकर जीवन कल्याणरूप सिद्ध हो जावे ।।

❀—

ऋषिः—रहूगणपुत्रो गोतमः=त्यागी[1] वंश का पुत्र वाणी विद्या

❀—मोक्षैश्वर्यप्राप्ति के हेतु सुपथ पर चलने और पाप से दूर होने की प्रार्थना (पढ़ो "अग्ने नय सुपथा ..." पृष्ठ १८०)।

१. "रह त्यागे" (भ्वादि०)।

को चाहने वाला [२]।

देवता—सोमः=शान्ति का रिसानेवाला परमात्मा।

पापीद्वारा सन्ताप और पापसम्पर्क से बचने के लिये प्रार्थना-

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः।
न रिष्येत् त्वावतः सखा॥

(ऋ० १।९१।८)

(सोम राजन्) हे शान्तिस्रोत के उत्पादक सर्वत्र राजमान परमात्मन्! (त्वम्-अघायतः-नः-विश्वतः-रक्ष) तू पाप के इच्छुक पापी मन वाले जन से हमारी सब ओर से रक्षा कर। क्योंकि (त्वावतः सखा न रिष्येत्) तुझसदृश का या तुझ जैसे रक्षा करते हुए का सखा पीड़ित नहीं होता।

शान्तिस्रोत के रिसाने वाले परमात्मा की शरण आस्तिक जन को पापी जन के सम्पर्क से बचाती है, पापी जन उसकी हानि पर प्रवृत्त नहीं होता। जिस ने परमात्मा से नाता जोड़ लिया उसे अपना सखा बनालिया भला फिर उसे क्या चिन्ता क्योंकि परमात्मा का मित्र किसी से हिंसित नहीं होता। संसारी सखा तो केवल कभी-कभी और किसी किसी स्थान पर ही रक्षा कर सकता है परन्तु सर्वत्र और सर्वदा तो परमात्मा सखा ही रक्षा किया करता है और नितान्त रक्षा करता है उसकी रक्षा में अन्यों द्वारा पीड़ा का स्पर्श भी दूर रहता है। क्योंकि "जा को राखे सांईया मार सके न कोय" यह कहावत प्रसिद्ध है। अत एव परमात्मा अपने उपासकों की अवश्य रक्षा करता है।

ऋषिः—भारद्वाजो गर्गः=ज्ञानधारक विद्वान् का सन्तान या शिष्य उपदेष्टा स्तोता जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

---

२. "तमु कांक्षायाम्" (दिवादि०)।

दीर्घजीवन, तीक्ष्णबुद्धि, परमात्मप्रेम, और विद्याभिरुचि की प्रार्थना—

> इन्द्र मृड मह्यं जीवातुमिच्छ चोदय धियमयसो
> न धाराम् । यत्किं चाहं त्वायुरिदं वदामि-
> तज्जुषस्व कृधि मा देवयन्तम् ॥
>
> (ऋ० ६।४७।१०)

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! तू (मृड) सुखी कर। अत: (मह्यं जीवातुम्-इच्छ) मेरे लिये जीवन प्रदान करने की इच्छा कर (अयसः-न धारां धियं चोदय) लोहशस्त्र की धार के समान हमारी तीक्ष्ण बुद्धि बना दे (त्वायुः-अहं यत् किं च-इदं वदामि) तेरा इच्छुक जो कुछ भी वह मैं तेरा स्तुतिवचन बोलूं (तत्-जुषस्व) उसे तू स्वीकार कर (मा देवयन्तं कृधि) मुझे विद्वानों के सङ्गवाला कर दे —मैं विद्वानों में रहूं विद्वान् मुझे चाहें।

मानव की वाञ्छाओं में एक वाञ्छा होनी चाहिए सुख पाने की दूसरी दीर्घ जीवन की तीसरी वाञ्छा तीक्ष्ण बुद्धि की चौथी वाञ्छा होनी चाहिए परमात्मा का प्यारा बनने और परमात्मा को अपना प्यारा बनाने की, पांचवीं वाञ्छा श्रेष्ठ विद्वानों की संगति की। ये पांच वाञ्छाएं अपनाली गईं अन्य वाञ्छाएं गौण करदीं तो वह मनुष्य अपने को कृतार्थ एवं सफल बना लेता है, क्योंकि मानवदेह दुर्लभ है इसे व्यसनों में जीर्णशीर्ण कर अल्पायु बनाना निकृष्टता है किन्तु दीर्घजीवन बनाना मानवीय कर्तव्य है। दीर्घ-जीवन होकर भी बुद्धिहीन कृत्य करना पशुता है बुद्धिपूर्ण आचरण करना ही मानवता है, बुद्धि होने पर भी संसार के भोगविलासों में ही बुद्धि को लगाए रखना भी पतन का मार्ग है किन्तु बुद्धि से परमात्मा का स्वीकार करना चिन्तन ध्यान करना चाहिए परमात्म-दर्शन का प्रसाद ले दूसरों में वितरण करना भी आवश्यक है।

परमात्मध्यान के साथ विद्वानों का सम्पर्क विद्यावृद्धि में जीवन यापन करना भी आगे बढ़ने वाले के लिए परमावश्यक है ॥

ऋषिः—वसिष्ठः शक्तिर्वा=परमात्मा में अत्यन्त वासकर्ता या शक्त–शक्तिमान् समर्थ संयमी।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

ज्ञानमार्ग के निर्देश और परमात्मज्योतिप्राप्ति की प्रार्थना—

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि

(ऋ० ७।३२।२६, अथर्व० १८।३।६७।१)

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! (पुत्रेभ्यः-यथा पिता) पुत्रों के लिये पिता की भांति (नः क्रतुम्-आभर) हमारे लिये प्रज्ञान[1] दे दे—सौंप दे (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार से आमन्त्रित करने बुलाने योग्य देव! (अस्मिन् यामनि) इन संसारयात्रा में[2] (नः शिक्षा) हमें शिक्षा दे (जीवाः-ज्योतिः-अशीमहि) हम जीव तेरी ज्योति को प्राप्त कर सकें।

परमात्मन्! तू हमारा पिता है हम तेरे पुत्र हैं, पुत्रों के अन्दर जैसे पिता ज्ञान भरा करता है जीवनयात्रा के मार्ग निर्देश किया करता है ऐसे तू भी हमारे अन्दर ज्ञान भर दे जीवनयात्रा के मार्गनिर्देश कर दे। तथा इस संसारयात्रा में शिक्षा दे कि हम कैसे आपके दिए ज्ञान या मार्गनिर्देश का सदुपयोग कर सकें क्योंकि इस यात्रा में संकट विपद् है विविध पन्थ और पगडण्डियां हैं जो हमें जहां तहां भटकाया करते हैं। कहीं कण्टकाकीर्णता है तो

१. "क्रतुः प्रज्ञाननाम" (निघं० ३।६)।
२. "यामनि याने संसारगमने नः अस्मान् शिक्ष अनुशाधि" (सायणः अथर्व० १८।२।६७)।

कहीं कङ्करप्रचुरता है, कहीं पर्वत की चट्टान है तो कहीं गहरा गर्त-स्थान है कहीं स्रोत है तो कहीं सागर हैं, कहीं जङ्गल है तो कहीं दलदल हैं। क्या कहूं ऐसी विषमतापूर्ण यात्रा कैसे करूं ? बस उस में सफलता मिलेगी तो तेरी ज्योति से अतः हे कृपालो ! हमें अपनी ज्योति दिखाओ हम उसे प्राप्त करें और उसे देखते देखते उस के सहारे अन्त में तुझ तक पहुंच जावें ॥

ऋषिः—अवत्सारः=रक्षक[१] परमात्मा की शरण लेने वाला आस्तिक जन।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा।

शरीररक्षा, प्राणप्रगति, और मानसतेज के लिये परमात्मा से प्रार्थना—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥

(यजु० ३ । १७)

(अग्ने तनूपाः-असि मे तन्वं पाहि) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! तू शरीररक्षक है मेरे शरीर की रक्षा कर (अग्ने-आयुर्दाः-असि मे-आयुः-देहि) हे परमात्मन् ! तू जीवनदाता है मेरे लिए जीवन दे (अग्ने वर्चोदाः-असि मे वर्चः-देहि) हे जगदीश ! तू आन्तरिक तेज का दाता है मेरे लिये आन्तरिक तेज दे (अग्ने यत्-मे तन्वाः-ऊनं तत्-मे-आपृण) परमात्मन् ! जो मेरे शरीर में न्यून है उसे पूरा कर।

प्यारे परमात्मन् ! तूने मेरे निवास के लिये देहरूप घर बनाकर मुझे प्रदान किया, यह तो तेरी कृपा है परन्तु देव ! यह कैसे

---

१. अवन्तं सरति-अनुसरति-इति-अवत्सारः ।

सुरक्षित रह सके और कब तक रह सके इसका पूर्णज्ञान तो तुझे ही है और इस पर पूर्ण अधिकार भी तेरा ही है, मैं तो इस में रहने वाला हूं क्या कहूं रहता भी हूं तो साधिकार तो नहीं रहता किन्तु एक प्रकार से इसके अन्दर बन्द सा और बन्धा हुआ सा रहता हूं। तब ऐसे घर का रक्षक तो तू ही है तू इसकी रक्षा कर। अच्छा! मैं इसमें रहा यह भी रोगरहित स्वस्थ रहा पर यहां रहना भी दीर्घ जीवन का हो पर्याप्त जीवन हो पूर्ण जीवन हो और शुभ जीवन हो यशस्वि जीवन हो साथ ही साथ वर्चस्वि जीवन हो आन्तरिक या आध्यात्मिक तेज से युक्त जीवन हो। तभी जीवन का लाभ है बिना आध्यात्मिक तेज के दीर्घजीवन या पुण्य कर्मों वाला जीवन प्राप्त करके भी मर जाना तो कोई विशेष उत्कृष्ट जीवन नहीं है। अतः ऐसी न्यूनता को भी ऐसी कमी को भी पूरा कर दे जिस के बिना मैं उत्कर्ष को प्राप्त न कर सकूं॥

ऋषिः—मेधाकामः=मेधा का इच्छुक।
देवता—परमात्मा–विश्वात्मा जगदीश।
परमात्मा से आर्षमेधा-प्राप्ति के लिये प्रार्थना—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥

(यजु० ३२।१४)

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (देवगणाः पितरः-च) विद्वान् ऋषि मुनि गण और पूर्वज पालक जन (यां मेधाम्-उपासते) जिस धारणावती बुद्धि को सेवन करते आए हैं (तया-मेधया) उस बुद्धि से (अद्य) आज—इसी जीवन में (मां मेधाविनं कुरु स्वाहा) मुझे बुद्धिमान् कर यह कथन यह आशा सत्य हो पूरी हो।

मानव किन्हीं साधनों द्वारा अपने अभीष्ट को साधता है कुछ

साधन तो भीतरी हैं और बहुतेरे साधन बाहिरी हैं। बाहिरी अभीष्ट की सिद्धि तो बाहिरी साधनों से हुआ करती है और भीतरी अभीष्ट की सिद्धि में भीतरी साधन उपयुक्त हुआ करते हैं यह एक सामान्य या प्रायः नियम है, परन्तु कोई भीतरी साधन भीतरी अभीष्टसिद्धि में उपयुक्त होता हुआ बाहिरी अभीष्टसिद्धि में भी उपयुक्त होता है। वह ऐसा भीतरी साधन है मेधा अर्थात् प्रत्येक स्थूल सूक्ष्म विषय में प्रवेश करने वाली बुद्धि या धारणावती बुद्धि। इस बुद्धि में भूल भ्रान्ति एवं खोट दोष न होने से यह पवित्र बुद्धि या आर्ष-बुद्धि भी कही जा सकती है। ऐसी बुद्धि की प्राप्ति ईश्वरकृपा से हुआ करती है अतः कहा गया है कि "हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आदि सृष्टि के अग्नि आदि ऋषि या ब्रह्मा तथा अन्य पूर्वज विद्वान् जिस धारणावती बुद्धि का सेवन करते आये हैं उस बुद्धि से मुझे इस जीवन में बुद्धिमान् बना। प्यारे परमात्मन्! साधारण बुद्धि या मानुषी बुद्धि तो सांसारिक बुद्धि है इस बुद्धि से तो केवल संसार के योगक्षेम या भोगव्यवहार ही सिद्ध हो सकते हैं परन्तु मानव का परम कल्याण या निःश्रेयस सिद्ध नहीं हो सकता, वह तो मेधा या आर्ष बुद्धि जो आपके सत्सङ्ग और कृपाप्रसाद से प्राप्त होती है उसी से सिद्ध होता है। अतः उसे प्रदान कर मैं अतिनिकट होकर अति नम्रता से उस बुद्धि की याचना तुझसे करता हूं"। निःसन्देह आन्तरिक भावना से प्रार्थना करने पर ऐसी बुद्धि अवश्य प्राप्त हो सकती है॥

ऋषिः—काण्वो वत्सः-मेधावी[1] का पुत्र या शिष्य वक्ता प्रवचनप्रवीण।

देवता—इन्द्रः-ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

सत्यस्वरूप की सत्यमेधा को प्राप्त करने का सङ्कल्प एवं प्रार्थना—

---

१. "कण्वो मेधावी" (निघं० ३।१५)

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य इवाजनि ॥

(ऋ० ८।६।१०, साम०पू० २।२।६।२, अथर्व० २०।११५।१)

(अहम्-इत्) मैं निश्चय (ऋतस्य पितुः-मेधां परिजग्रभ) सत्य-स्वरूप पिता परमात्मा की उपासना से सत्य मेधा को ग्रहण करता हूं। कैसे (अहं सूर्यः-इव-अजनि) उस सत्यमेधा से मैं सूर्य के समान प्रकाशमान बन जाता हूं--बनूं ।

सब के जनक तथा रक्षक परमात्मा की उपासना से निःसन्देह ऐसी मेधा प्राप्त होती है जिससे मानव दिव्य जन बन जाता है सूर्य के समान प्रकाशमान निज मेधा से हो जाता है। जैसे ग्रह नक्षत्रों में सूर्य चमका करता है ऐसे ही उपासक भी निज मेधा से अपने वर्ग या जनसमाज में चमका करता है, साथ ही सूर्य की भांति वह जनसमाज को ज्ञान का प्रकाश प्रदान करता है आस्तिक विचारों से उपकृत करता है। अतएव मैं भी चाहता हूँ कि उस अनन्त ज्ञान के सूर्य से ऐसी मेधा प्राप्त करूं जिससे उसके समान ज्ञानप्रकाशवान् बन कर अपने वर्ग में चमकूं न केवल अपने लिये ही मैं चमकता रहूँ किन्तु दूसरों में भी ज्ञानप्रकाश को बिखेर बिखेर कर उस जनक प्रभु की देन को दे देकर निज कर्तव्य पालन करूं ॥

ऋषिः—आभूतिः=समृद्ध होनेवाला—बढनेवाला अधिकारी जन।
देवता—सोमः=स्वयं समृद्ध तथा समृद्धकर्ता ऐश्वर्यस्वरूप परमात्मा ।

तेज, बल, वीर्य, ओज, प्रताप, साहस की प्रार्थना--

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि
बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि ।

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥

(यजु० १९।९)

(तेजः-असि तेजः-मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू तेजःस्वरूप ज्ञानप्रकाशवान् है मेरे में भी ज्ञानप्रकाश स्थापन कर (वीर्यम्-असि वीर्यं मयि धेहि) तू पराक्रमरूप है मेरे अन्दर भी पराक्रम स्थापन कर (बलम्-असि बलं मयि धेहि) तू बलरूप है मेरे अन्दर भी बल स्थापन कर (ओजः-असि-ओजः-मयि धेहि) तू अध्यात्मकान्तिमय है मेरे अन्दर भी अध्यात्म कान्ति स्थापन कर (मन्युः-असि मन्युं मयि धेहि) तू आत्मप्रभावरूप है मेरे अन्दर भी आत्मप्रभाव स्थापन कर (सहः-असि सहः-मयि धेहि) तू साहसरूप है मेरे में भी साहस स्थापन कर।

तेज, वीर्य, बल, ओज—अध्यात्मकान्ति, मन्यु—आत्मप्रभाव, सहः—साहस ये छहों जिस मानव के अन्दर हों तो वह मानव उन्नत हो जाता है। परन्तु ये बातें आवें कहां से यह प्रश्न है? जड़ वस्तुओं में मानवोचित अभीष्ट तेज आदि नहीं, कहीं कुछ मात्रा में हैं भी तो वे जड़ के होने से जडत्वप्रद हैं परन्तु परमात्मा पूर्ण तेजस्वी, पूर्ण वीर्यवान्, पूर्ण बलवान्, पूर्ण ओजस्वी—पूर्ण कान्तिमान्, पूर्ण पराक्रमी—पूर्ण प्रतापवान्, पूर्ण साहसवान् है। उसका तेज आदि अल्पमात्रा में भी मानव के अन्दर आ जावे तो वह कल्याण का निमित्त बन जावे तथा जड़ का तेज आदि तो क्षयधर्मा होने से चिरस्थायी नहीं होता, कुछ भौतिक वैभव या भौतिक सुख का ही साधन बन सकता है परन्तु अध्यात्म वैभव और सुख तो परमात्मा के तेज आदि धारण करने से ही प्राप्त होता है। अतः परमात्मा से प्रार्थना है कि "हे मेरे परमात्मन्! तू तेजःस्वरूप है मेरे अन्दर मेरी आंखों में तेज स्थापन कर, तू वीर्यरूप है मेरे अन्दर मेरी

गुप्तेन्द्रिय में वीर्य स्थिर कर--संयम स्थिर कर, तू बलरूप है मेरे अन्दर मेरे भुजाओं में बल स्थापन कर, तू ओज:स्वरूप अध्यात्म-कान्तिमान् है मेरे अन्दर मेरे मस्तिष्क में अध्यात्म कान्ति स्थापन कर, तू मन्युरूप आत्मप्रतापवान् है मेरे अन्दर मेरे मन में प्रभावक प्रताप स्थापन कर, तू साहसस्वरूप है मेरे अन्दर मेरी अहं-शक्ति में साहस स्थापन कर ॥

ऋषि:—अथर्वा=स्थिरवृत्ति संयमी जन।

देवता—इन्द्र:=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

अभय के लिये प्रार्थना—

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

(अथर्व० १९। १५। ६)

(नः-मित्रात्-अभयम्) हे परमात्मन्! हमारे लिए मित्र से अभय—भय का अभाव बना रहे—भय प्राप्त न हो—मित्रता न छूटे—मित्रता का भङ्ग न हो (अमित्रात्-अभयेम्) शत्रु से अभय हो—भय का अभाव बना रहे—हानि न हो (ज्ञातात्-अभयम्) ज्ञात अनुमानद्वारा मन में आए पदार्थ से अभय—भय का अभाव रहे वह भ्रान्तिरहित स्वरूप में स्थिर रहे (यः पुरः-अभयम्) जो सम्मुख है--प्रत्यक्ष है इन्द्रियगोचर है वह अभय हो—भयरहित सदुपयोगवाला हो (नक्तम्-अभयं दिवा-अभयम्) रात्रि अभय-भय से रहित हो दिन अभय हो—भय से रहित हो, दोनों रात और दिन कष्ट और ताप के देने वाले न हों (सर्वाः-आशाः-मम मित्रं भवन्तु) समस्त दिशाएं—दिशास्थ प्राणी मेरे मित्र हों।

मानव जब मानवता से गिर जाता है तो उसके लिए सर्वत्र भय ही भय उपस्थित हो जाता है शत्रु से ही भय नहीं किन्तु मित्र

से भी भय हो जाया करता है मित्र मित्रता तोड़ देता है अपितु हानि तक करने को उद्यत हो जाता है प्राण तक ले लेता है, अपने भी पराये बन जाते हैं, प्रत्यक्ष से भी जिन्हें कि भोग रहा है उनसे भी भय रहता है और जो प्रत्यक्ष नहीं ऐसे मन में भ्रमरूप से बैठे हुए अनुमानगम्य हैं उनसे भी भय बना रहता है। रात्रि में भय ही नहीं अपितु दिन में भी भय आरूढ रहता है, सारी दिशाएं भयपूर्ण हो जाती हैं इस प्रकार सर्वत्र अविश्वसनीय स्थिति सम्मुख आ जाती है। पर जब ऐश्वर्यवान् परमात्मा के प्रति आस्तिक भाव रख उसके सत्सङ्ग का बल प्राप्त कर वास्तविक मानवरूप में आता है तो समस्त भयभ्रम दूर हो जाते हैं, मित्र तो स्नेह करते ही हैं किन्तु शत्रु भी उसके प्रति नम्र बनकर प्यार करने लगते हैं, प्रत्यक्ष में आए भोग पदार्थ भी भयसंकट न देने वाले बन जाते हैं और मन में बैठे हुए या आए हुए अनुमेय या भावी विषय भी अभयरूप बन जाते हैं, क्या दिन में क्या रात में कोई भय प्रतीत नहीं होता, सारी दिशाएं अभयता का वातावरण उपस्थित कर देती हैं॥

ऋषिः—गर्गः=स्तुतिकर्ता जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

कल्याण की प्रार्थना—

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूर-मिन्द्रम्। ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥

(ऋ० ६।४७।११)

(त्रातारम्-इन्द्रम्) त्राण करनेवाले ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा को (अवितारम्-इन्द्रम्) रक्षा करनेवाले परमेश्वर को (सुहवं शूरम्-इन्द्रम्) सुगमता से बुलाने योग्य बलवान्—सर्वशक्तिमान् जगदीश को (पुरुहूतं शक्रम्-इन्द्रम्) बहुत इकार से बुलाने योग्य समर्थ

परमात्मा को (ह्वयामि) मैं बुलाता हूं—स्वात्मा में आमन्त्रित करता हूँ (मघवा-इन्द्रः) धनैश्वर्यवान् स्वामी परमात्मा (नः स्वस्ति धातु) हमारे लिये सम्यक्—अस्तित्व अर्थात् कल्याण धारण करावे ।

वर्तमान भयस्थान से त्राणकर्ता, भावी जीवन के रक्षक, सर्वशक्तिसम्पन्न यथावसर पुकारने स्मरण करने पर सुगमता से आने वाले बहुत प्रकार से स्तुतियोग्य परमात्मदेव को कल्याण करने के लिए मैं बुलाता हूं । वही हमारा सच्चा कल्याणकर्ता है उसके सिवा अन्य से सच्चा कल्याण सिद्ध नहीं हो सकता । अन्य से कल्याण सिद्ध होने की आशा रखना आत्मवञ्चना है अपने को धोखा देना है । परमात्मा ही वस्तुतः त्राणकर्ता रक्षक परम शूर शक्तिमान् ऐश्वर्यवान् है अन्य उसके सम्मुख तुच्छ ही है, परमात्मा इतना महान् महत्त्ववान् सर्वगुणसम्पन्न होता हुआ भी हमारे आवेदन या पुकार को सुनता है, हमारे पुनः पुनः आवेदनों से ऊबता नहीं चिड़ता नहीं अपितु हम पर प्रसन्न होता है हम पर कृपा करता है ऐसा वह दयालु है ॥

ऋषिः—आङ्गिरसः कुत्सः=प्राणायाम आदि योगाभ्यास में निष्णात स्तुतिकर्ता महानुभाव ।

देवता—वैश्वानरः=विश्व का नायक परमात्मा ।

विश्वनायक परमात्मा की कल्याणी सुमति में रहने की प्रार्थना—

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभि श्रीः । इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥

(ऋ० १ । ९८ । १)

(वैश्वानरः सूर्येण यतते) विश्व का नायक परमात्मा सूर्य के द्वारा सूर्य को माध्यम बनाकर पराक्रम करता है क्योंकि सूर्य ही तो विश्व को प्रकाशित करता है, करे परन्तु (इतः-जातः- इदं विश्वं

विचष्टे) इस वैश्वानर परमात्मा से उत्पन्न प्रसिद्ध एवं प्रकाशयुक्त होकर सूर्य इस विश्व को प्रकाशित करता है क्योंकि (भुवनानाम्-अभिश्रीः-राजा हि कम्) वह ही सूर्यादि लोकों का निरन्तर आश्रयणीय राजा ही निश्चित नितान्त है, उस ऐसे (वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम) विश्वनायक परमात्मा की सुमति--सत्प्रेरणारूप कल्याणी-मति में रहें ।

विश्व के प्रति बाह्य दृष्टिपात करने से सूर्य भौतिक देव प्रतापवान् सम्मुख आता है यह ठीक है परन्तु इस सूर्य को कौन प्रकाशित कर रहा है । यह सोचना ऊंचा दृष्टिपात है। पिण्डरूप में और गोलरूप में इसे प्रकाशित करने वाला कोई होना चाहिए । तिस पर निरन्तर स्थिर, न समाप्त होने वाला, न बुझने वाला यह प्रकाशपुञ्ज कहां से आया । यहां उत्तर मिलता है इस विश्व का नायक इससे भिन्न एकदेव परमात्मा है उससे यह प्रसिद्ध या प्रकाशमान होता है जैसे उपनिषदों में कहा है "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" उसकी ज्योति से यह सब चमकने वाला चमकता है। वही तो इन सब अगणित ग्रह गोलों को सम्भाले हुए है किसी एक देशी जड़वस्तु की क्या मजाल है इतने अगणित ग्रह गोलों को सम्भाल सके हम इन अगणित ग्रह गोलों से भरे हुए अथाह विश्व में कैसे विचरें इसका समाधान है कि उसकी सुमति सत्प्रेरणा में रहते हुए विचरण करें जो सुमति सत्प्रेरणा हमें प्राणायाम आदि योगाभ्यास स्तुति आदि से तथा परम्परागत वैदिक आदेशों द्वारा मिलती है ॥

ऋषिः—आङ्गिरसः कुत्सः=अङ्गी—आत्मा को उपासना से रसीला रखनेवाले का पुत्र या शिष्य स्तुतिकर्ता जन ।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा ।

निज शरण में लेने अपनी मित्रता में रखने की प्रार्थना—

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे। शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषाम वयं तव ॥

(ऋ० १।९४।१३)

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप अग्रणायक परमात्मन्! तू (अध्वरे चारुः) संसारयज्ञ में सुन्दर है (देवानां देवः-मित्रः) सूर्य आदि प्रकाशकों का प्रकाशक उपासकों के प्रति स्नेहकर्ता है (वसूनां वसुः-असि) पृथिवी आदि बसाने वाले वसुओं का बसानेवाला है। तथा (अद्भुतः-मित्रः-असि) अद्भुत मित्र है (तव सप्रथस्तमे शर्मन् स्याम) हम तेरे सातिशय विस्तृत शरण में हों। यतः (तव सख्ये मा रिषाम) तेरी मित्रता में हम पीड़ित न हो सकें।

मेरे प्यारे परमात्मन्! संसार में सुन्दर सद्गुण सम्पन्न तू ही है, तू इन प्रकाशक देवों का भी प्रकाशक महादेव है उनसे अधिक मुझे प्रकाश देनेवाला है, बसानेवाले वसुओं का भी बसानेवाला परम वसु तू है उनसे अधिक मुझे वसानेवाला है, संसारी मित्रों से विलक्षण अभूतपूर्व मित्र निःस्वार्थ मित्र है। तुझ ऐसे सुन्दर गुणसम्पन्न ज्ञान-प्रकाशदाता वसानेवाले महान् देव की विस्तृत शरण में उदार शरण में हम कभी भी व्यथित नहीं होते, वहां व्यथा का लेश भी नहीं है। परमात्मन्! क्या कहूँ संसार के देवों वसुओं मित्रों ने मुझे तुझ से दूर कर रखा है परन्तु मुझे यह निश्चय हो चुका है कि उनकी शरण मेरे सच्चे कल्याण का साधन नहीं है। वह सङ्कुचित शरण है किन्तु तेरी शरण विस्तृत है संकुचित नहीं अल्प देश या काल तक नहीं अपितु सर्वथा उदार है अछूट है अटूट है। अज्ञता के कारण संसारी प्रकाशकों वसुओं और मित्रों के पाने के लिये अनेक दौड़ धूप में भांति भांति के राग द्वेष के चक्र में भिन्न-भिन्न विपत्ति-व्यथा में मानव अपने अमूल्य जीवन को समाप्त

करता रहता है। पर तेरी पवित्र निष्कण्टक शरण में दौड़ धूप के ताप सन्ताप राग द्वेष के चक्र का प्रसङ्ग और विपत्ति-व्यथा का लेश भी नहीं है। अतः हे प्रभो! हमारे सखा बनकर हमें अपनी शरण में ले आनन्दित कर॥

ऋषि—वसिष्ठः=परमात्मा में अतिशय वासकर्ता उपासक।

देवता—भगवान्=भजनीय ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा।

परमात्मा ही हमारा भजनीय ऐश्वर्य हो उसी से हम ऐश्वर्यवान बन जावें—

भग एव भगवां २॥ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह॥

(यजु० ३४।३८)

(देवाः-भगवान् भगः-एव-अस्तु) हे विद्वानो! भजनीय ऐश्वर्य-वाला परमात्मा ही हमारा भजनीय ऐश्वर्य हो (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उससे—उसे प्राप्त कर हम भजनीय-ऐश्वर्यवाले हो जावें (भग तं त्वा सर्वः-इत्-जोहवीति) हे भजनीय ऐश्वर्यरूप परमात्मन्! उस तुझ को सब कोई जन बहुत आह्वान करता है बुलाता है आमन्त्रित करता है (भग सः-इह नः-पुरः-एता भव) हे भजनीय ऐश्वर्यरूप परमात्मन्! वह तू इस संसार में हमारा अग्रणायक हो।

संसार में हमने नानाप्रकार के ऐश्वर्यों का संग्रह किया परन्तु प्यारे परमात्मन्! धीरे धीरे सभी ऐश्वर्य हमसे अलग होते चले गए यदि वे अलग नहीं हुए तो हमें उनसे अलग होना पड़ा, सङ्ग फिर उनसे न रहा। हमने समझा था इन ऐश्वर्यों से हम सदा ऐश्वर्यवान् बने रहेंगे, पर यह भूल थी, अब तो बहुत परख-निरख करके निश्चय हुआ कि समस्त ऐश्वर्यों का दाता तथा स्वामी होने से हे परमात्मन्! तू ही हमारा भजनीय ऐश्वर्य है, तुझ से अतिरिक्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति

के पीछे संसारी जन उन्मत्त हो जाता है मारा मारा फिरता है अहर्निश अशान्ति और व्याकुलता को मोल लेता है। तुझ भजनीय ऐश्वर्यरूप परमात्मा को ही हम ऐश्वर्य समझ सचमुच ऐश्वर्यवाले बन जावें, अन्य ऐश्वर्य तो नश्वर हैं उनका स्थायित्व असम्भव है परन्तु भजनीय ऐश्वर्य को पाकर मनुष्य सच्चा धनी बन जाता है, अतः हे मेरे भजनीय ऐश्वर्यरूप परमात्मन्! मैं तेरा आह्वान करता हूँ तू इस संसार में हमारा ऐश्वर्यरूप अग्रणायक बन जिससे कि हम संसार के नश्वर ऐश्वर्यों में न भटकें और तुझे पाकर सच्चे ऐश्वर्यवान् बन स्थिर आनन्द को प्राप्त कर सकें ॥

ऋषिः—स्वस्ति-आत्रेयः=अदनशील प्राणसम्बन्धी कल्याण एवं कल्याणप्रिय मनस्वी जन।

देवताः—ईश्वरः=परमात्मा।

परमात्मा के, मित्रता और दिव्य धनैश्वर्य के लिये प्रार्थना—

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।

विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥

(ऋ० ५।५०।१, यजु० ४।८)

(विश्वः-मर्त्तः) सब मनुष्य—मनुष्यमात्र (नेतुः-देवस्य) नायक जगदीश देव की (सख्यं वुरीत) मित्रता को वरण करे—स्वीकार करे। क्योंकि (विश्वः-राये-इषुध्यति) सब मनुष्य-मनुष्यमात्र ऐश्वर्य के लिये याचना करता है[1] अतः (द्युम्नं पुष्यसे वृणीत) उस परमात्म-रूप प्रकाशमय धन को अपनी संवृद्धि के लिये वरण करे।

प्रत्येक मनुष्य ऐश्वर्य चाहता है परन्तु सांसारिक ऐश्वर्य तो व्ययधर्मी है, ऐसे ऐश्वर्य की चाहना करनी चाहिए जो उसके अन्त-स्तल या मानवोचित जीवन को पुष्ट करता चला जावे इसके लिये तो मनुष्यमात्र को परमात्मा की मित्रता वरण करनी चाहिए। समस्त

१. "इषुध्यति याचनाकर्मा" (निघं० ३।१९)

वरों में—वरणीय वस्तुओं में परमात्मा ही वरणीय है, मनुष्य जो ऐश्वर्य को चाहता है वस्तुतः वह स्थिर पोषण के लिये चाहता है सो परमात्मा के विना अन्य के वरण से मानव कृतकृत्य नहीं हो सकता क्योंकि अन्य वर नश्वर है परमातमा अमर वर है। उस अमर परमात्मा के साथ मित्रता करने से मनुष्य का निज जीवन के ऐश्वर्य पर स्वामित्व हो जाता है जिससे जीवनमार्ग में दिनों दिन पुष्टि-कारक ऐश्वर्य और यश को प्राप्त करता है, यही मानव जीवन का फल है अतः ऐसा ऐश्वर्य प्राप्त करे जिस से वह भौतिक दृष्टि से नहीं किन्तु आत्मीय दृष्टि से आन्तरिक जीवन की दृष्टि से बढ़ता चला जावे यही वस्तुतः वृद्धि संवृद्धि है, भौतिक ऋद्धि का तो ह्रास और नाश भी हो सकता है उसके स्वायत्त न होने से, परन्तु आत्मीय ऋद्धि स्वायत्त होती है और ऐसी ऋद्धि समृद्धि ईश्वर का प्रसाद है जो उसकी मित्रता से प्राप्त होता है॥

ऋषिः—दध्यङ्-आथर्वणः=स्थिर मन से सम्पन्न स्थिरमन का स्वामी ध्यानी उपासक।

देवता—आपः=व्यापक प्रजापति परमात्मा।

जगत् में प्रकाशमान स्वात्मा में वर्तमान परमात्मा सुखशान्ति को प्रवाहित करे—

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

(यजु० ३६।१२)

(देवीः) जगत् में अपने गुणों से प्रकाशमान जगदीश (नः) हमारी (अभिष्टये) अभिकामना—ऐन्द्रियिक सुखपूर्ति के लिये (शम्) कल्याणकारी हों (आपः) हमारे अन्तरात्मा में आप्त होने-वाले व्यापक परमात्मा (पीतये भवन्तु) हमारी तृप्ति के लिये-आत्म-शान्ति के लिये कल्याणकारी हों (शंयोः-नः-अभिस्रवन्तु) इस प्रकार बाह्य जगत् में प्रकाशमान परमात्मा इन्द्रियोंद्वारा [दृष्ट-दिव्यगुण

वाला] और आत्मा में प्राप्त व्यापक परमात्मा आत्मा के द्वारा [अनुभूत हुआ] हम पर दोनों ओर से शम्—शान्ति—कल्याण का सञ्चार करें, इन्द्रियों और आत्मा के मध्य मन में दोनों ओर से शान्तिप्रवाह को प्रवाहित करें।

मानव स्वभावतः सुख और शांति का इच्छुक है इसी के लिये जीवन भर प्रयास करता रहता है परन्तु प्रायः लक्ष्यभ्रष्ट होने से यह सफल नहीं होता। सुख तो संसार में इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है और शान्ति अन्दर—आत्मा में ही प्राप्त होती है। परन्तु यह दोनों को बाहिर से ही लेना चाहता है। वस्तुतः जो बाहिरी सुख है वह सच्चा सुख नहीं है वह भी दुःखमिश्रित है फिर शान्ति की तो क्या कथा ? हां यदि बाहिर भीतर दोनों क्षेत्रों में एक लक्ष्य को पकड़ ले तो बाहिर सुख और अन्दर शान्ति का लाभ अवश्य हो सकता है। वह लक्ष्य है परमात्मा, बाहिरी जगत् उसका ही तो बनाया हुआ है इस जगद्रूप चित्र में उस चित्रकार परमात्मा की अनुभूति भी तो करनी चाहिए, ऐन्द्रियिक विषयों में परमात्मा की ओर प्रवृत्ति उसकी अनुभूति का संस्पर्श भी रहे तो ऐन्द्रियिक सुख दुःख से रहित सचमुच सुखरूप में अनुभूत हों। गन्धसुख के साथ परमात्मा की विभूति भी लक्षित हो, रससुख में उसकी महिमा भासित हो, रूपसुख में उस ज्योतिःस्वरूप की झलक भासे, स्पर्श सुख मे उसके कौशल का भान हो, ध्वनि सुख में उसकी वीणाकला का अनुभव हो। पुनः अन्दर आत्मा में उसका साक्षात् समागम प्रतीत हो क्योंकि मैं विना मेरे के नहीं रह सकता अतः मेरे आत्मा में व्यापक परमात्मा के अनुपम अनिवार्य सङ्ग से शान्ति प्राप्त होती है। ऐन्द्रियिक सुख तो परमात्मा को लक्ष्य में रखते हुए संयम सदाचार द्वारा सेवन करने से अविकल या निर्दोष ऐन्द्रियिक सुख का प्रवाह मन में अन्दर प्रवाहित होगा और आत्मा में साक्षात् परमात्म-समागम का शान्तिप्रवाह मन में बाहिर लक्षित होगा इस प्रकार

दोनों ओर मन सुख और शान्ति के प्राप्त प्रवाहों से आपूर भरपूर होकर स्थिर प्रसन्न तथा शान्त हो जावेगा। इस प्रकार इन्द्रियों द्वारा जगत् में दृष्ट हुआ इष्ट देव और आत्मा में आप्त व्याप्त हुआ परमात्मा दोनों ओर से सुख तथा शान्ति को देता हुआ मन में आभरित हो कर सुख शान्ति की अमृत वृष्टि करे॥

ऋषिः—माधुच्छन्दसो जेता=मधुतन्त्र मधुपरायण माधुर्यवृत्तसे पूर्ण कुल में निष्पन्न जयशील—इन्द्रियजयशील जितेन्द्रिय जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

परमात्मा की मित्रता में रहने और अभय पाने की प्रार्थना—

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।

त्वामभि प्र णो नुमो जेतारमपराजितम्॥

(ऋ० १। ११। २)

(शवसस्पते-इन्द्र) हे विविध बलों के स्वामी ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (वाजिनः) बलवान्[2] हुए हम (मा भेम) न डरें (त्वाम्-अपराजितं जेतारम्) तुझ अपराजित जेता की (अभिप्रणोनुमः) निरन्तर उत्तम रीति से स्तुति करते हैं।

हे प्यारे परमात्मन्! तू समस्त विविध बलोंका स्वामी है। विश्व में जहां किसी वस्तु में बल हैं वह तेरे प्रताप से ही है, क्या अग्नि में तेज क्या सूर्य में प्रकाश क्या वायु में वेग क्या विद्युत् में पतन-बल तेरा दिया हुआ है। तू समुद्र को दोलायमन करता है पृथिवी को भी तू ही निरन्तर घुमाता रहता है अपितु इससे भी लाखोंगुणा बड़े सूर्य आदि को भी तू घूमाया करता है। रात्रि में दीखने वाले असंख्य नक्षत्र तारों ग्रह सितारों पर तेरा राज्य है ये तेरे शासन में गति करते है। धूमकेतु (पुच्छल तारे) जैसे महाकाय भी तेरे शासन

---

१. "शवः-बलनाम" (निघं० २। ९)
२. "वाज :-बलम्" (निघं० २। ९)

में लम्बी लम्बी यात्रा करते हैं। तू पूर्ण ऐश्वर्यवान् है ईश्वरत्व का अतुल आधार, आगार और केन्द्र तू ही है। अपराजित है सब पर विजय पाने वाला है। तुझ ऐसे अपराजित जेता बलवान् की मित्रता में भय किस का ? तुझे हम निरन्तर नमस्कार करते हैं तेरा स्तवन भजन करते हैं तेरी शरण में रहते हुए कोई भी भय हमें च्युत नहीं कर सकता, तेरे प्रेम से पृथक् नहीं हटा सकता क्योंकि तेरे मित्र का पन्थ निराला हो जाता है अतः हम तेरी मित्रता में मग्न हो भय-रहित हो जावें इस अभय प्रसाद को पाते हुए हम तुझे पुनः पुनः प्रणाम करते हैं तेरी स्तुति करते हैं॥

ऋषिः—शुनःशेपः=इन्द्रियविषयलोलुप—इन्द्रियाराम सुख का खोजी दुःखी जन।

देवता—अग्निः=ज्ञान प्रकाश स्वरूप परमात्मा।

वह हमारा प्यारा हो जावे हम उसके प्यारे बन जावें—

प्रियो नो अस्तु विश्वपति र्होता मन्द्रो वरेण्यः।
प्रियाः स्वग्नयो वयम्॥

(ऋ० १।२६।७)

(विश्पतिः-होता मन्द्रः-वरेण्यः) हम प्रजाओं का पालक, भोग-प्रदानकर्ता, हर्षित करने वाला, वरने योग्य प्रकाशस्वरूप अग्रणायक परमात्मा (नः प्रियः-अस्तु) हमारा प्यारा होजावे (वयं स्वग्नयः प्रियाः) हम शोभन-अग्निवाले अर्थात् परमात्मरूप अग्नि को अनन्यरूप में अपनानेवाले अपने अन्दर प्रकाशित करनेवाले उसके प्यारे बन जावें।

हमारा राजा दाता हर्षित करनेवाला मित्र परमात्मा हमारा प्यारा बन जावे, हम उसके अतिरिक्त वैसा किसी को प्यारा न समझें किसी से वैसा प्यार न करें तो निश्चित उसके प्यारे बन जावें। भला यह कैसे होसकता है कि प्रजा अपने राजा को, याचक अपने

दाता को, सेवक अपने स्वामी को और मित्र अपने मित्र को स्नेह की दृष्टि से न देखे तथा राजा अपनी प्रजा से, दानी अपने पात्र याचक से, स्वामी अपने सेवक से, और मित्र अपने मित्र से स्नेह न करे। ज्वाला को दीपक की भांति हम अन्दर परमात्मा को प्रकाशमान करें, श्रद्धा को बत्ती के रूप में अर्पित करें। पर खेद यह श्रद्धारूप बत्ती तो भोगविलास के दावानल में भूनते रहे हैं, अज्ञता से जो संसार के नश्वर विषमिश्रित भोगविलासों में ही प्यार करके आत्मघात कर रहे हैं। वस्तुतः भोग तो विष से बुरे हैं "विषस्य विषयाणां च दृश्यते महदन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि॥" विष तो खाया पीया मारता है पर विषय तो स्मरण मात्र से मार देते हैं। अतः प्रिय परमात्मा की अमृत शरण प्राप्त करने के लिये उससे प्यार करना ही हितकर है॥

देवता—प्रस्कण्वः काण्वः=मेधावी का पुत्र—प्रशस्त मेधावी[1]।

देवता—सूर्यः=ज्ञानप्रकाशप्रसारक परमात्मा।

अन्धकार से हटकर उत्तम ज्योतिः को प्राप्त हों—

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्[2]॥

(ऋ० १।५०।१०)

विज्ञप्ति—यह मन्त्र "असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्यो र्माऽमृतं गमय" (शत० १४।४।१।३१) के समान आशय रखता है। क्योंकि असत् पाप को कहते हैं "असद् भूम्याः

---

१. "प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः (निरुक्ते)
"कण्वो मेधाविनाम" (निघं० ३।१५)

२. उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। (यजु० २०।२१, २७।१०, ३५।१४, ३८।२४)

समभवत् तद् द्यामेति महद् व्यचः । तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु॥" (ऋ० ४ । १९ । ६) यहां असत् शब्द पाप के लिये आया है, तमः भी पाप कहा गया है "पाप्मा वै तमः" (तै० सं० ५ । १ । ८ । ६) मृत्यु को तमः कहा गया है "मृत्यु वैं तमः" (शत० १४ । ४ । १ । ३२) असत् को भी मृत्यु कहा है "मृत्यु र्वा असत्" (शत० १४ । ४ । १ । ३२) । इस प्रकार "असत्, तमः, मृत्युः" ये तीनों एकरूप हैं अतः "सत्, ज्योतिः, अमृत" ये तीनों भी एक रूप हैं । कहा भी है "सदमृतम्" (शत० १४।४।१।३१) "ज्योतिरमृतम्" (शत० १४ । ४ । १ । ३२) इस प्रकार इन तीनों के भी एकरूप होने पर उक्त वचन "असतो मा सद् गमय···" का अभिप्राय हुआ कि हम अन्धकाररूप या पापरूप या मृत्युरूप संसार से परे हटकर स्वात्मा को ज्योतिःस्वरूप या पवित्ररूप अमृत-रूप परमात्मा की ओर ले चलें । इसके अनुसार प्रस्तुत वेदमन्त्र "उद्वयं तमसस्परि···" है। अर्थ और विचार निम्न देखें।

(वयम्) हम (तमसःपरि) पापरूप अन्धकार से ऊपर[1] अथवा तमोबहुल एवं पापबहुल संसार से ऊपर[2] (उत्तरं ज्योतिः-उत्पश्यन्तः) उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट अमृतरूप[3] ज्योति ब्रह्म की उत्प्रेक्षा करते हुए—खोजते हुए (देवत्रा देवम्) देवों में देव उत्तमं ज्योतिः (सूर्यम्-अगन्म) परम ज्योतिः परमात्मरूप[4] सूर्य को प्राप्त हो गए।

---

१. "उद्वयं तमसस्परि···पाप्मा वै तमः पाप्मानमेवास्मादपहन्ति" (तै० सं० ५ । १ । ८ । ६)

"तमसः उपरि रात्रेरूर्ध्वं तमसः पापात् परि उपरि ततं मानं वा" (सायणः)

२. "तमोबहुलादस्माल्लोकात्" (उव्वटो महीधरश्च)

३. "ज्योतिरमृतम्" (शत० १४ । ४ । १ । ३२)

४. "उत्तमं ज्योति र्ब्रह्मरूपमुदगन्म" (महीधरः)

मानव को अपनी जीवनयात्रा में प्रवृत्ति और निवृत्ति के लक्ष्य निर्धारित कर लेने चाहिएं कि किससे निवृत्ति और किसमें प्रवृत्ति करना है। निवृत्ति और प्रवृत्ति ही यात्रा है, एक से पग निवृत्त होता है उठता है पृथक् होता है दूसरे पर पग प्रवृत्त होता है पड़ता है धरा जाता है। निवृत्ति के भी स्थान तीन हैं और प्रवृत्ति के भी तीन स्थान हैं। 'असत्, तमः, मृत्यु' ये तीन स्थान निवृत्ति के हैं इनसे सदा निवृत्त होते रहना चाहिए, और 'सत्, ज्योतिः, अमृत' ये तीन स्थान प्रवृत्ति के हैं इनमें सदा प्रवृत्ति बनाए रखना चाहिए। इस प्रकार यात्रा के तीन पदक्रम हैं जिनमें प्रथम पदक्रम है असत् अर्थात् पाप से अमानुषी आचरण से हट कर सत् अर्थात् सदाचरण सत्पुरुषों के आचरण की ओर चलना। दूसरा पदक्रम है तमः अर्थात् अज्ञानरूप अन्धकार से हट कर ज्ञानरूप ज्योति में प्रविष्ट होना। तीसरा पदक्रम है मृत्यु अर्थात् मृत्यु-निमित्त बन्ध के निमित्तरूप व्यसनवासना से हट कर अमृत मोक्ष को प्राप्त करना, यह मानव का दैनिक यात्रा क्रम है। वस्तुतः यात्रा के दो ही मार्ग हैं एक नश्वर संसार की ओर जानेवाला दूसरा अमृत परमात्मा की ओर जाने वाला। संसार की ओर जाने वाले में या संसार की ओर ले जाने वाले के तीन फल या प्रवेश स्थान हैं जो असत् पापाचरण, तमः—अज्ञानान्धकार, मृत्यु—मृत्युबन्ध के निमित्त व्यसनवासना। परमात्मा की ओर जाने वाले तीन फल या प्रवेश स्थान हैं सत्—सदाचरण, ज्योतिः—ज्ञानरूप ज्योतिः, अमृत-मोक्ष। वेद में संसार से पृथक् होने और परमात्मा को प्राप्त करने रूप यात्रा के लक्ष्य को कहा गया है॥

ऋषिः—दीर्घतमाः=अमर जीवन का चाहने वाला या दीर्घ-दूर की महती आकांक्षा वाला उपासक जन।

देवता—विष्णुः=व्यापक परमात्मा।

परमात्मा के आश्रय मोक्षानन्दसरोवर से आनन्द रस का पान करूं—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति । उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥

(ऋ० १ । १५३ । ५)

(अस्य-उरुक्रमस्य विष्णोः) इस महापराक्रमवाले व्यापक परमात्मा के (परमे पदे मध्वः-उत्सः) अत्युत्तम मोक्षपद में मधु का कूप है—कुवां है (यत्र देवयवः-नरः-मदन्ति) जहां परमात्मदेव को चाहने वाले जन आनन्द प्राप्त करते हैं (तत् प्रियं पाथः-अभ्यश्याम्) उस प्यारे मधुर पान को[1] मैं सेवन कर सकूं (इत्था सः-हि बन्धुः) इस प्रकार वह व्यापक परमात्मा ही मेरा बन्धु है मुझे अपने सम्बन्ध का पात्र बनाता है ।

महापराक्रमवान् व्यापक परमात्मा के मोक्षरूप परमपद में मधु का कूप है—स्रोत है जिसमें परमात्मदेव को चाहने वाले अवगाहन और पान के द्वारा उपासक जन आनन्द लेते हैं । अहो हो ! उसमें से मैं भी प्यारा पान—मधुर घूंट ले सकूं, वह देव इस प्रकार मेरा बन्धु बन जावे । मोक्षानन्द का लाभ परमात्मा के उपासक जन लेते चले आये हैं, उन्हें आदर्श बनाकर मैं भी अमृतरस सरोवर में से पान कर सकूं ऐसी प्रार्थना उस अन्तर्यामी परमात्मा से मेरी है। परमात्मदेव दयालु हैं पक्षपातरहित हैं जब मुझसे पूर्व के अपने उपासकों को अपने आनन्द स्रोत का रसपान कराता रहता है तो मैं भी यदि वैसा ही सच्चा उपासक बन जाऊं तो अवश्य मैं भी आनन्दरस पान कर सकूं ॥

१. "पाथः···उदकमपि पाथ उच्यते पानात्···अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव" (निरु० ६ । ७)

ऋषिः—राहुगणो गोतमः=वासनात्यागी मण्डल में उत्पन्न या व्युत्पन्न ईश स्तुति प्रार्थना का इच्छुक जन।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा।

न हटाया जाने वाले शक्तिप्रद अध्यात्म ऐश्वर्य की प्रार्थना—

आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम्।
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्॥ (ऋ० १।७९।८)

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! तू (सत्रासाहं वरेण्यं रयिम्) सत्य को सहने वाले—सत्य को अपनाने वाले[1] न कि सत्य के विरोध करने वाले अपितु असत्य से दूर रहने वाले पुनः वरने योग्य जिसके वरने में अशान्ति नहीं किन्तु शान्ति ही है ऐसे धनैश्वर्य को (नः) हमें (आभर) सौंप—प्रदान कर हमारे अन्दर स्थापित कर। अपितु (विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्) समस्त संग्रामों में पराजय को न प्राप्त होने वाला किन्हीं से भी हरा जाने वाला न हो।

मेरे प्यारे परमात्मन्! मैं धन का आकांक्षी हूं पर कैसे धन का, उसका नहीं जो धन सत्य को न सह सके। सत्य का सामना करना पड़ा न सह सका असत्य की शरण लेकर रहना और बढना चाहा किन्तु जो सदा सत्य की शरण में स्थिर रहे और बढ़े ऐसा धर्म का धन मुझे प्राप्त हो। तथा जिसके रहते हुए कोई अशान्ति न उत्पन्न हो किन्तु दिनोंदिन शान्ति ही शान्ति बढती रहे जिसे वरने—अपनाने को मेरा मन विकल—व्याकुल न हो साथ साथ समस्त कठिनाइयों विपत्तियों आपदों में भी पुनः पुनः काम, क्रोध आदि संघर्ष संग्रामों में वह धन हराया न जा सके। ऐसा धन धर्म से प्राप्य सात्विक शुद्ध धन है पर सर्वथा सच्चा ऐसा धन तो परमात्मसङ्गति से प्राप्त ब्रह्मानन्द ही है।

---

१. "सत्रा सत्यनाम" (निघं० ३।१०)

ऋषि:—अत्रि=इसी जन्म में तृतीय धाम मोक्ष को प्राप्त करने-वाला[1] तीव्र संवेगी मुमुक्षु जन।

देवता—इन्द्र:=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

निर्दोष वरणीय अनन्त प्रकाशमय मोक्षैश्वर्य की प्रार्थना–

यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदाभर।

विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने॥

(ऋ० ५।३९।२, साम० उ० अ० ८। खं० ६।३।२)

(इन्द्र यत्-द्युक्षं वरेण्यं मन्यसे) हे ऐश्वर्यवन् परमात्मदेव! जिस प्रकाशमय स्थान में रहने वाले[2] ऐश्वर्य को तू मानता है हमारे लिए हितकर जानता है (तत्-आभर) उसे हमारे में पूर्ण-भर दे स्थापित कर दे (ते तस्य-अकूपारस्य दावने वयं विद्याम) तेरे उस अकुत्सित-पार-वाले अनिन्दनीय—शुभरूप अथवा 'अकूपारस्य' अक्वचित् पार वाले अर्थात् जिसका कहीं पार नहीं ऐसे अपार अनन्त मोक्ष सुखैश्वर्य के दान में—दायभाग में हम स्थिर हों नियुक्त हों।

प्यारे प्रभो! धन की चाह तो मनुष्य को होती है पर वह नहीं जानता कि किस धन को चाहूं और कौन सा धन मेरा वरणीय है उपादेय है। लोभवश तो धनमात्र को अभीष्ट और उपादेय समझ लेता है, परन्तु पश्चात् वह अभीष्ट एवं उपादेय के स्थान में अनभीष्ट अनिष्ट कर और अनुपादेय—हेय त्याज्य सिद्ध होता है। भौतिक धन के आ जाने पर साथ में बहुधा भय का भारभी ऊपर आ पडता है। राजा से भय प्रजा से भय चोर से भय डाकू से भय जल से

१. "अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुस्तस्मादत्रि:" (निरु० ३।१७)

२. द्यवि क्षियति निवसतीति द्युक्षम्, द्यु-क्षि+ड: "अन्येष्वपि दृश्यते" (अष्टा० ३।२।१०१)

भय अग्नि से भय अपितु अपने जन तक से भय होने लगता है इस ऐसे धन का आगम क्या है निज आत्मिक सुख सम्पत्ति का अपगम है ह्रास है नाश है। वस्तुतः भौतिक धन वरणीय उपादेय नहीं है वरणीय उपादेय धन तो मेरे प्रभो आप ही जानते हो समझते हो अत एव हे प्रभो परमात्मन्! जिसे तू हमारे लिये वरणीय प्रकाशमय मोक्षरूप धन समझे हुए है उसे प्रदान कर, क्योंकि तू हमारा सच्चा हितैषी है यह हम जानते हैं। अकुत्सित पार वाले अनिन्दित पार वाले जिसके अन्दर प्रवेश कर आत्मा निर्मल हो जाता है तथा जिसका कहीं पार नहीं ऐसे अपार अनन्त मोक्षरूप धन में प्रवेश करके अन्यत्र प्रवेश की भटकना समाप्त हो जाती है उस ऐसे मोक्षैश्वर्य के दान में दायभाग में वटरारे में हम कृतकृत्य हो जावेंगे अतः हमें उसे प्रदान कर।

इस प्रकरण का सार—

अज्ञात विघ्न दुर्दशा, दुर्गुण, भय, अन्धकाररूप सांसारिक वासना व्यसन और अनृत आचरण से पापी द्वारा सन्ताप से हटाने की तथा दीर्घ जीवन, तीक्ष्ण आर्ष सत्य मेधा, बल, वीर्य, तेज, साहस, ओज, प्रताप, विद्यारुचि की और परमात्मा की शरण, कल्याणी सुमति, मित्रता प्रेम एवं हम उसके प्यारे हों वह हमारा प्यारा बन जावे, पवित्र ऐन्द्रियिक सुख,अध्यातम ऐश्वर्य और आत्मशान्ति, दिव्य धन, मोक्षैश्वर्य मोक्षानन्द रसपान, अमर ज्योतिःस्वरूप परमात्मा का समागम प्राप्त करने की प्रार्थना ॥

स्तुति में ईश्वर—

*—

*—संसार परमात्मा की महिमा मात्र है वह इससे महान् है (पढो "एतावानस्य महिमा…" पृष्ठ ११२)।

ऋषिः—वामदेवः=प्रशस्त विद्वान् तथा वननीयदेववाला स्तोता जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा।

परमात्मा अपने स्तोता को क्षीणता से बचाता उस पर सुख-सम्पत्ति को बरसाता है—

क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोतीयर्ति रेणुं मघोनं समोहम्।
विभञ्जनुरशनिमाँ इव द्यौरुत स्तोतारं मघवा वसौ धात्॥

(ऋ० ४।१७।१३)

(मघवा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्वं क्षियन्तं स्तोतारम्) किसी भी क्षीण हो रहे अपने स्तुतिकर्ता को (अक्षियन्तं कृणोति) न क्षीण होता हुआ—न क्षीण होने वाला—समृद्ध कर देता है (समोहं रेणुम्-इयर्ति) उस पर अज्ञानरूप चढ़े धूलमल को हटा देता है (उत) तथा (अशनिमान् द्यौः-इव विभञ्जनुः) विद्युत् से युक्त मेघमण्डल की भांति—जैसे मेघमण्डल विद्युत् के कडक चमक से जल वृष्टि कर पृथिवी को तर कर देता है वैसे ही परमात्मा (वसौ-धात्) स्तोता को धनसम्पत्ति में स्थिर कर देता है उस पर सुखैश्वर्य बरसा देता है।

परमात्मा महान् एवं अनुपम दयालु है और अपने स्तुतिकर्ता का तो वह पूरा ध्यान रखता है। वह क्षीण होते हुए अपने स्तुतिकर्ता को देख नहीं सकता उसे वह समृद्ध बना देता है, सांसारिक सच्चे सुखैश्वर्य से तो युक्त कर ही देता है पर उसके ऊपर चढ़े अज्ञान धूलमल को भी पृथक् कर देता है उस अपने स्तुतिकर्ता पर उसकी कृपा जल भरे मण्डल से वृष्टि की भांति बरस जाती है, वह सुखसम्पत्ति से अपने स्तोता को अतिसम्पन्न कर देता है मालामाल बना देता है निहाल कर देता है। पर होना चाहिए सच्चा स्तोता निज जीवन में स्तुत्य गुणों को धारण करने वाला॥

ऋषिः—वसिष्ठः=परमात्मा में अतिशय वासकर्ता जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

स्थावर जङ्गम के स्वामी सुखदर्शक परमात्मा की स्तुति करना—

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।

ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥

(ऋ० ७। ३२। २२, यजु० २७।३५)

(शूर-इन्द्र) हे पराक्रमशील ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! (अस्य जगतः-ईशानं तस्थुषः-ईशानं स्वर्दृशं त्वा) इस जङ्गम के स्वामी तथा स्थावर के स्वामी एवं हमें सुख दिखाने वाले तुझ देव को (अदुग्धाः धेनवः-इव-अभिनोनुमः) विना दुही हुई दुग्धपूर्ण दुधारी गौओं की भांति—जैसे दुग्धपूर्ण दुधारी गौएं अपने स्वामी के लिए दुग्ध समर्पणार्थ समुद्यत होती हैं ऐसे ही हम स्तुतिकर्ता स्तुतिस्तवन से पूर्ण हुए तेरे प्रति नमते हैं।

स्थावर जङ्गम के स्वामी तथा नितान्त सुख का अनुभव कराने वाले परमात्मा की स्तुति तथा भजनभावनाओं से भरे हुए हम अपने को उसके प्रति ऐसे समर्पण करें जैसे दुग्धभरी दुधारी गौएं दूध दुहाने के लिये दुग्धप्रदान करने के लिए स्वामी के प्रति अपना समर्पण कर देती हैं। इस स्वामिभक्ति से स्वामी परमात्मा की कृपा, प्रसाद और स्नेह के पात्र हम बन सकें जिससे हमें वह अपने दिव्य सुख का दर्शन करा सके॥

ऋषिः—जेता माधुच्छन्दसः=मधुतन्त्र—मधुपरायण संयमी का पुत्र या शिष्य जयशील सफलजीवन जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

परमात्मा के अगणित दान हैं, उन उनके अनुसार बहुत बहुत स्तुति करना—

इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत ।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ।।

(ऋ० १ । ११ । ८)

(ओजसा-ईशानम्-इन्द्रम्) बल से जगत् का स्वामित्व करते हुए ऐश्वर्यवान् परमात्मा की (स्तोमाः-अभ्यनूषत) बहुत प्रकार से स्तुतियां करो[१] क्योंकि (यस्य रातयः सहस्रं सन्ति उत वा भूयसीः) जिसकी देन सहस्र हैं अपितु बहुत हैं ।

परमात्मा अपने अनन्त बल पराक्रम से इस जगत् पर स्वामित्व करता है, जहां वह जगत् पर अपना शासन करता है साथ ही वह महान् दयालु दानी भी है उसके दानप्रकार सहस्रों हैं अपितु बहुत हैं अगणित हैं । अन्न फल आदि भोज्य, स्वर्ण आदि उपयोज्य, जल प्रकाश वायु आदि जीवननिर्वाहक वस्तुएं किस किस रूप में किस किस प्रकार से प्रदान करता है वही जानता है । यह उसकी महती कृपा है, हम इन प्रदानों के बदले में कुछ भी मूल्य नहीं देते और अमूल्य प्रदानों का मूल्य भी क्या दें हमारे पास देने को कोई उपयुक्त मूल्य है भी नहीं, केवल कृतज्ञता रूप में उसकी स्तुतिमात्र ही अल्प मूल्य है इसे ही देते हैं, उसकी स्तुति करके कृतज्ञमात्र होते हैं और ऐसा करना ही चाहिए, कृतज्ञ होना मानव का धर्म है ।।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः=मीठी इच्छा रखने वाला आन्तरिक जीवन में मिठास का इच्छुक जन ।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा ।

परमात्मा धनैश्वर्य का महान् कोष है और उपासक का सखा है—

---

१. "स्तोमाः स्तोमान्" सुपां सुपो भवन्तीति विभक्तिव्यत्ययः ।

यो रायोऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥
(ऋ० १।४।१०)

(यः) जो इन्द्र ऐश्वर्यवान् परमात्मा (रायः-महान्-अवनिः) धनैश्वर्य की भारी भूमि है—खान है[1] (सुपारः) भली प्रकार प्रीणन करने वाला—तृप्त करने वाला (सुन्वतः सखा) अपने को उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना आदि शुभगुणों से सम्पन्न करनेवाले उपासक का सखा है—मित्र है (तस्मै-इन्द्राय गायत) हे जनो! उस इन्द्र परमात्मा का गान करो—गुणगान करो-स्तुति व्याख्यान करो।

संसारी जन धन के पीछे दौड़ रहा है कहीं से उसे धन का कोष खजाना मिल जावे यह उसकी आकांक्षा रहती है परन्तु कोई कोष-खजाना मिल भी गया तो, क्या वह व्यय न होगा—खर्च न होगा? खर्च अवश्य होगा क्योंकि कहावत है कुबेर का कोष (खजाना) भी एक दिन समाप्त हो गया तब क्या करोगे? अच्छा खर्च तुम्हारे जीवन काल में न हुआ बहुत सा शेष बचा भी रहा तब उस अवशिष्ट खजाने में आत्मा फंसा रहेगा, मरते समय भी उसका चित्र सामने आते रहने से अतृप्ति और अशान्ति को ही पाया, न खर्च किया तो उसको पास रखने का क्या लाभ? न खर्च कर, छोड़कर मर जाने से और भी दुःख होगा कि खजाना तो पाया पर न खा पाया। भोले मानव सच्चा कोष—खजाना तो परमात्मा ही है जो समस्त धनैश्वर्य की भूमि है खान है और कम न होने वाला कोष महान् खजाना है और फिर नितान्त तृप्ति करने वाला पूर्ण शान्ति देने वाला है। जो अपने को उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना आदि से सुसम्पन्न करता है वह उसका मित्र बन जाता है। उस ऐसे ऐश्वर्यवान् मित्र का गुणगान करना चाहिए॥

---

१. "अवनिः पृथिवीनाम" (निघं० १।१)

ऋषिः—बार्हस्पत्यः शंयुः=बृहस्पति–बृहती वाणी विद्या का पति विद्यास्नातक का पुत्र या शिष्य अपने कल्याण का इच्छुक[1] स्तोता।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा।

प्रत्येक श्रेष्ठ कर्मकलाप में प्रत्येक शुभवाग्विलास में परमात्मा स्तुत्य—

यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे।

प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्॥

(ऋ० ६।४८।१)

(यज्ञा यज्ञा गिरा गिरा च) मेरे समस्त यज्ञ–श्रेष्ठ कर्म और मेरी सकल स्तुतियां या वाग्विषय[2] (वः-दक्षसे–अग्नये) तुझ[3] प्रवृद्ध सर्वत्र व्याप्त गुणों से विख्यात ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा के लिए हैं। अतः(अमृतं जातवेदसम्)तुझ अमृतरूप समस्त उत्पन्न मात्र के आधार और ज्ञाता की (प्रियं मित्रं न) प्यारे मित्र के समान (वयं प्रप्र शंसिषम्) मैं[4] प्रत्येक यज्ञमें प्रत्येक स्तवन में बहुत बहुत या निरन्तर प्रशंसा करता हूँ—स्तुति करता हूँ।

प्रत्येक यज्ञ याग आदि श्रेष्ठ कर्म को तथा प्रत्येक गान सङ्गीत स्तवन भाषण कथा प्रवचन उत्सव सभा सम्मेलन को उस जगदीश देव के समर्पण कर देना चाहिए। उन उन अवसरों पर जगदीश को अपना प्यारा मित्र समझ उसका यशोगान करना उसकी प्रशंसा स्तुति करना अपना परम कर्तव्य है अपितु उन अवसरों की शोभा और सफलता भी उसकी प्रशंसा स्तुति पर निर्भर है अन्यथा वे शुष्क

---

१. "शंयुःसुखयुः" (निरु० ४।२१)

२. यज्ञा यज्ञा गिरा गिरा। ये प्रथमा बहुवचन में हैं, यहां आकारादेश छान्दस "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे..." (अष्टा० ७।१।३९)

३. आदरार्थं बहुवचनं व्यत्ययेन वा बहुवचनम्।

४. "वयम्" वचनव्यत्ययेन बहुवचनमेकवचने।

प्रयास वाग्विलास मात्र होकर मानव जीवन के अमूल्य फल प्राप्ति में बाधक ही हैं ॥

ऋषिः—आजगर्तिः शुनः शेपः=अजीगर्त—भोगों की दौड़ से शरीरगर्त में पड़ा इन्द्रियविषय लोलुप असंयमी जन।

देवता--इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

सुखलाभ और दुःख-प्रसङ्ग में भी परमात्मा स्तुत्य—

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ (ऋ० १।३०।७)

(योगे योगे) प्रत्येक सुखयोग में—सुखलाभ में (वाजे वाजे) प्रत्येक शक्तिप्रसङ्ग[1]—रक्षार्थ शक्ति प्रयोग में या संघर्ष स्थान[2] में (तवस्तरम्-इन्द्रम्) प्रवृद्धतम ऐश्वर्यवान् परमात्मा का (ऊतये) रक्षा के लिये (सखयः-हवामहे) हम सखा बने हुए आह्वान करते हैं स्तवन करते हैं।

मानव का सच्चा रक्षक परमात्मा है उसके सखा बन कर हम प्रत्येक सुखलाभ में और प्रत्येक प्रसङ्ग में उसका स्तवन करें स्मरण करें, क्योंकि दुःख में स्तवन स्मरण करने से दुःख की निवृत्ति या न्यूनता तथा सहनशीलता भावी दुःख से बचाव का लाभ होगा और सुख में स्तवन स्मरण करने से सुखकी वृद्धि सन्तोष तथा अनभिमान का लाभ एवं कृतज्ञताप्रकाशन बन सकेगा। "दुख में स्मरण सब करें सुख में करे न कोय। सुख में जो स्मरण करे तो दुःख काहे को होय"

ऋषिः—कुत्सः=स्तुतिकर्ता।

देवता—आत्मा=विश्वात्मा परमात्मा।

सर्वनिकट परमात्मा का न त्याग है न दृश्यवत् दर्शन, किन्तु उसका अजर अमर संसार में गुण कौशल देखना—

---

१. "वाजो बलम्" (निघं० २।९)
२. "वाजे संग्रामनाम" (निघं० २।१७)

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥

(अथर्व० १० । ८ । ३२)

(अन्ति सन्तं न जहाति) विश्वात्मा परमात्मा को निकट होते हुए कोई त्याग नहीं सकता है । परन्तु (अन्ति सन्तं न पश्यति) समीप होते हुए उसे देख भी नहीं सकता है (देवस्य काव्यं पश्य) उस विश्वात्मा परमात्मदेव क्रान्तदर्शित्व को—गुण कर्म कौशल को[1] देख (न ममार न जीर्यति) जो देव न मरता है न जीर्ण होता है ।

परमात्मा को कोई त्याग नहीं सकता उससे अलग होकर कोई कर्म नहीं कर सकता क्योंकि वह निकट है और इतना निकट है कि जिससे निकट कोई नहीं अपितु अपने आत्मा के अन्दर भी है फिर कैसे उसका त्याग कर सके वह तो आत्मा का आधार है, तथापि यह भी एक महान् आश्चर्य है कि इतने निकट होते हुए को भी उसे कोई देख भी नहीं सकता । क्यों ? निकट का आंखों में लगा सुरमा भी तो नहीं दीखा करता, फिर निकट से निकट सर्वनिकट परमात्मा को कैसे कोई देख सके, हां न दीखते हुए भी उसका काव्य—क्रान्तदर्शित्व अर्थात् गुण कर्म कौशल तो संसार में सदा देखा जाता है वस्तुतः उसके काव्य अर्थात् गुण कर्म कौशल का देखना ही उसका देखना है क्योंकि व आंखों का विषय नहीं है और फिर गुणों का देखना ही गुणी जो है उसका देखना समझा जाता है । संसार के पदार्थ जराधर्मी हैं नश्वर हैं परन्तु वह विश्व का आत्मा परमात्मा इनके जरा और नाश का प्रवर्तक

---

१. वेद में कवि शब्द शिल्पी के लिए भी आता है "सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति" (यजु० १९।८०) "ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् !" (अथर्व० ९।३।१९)

स्वयं जरा मरण से पृथक् है वह न जीर्ण होता है न मरता है अपितु संसार के पदार्थों को उत्पन्न--करना पुनः जीर्ण बनाना और नष्ट करना तो उस देव का काव्य है शिल्प है कौशल है। इसे देखना जानना ही परमात्मा का देखना जानना है। पुनः ऐसे सर्वत्र जगत् में कौशल विधाता अमर देव का त्याग तथा नश्वर दृश्य की भांति दर्शन कैसे हो सकता है ॥

ऋषि:-गौरीवीतिः शाक्त्यः=गौरी अर्थात् वाणी--वाक्-विद्या[1] में वीति व्याप्ति अर्थात् प्रवेश गति जिसकी है वह विद्यानिष्णात शक्ति में सम्पन्न वीर्यवान् ब्रह्मचर्यव्रतस्नातक ब्रह्मवर्चस्वी जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

परमात्मा के गुण पराक्रमों की स्तुति और व्याख्यान करना—

कथो नु परिचराणि विद्वान् वीर्या मघवन् मा चकर्थ ।
या चो नु नव्या कृणवः शविष्ठ प्रेदु ता ते विदथेषु ब्रवाम॥

(ऋ० ५।२९।१३)

(शविष्ठ मघवन्) हे अत्यन्त बल वाले ऐश्वर्यवान् परमात्मदेव ! (या वीर्याणि चकर्थ) जिन पराक्रमों को तूने विश्वनिर्माण में किया है (कथा-उ नु ते विद्वान् परिचराणि) कैसे ही तेरे उन पराक्रमों को जानता हुआ मैं परिचरण करूं—स्तुति व्याख्यान में लाऊं (मा च उ नु नव्या कृणवः) और जो ही तो नवीन अर्थात् उत्पन्न जगत् में रचनाकाल में अपने वीर्य बलों पराक्रमों को तू करता है तेरे (ते ता विदथेषु ब्रवाम) उन्हें ही जान ज्ञानप्रसङ्ग सभासम्मेलनों में कह सकें।

हे महापराक्रमी परमात्मन् ! मैं इस असमञ्जस में पड़ा हूं कि

१- "गोरी वाङ् नाम" (निघं० १।११)"तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गौरी वीतम्" (ऐ० ४।२)।

तू ने इस जगत् के निर्माण में जो प्रारम्भिक पराक्रम किए हैं उन्हें कैसे जान कर तेरी स्तुति करूं ? वे पुरातन पराक्रम जानने तो दूर रहे वर्तमान जगत् के अन्दर भी जो तेरे पराक्रम चालू हैं उनको ही तेरे ज्ञान प्रसारार्थ रचे सभा सम्मेलनों में कह सकें इस में भी हमारी जिह्वा हमारी वाणी हमारी योग्यता हमारी बुद्धि और हमारी विद्या इतनी नहीं है जो हम पूर्णरूप से तेरी स्तुति कर सकें। जो कुछ हम तेरे गुणों का गान पराक्रमों का व्याख्यान कर सकते हैं वह अल्प ही कर सकते हैं। इस अल्प स्तुति ही पर हमें अपनी शरण प्रदान कर हम तेरी अल्प स्तुति कर सकते हैं क्योंकि हम अल्पज्ञ हैं। तेरे पूर्व पराक्रमों को तो हम क्या जानें वर्तमान पराक्रमों को भी पूर्ण रूप से नहीं जान पाते पुनः पूर्ण स्तुति कहां कर सके, अतः अल्प स्तुति से ही दयालो ! हम अल्पज्ञों का कल्याण कर ॥

ऋषिः—वसिष्ठः=परमात्मा में अतिशय वास कर्ता जन।
देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

नाना रचना को देख रचियता की स्तुति, मनोरथरथ पर आनन्द पग रखना—

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जारितारो वसूयवो रथे न पादमादधुः ॥

(ऋ० ७।३२।२, साम० उ० ८।२।६।२)

(ते-इमे ब्रह्मकृतः) हे ऐश्वर्यवान् परमात्मन् ! तेरे ये मन्त्रकर्ता मनन करने वाले[1] स्तुतिकर्ता जन (हि) निश्चय (सुते) तेरे सुसम्पन्न होने—साक्षात् होने के निमित्त[2] (सचा) साथ (मधौ न मक्षः)

---

१. "ब्रह्म वै मन्त्रः" (शत० ७।१।१।५)

२. निमित्तसप्तमी।

मधु के निमित्त[1] मक्खियों की भांति—जैसे मधुसम्पादन करने के निमित्त मक्खियां फूलों पर जा बैठती हैं। ऐसे ही ये (आसते) बैठते हैं—तेरे आश्रित हो जाते हैं। तथा (वसूयवः-जरितारः) ऐश्वर्य के इच्छुक स्तुतिकर्ता जन[2] (इन्द्रे कामं रथेन पादम्-आदधुः) तुझ ऐश्वर्यवान् परमात्मा के ऊपर अपने इच्छाभावको—अभिप्राय को रथ में पैर रखने के समान रख दिया है-सौंप दिया है। बस काम-भाव या अभिप्राय है तो तेरा ही है अन्य वस्तु की कामना नहीं तेरी कामना है अतः तेरे अर्पित हैं।

मधुमक्खियां जैसे मधु के निमित्त फूलों पर बैठती हैं ऐसे ही मानव अपने प्यारे अध्यात्म मधु परमात्मदेव के निमित्त जगत् में नाना रचना रूपी फूलों पर स्थिर हो उस देव मधु के आश्रय में आनन्द प्राप्त करते हैं। उसी में अपनी सब कामनाएं मानते हुए स्तुतिकर्ता जन उसकी ओर ऐसे पग रखें जैसे रथ पर दृढ़ता से रखा करते हैं। वाह क्या कहना ? अमर देव का अमर मधु (अमृतमधु) और अमर रथ पर अमर स्थान। जो मानव इस मधुवाहन पर बैठ जाता है वह संसार में यात्रा करता हुआ अन्यों के लिये भी मधु को बांटता बरसाता जाता है, प्राणी मात्र को अपने मधु का प्रसाद देता जाता है। क्योंकि उसके मन से उसकी वाणी से उसके हाथ से अपितु अङ्ग अङ्ग से मधु चूता जाता है, धन्य हो ऐसा जन॥

ऋषिः—राहुगणो गोतमः=दोष वासना त्यागी वंश में उत्पन्न वाणीप्रयोग का-स्तुतिप्रयोग का इच्छुक जन।

देवता—सोमः=आनन्दप्रद परमात्मा

सार्थक यथोचित भावनापूर्ण वचनों से स्तुति करना—

---

१. निमित्तसप्तमी।

२. "जरिता स्तोता" (निघं० ३।१६)

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः ।
सुमृडीको न आ विश ॥

(ऋ० १ । ९१ । ११)

(वयं वचोविदः) हम यथोचित वचनप्रयोग जानने वाले यथार्थ स्तुति प्रयोग जानने वाले (सोम त्वा) हे आनन्दजनक परमात्मन् ! तुझे (गीर्भिः-वर्धयामः) स्तुति वचनों से प्रवृद्ध करते हैं—अपने अन्दर विशेषरूप से धारण करते हैं तथा अन्यत्र भी गुणव्याख्यान से तेरा प्रचार करते हैं (सुमृडीकः-नः-आविश) तू उत्तम सुखदाता हमारे अन्दर आविष्ट हो ।

हे आनन्दरसपूर्ण प्यारे परमात्मन् ! हम जानते हैं तेरी स्तुति करना सुगम नहीं । अहर्निश भोगविलासों में रत संसारी जनों को तेरी स्तुति का सौभाग्य कहां ? और अन्यथा स्तुति का फल भी अन्यथा होता है, यथार्थ स्तुति प्रयोग ही कल्याणकर होता है। स्तुतिवचन परिष्कृत, मधुर, सरल भावनायुक्त, नम्र, सार्थ, भावपूर्ण, श्रद्धाभरे और आस्तिक बुद्धि से सने हुए हों तो परमात्मन् ! तेरी स्तुति बनती है यह हम जानते हैं । हम यह भी जानते हैं कि स्तुतिकर्ता को प्रथम अपना हृदयमन्दिर पापों और वासनाओं से रिक्त एवं रहित कर वहां तुझे स्तुति वचनों से आह्वान करना होता है। इस प्रकार पुनः पुनः स्तुति-निवेदनों से हृदय में या अपने अन्तरात्मा में तेरा बढाना होता है । पुनः अधिकारी जनों के सभा-सम्मेलनों में तेरे गुणगान व्याख्यानों से तेरा यश फैलाना तेरा प्रचार करना भी तुझे बढाना है । तभी हे परमात्मन् !तू ऐसे स्तुतिकर्ता के आत्मा में दिव्य सुखसञ्चार करता हुआ स्थान लेता है विराजमान होता है और उसे कृतकृत्य कर देता है अतएव यह सब कुछ हम जानते हुए और स्तुति वचनों की निवेदनरीति को

समझते हुए तुझे आमन्त्रित करते हैं। प्यारे सुखस्रोत! आ हमारे अन्दर बहतासा सुखसञ्चार करता हुआ आ॥

ऋषि:—वसिष्ठः=परमात्मा में अतिशयवासकर्ता जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

मैं तेरी स्तुति करता रहूं, सार्थक ओ३म् नाम जपता रहूं—

न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्। सदा ते नाम स्वयोशो विवक्मि॥

(ऋ० ७।२२।५)

(असुर्यस्य तुरस्य ते) असुरों के शीघ्रदमनकारी[1] ऐश्वर्यवान् तुझ परमात्मा की (गिरः-विद्वान् न-अपिमृष्ये) वाणियों वेदाज्ञाओं को जानता हुआ मैं उसका विलोप न करूं (न सुष्टुतिम्) न तेरी सुन्दर स्तुति का विलोप करूं। किन्तु (सदा ते स्वयशः-नाम विवक्मि) सदा तेरा नाम जो तेरे अपने यशोमय गुणवान् स्वरूप का द्योतक ओ३म् है उसे तथा जो मेरे अपने यश का कारण है उसे विशेष जपूं—सार्थक जपा करूं।

संसार में हम संसारी जनों की विविध आज्ञाओं को शिरोधार्य करते रहते हैं केवल भौतिक स्वार्थवश, जीवन का सच्चा हित उनसे सिद्ध नहीं होता। परन्तु हे प्रतापवन् परमात्मन्! अब तो निश्चय कर लिया कि तेरी वेदाज्ञाओं के सम्मुख उनसे मुख मोड लूंगा। तेरी वेदाज्ञाओं और तेरी उत्तम स्तुति को कभी न त्यागूंगा, तेरे यशस्वि सार्थक ओ३म् नाम का जप सदा किया करूंगा। यह नाम तेरे यशोमय स्वरूप का वास्तविक द्योतक है और इसका सार्थक जप मुझे भी यशोमय बनाने का साधन है। परमात्मन्! तेरे नाम तो अनन्त गुण कर्मों के अनुसार असंख्य हो सकते हैं पर वे

---

१. "तुरः त्वरतर्वा तूरा वा तूर्णगतिः" (निरु० १२। १४।)

सब नाम आंशिक हैं और अन्य पदार्थों के भी तो हैं परन्तु स्वरूप-बोधक नाम तो केवल ओ३म् ही है जैसे कि अन्यत्र वेद में भी कहा है "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४० । १७) जो सूर्य में प्रकाशक पूर्ण पुरुष है वह मैं ओ३म् व्यापक ब्रह्म हूं। अतः मैं इस नाम का जप कभी न त्यागूं, सदा जपा करूं ॥

ऋषिः—सव्य=सव—ऐश्वर्य को पाने योग्य अधिकारी स्तोता।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

पृथिवी से द्युलोकपर्यन्त विश्व और जीव परमात्मा के अधीन है वह स्तुत्य है—

भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् काममापृण । अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे ।

(ऋ० १ । ५७ । ५)

(इन्द्र मघवन्) ऐश्वर्यसम्पन्न भगवन् परमात्मदेव ! (ते वीर्यं भूरि) तेरा पराक्रम बहुत है[1] (ते वीर्यम्-अनु बृहती द्यौः-ममे) तेरे पराक्रम के नीचे महती द्यौ—महान् द्युलोक बना-माप में आया हुआ है विस्तार पाये हुए है (च) और (इयं पृथिवी ते-ओजसे नेमे) यह पृथिवी तेरे बल के लिये[2] बल के सामने नम्रीभूत है (तव स्मसि) हम लोग तेरे हैं—तेरी शरण हैं तेरे अधीन हैं (स्तोतुः-कामम्-आपृण) मुझ अपने स्तोता—स्तुतिकर्ता की कामना को पूरा कर।

हे महैश्वर्यस्वामो महापराक्रमवान् जगदीशदेव ! यह पृथिवी

१. "भूरि बहुनाम" (निघ० ३ । १)

२. ओजो बलनाम" (निघं० २ । ६)

तेरे बल के सम्मुख नम्रीभूत हो अपने अक्ष पर झुकी हुई साष्टाङ्ग पड़ी है अपितु महान् तथा विस्तृत द्युलोक भी तेरे बल के आगे मपा हुआ तुच्छ बना हुआ हाथ जोडे सा खडा है। हम मानव या जीवात्माएं भी तेरी शरण में आकर नम्र हो अपनी कामना को प्रस्तुत कर रहे हैं। भगवन्! मुझ अपने स्तोता की कामना को अवश्य पूरा करो, कामना है पृथिवी से लेकर द्युलोकपर्यन्त विहार करता हुआ सांसारिक सुखलाभ लेता हुआ तुझे न भूलूं एवं तेरी अनुभूति करता हुआ संसार का सुखलाभ लूं पुनः तेरे साक्षात दर्शन और अमृतत्व अर्थात् मोक्षानन्द को भी पा सकूं॥

ऋषिः—अगस्त्यः=पाप का त्याग करनेवाला निष्पाप जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

उसके समान ज्ञानवान् और महान् नहीं, न उसके पराक्रम का बाधक या साधक—

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावां२ ॥ अस्ति देवता विदानः। न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध॥

(यजु० ३३।७९)

(प्रवृद्ध मघवन्) हे बढे चढे ऐश्वर्यवाले परमात्मन्! (ते-अनुत्तम्-आ) तेरा ऐश्वर्य निश्चय अबाधित है। क्योंकि (त्वावान् नु विदानः-देवता न नकिः) तेरे जैसा सच कोई भी विद्वान् देवता तो है ही नहीं (जायमानः-न नशते) उत्पन्न होनेवाला कोई जड जङ्गम तुझे व्याप नहीं सकता—रा नहीं सकवा (जातः-न) न उत्पन्न हुआ ही व्याप सकता है (यानि करिष्या) तेरे द्वारा जो किये जाने वाले कार्य हैं (कृणुहि) उन्हें तू कर। उन्हें अन्य नहीं कर सकता।

प्यारे परमात्मन्! तू निराला ऐश्वर्य वाला है, तेरा ऐश्वर्य

अक्षीण है असीम है अतएव तू महान् ऐश्वर्यवान् है निश्चय तेरे जैसा महान् और ज्ञानवान् देवता भी कोई नहीं क्योंकि सूर्य आदि तो जड हैं ज्ञानशून्य हैं ससीम हैं और चेतन देवों विद्वानों में भी तेरे जैसा कोई नहीं क्योंकि वे अल्पज्ञ हैं तथा एक देशी हैं परन्तु तू तो सर्वज्ञ है और अनन्त है फिर तेरे समान कौन ज्ञानवान् तथा महान् हो सकता है। तुझे कोई भी उत्पन्न हुआ या उत्पन्न होने वाला महत्ता तथा ज्ञानवत्ता में नहीं पा सकता—तेरी बराबरी नहीं कर सकता। न ज्ञान में न कर्म में न बल में न स्वरूप में तेरे समान कोई है। पृथिवी के अन्दर बाहिर और आकाश के तारों में सर्वत्र समस्त गतिविधि तेरे ज्ञान तेरे कर्म तेरे बल से हो रही है। प्यारे परमात्मन्! तेरे ऊपर कोई नहीं, हां समस्त संसार में जो-जो तेरे द्वारा किये जाने वाले कार्य हैं उन्हें तू कर स्वच्छन्द कर तेरी स्वतन्त्रता अबाध्य है तेरे कार्य में कोई भी न बाधक है न साधक है। बस यह तेरा अस्तित्व सब पर छाया हुआ है॥

ऋषिः—विश्वामित्रः=सर्वमित्र—सब को मित्र रूप में देखने वाला जन।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप अग्रणायक परमात्मा।

परमात्मा अपने दर्शन के प्यासे को पास लेता मित्र बनाता उसे दर्शनामृत पान कराता है—

अति तृष्टं ववक्षिथाथैव सुमना असि । प्रप्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः ॥

(ऋ० ३।९।३)

(तृष्टम्-अतिववक्षिथ) हे अग्रणायक ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! तू प्यासे को—अपने दर्शनामृत के पिपासु स्तुतिकर्ता जन को अत्यन्त वहन करना चाहता है—अतीव स्वसमीप लाना चाहता है

(अथ-एव सुमना:-असि) अनन्तर ही—और भी तू सुमति देने वाला है (येषां सख्ये श्रित:-असि) जिनके सखापन में—मित्र-भाव में स्थित होगया है जिन्होंने तेरे से अपने गुण कर्म मिला लिए हैं—पवित्र गुणों को धारण कर तुझ से नाता जोड़ लिया (अन्ये पर्यासते) सब प्यासों में अन्य प्यासे तो तेरी सब ओर विराजमान हो जाते हैं तू उनके अन्दर विराजमान हो जाता है। परन्तु (अन्ये प्रप्रयन्ति) जिनके मित्रभाव में तू स्थित नहीं हुआ जिन्होंने तेरे समान अपने गुण कर्म नहीं बनाए वे दूसरे प्यासे तो तेरे प्रति प्रगति करते ही रहते हैं-दौड लगाते ही रहते हैं, उन अव्रती निष्कर्मी जनों को तेरे दर्शनामृत का पान कहां ?।

परमात्मा स्वयं दम्भ-दर्प छल-छद्म से रहित है दूसरे के भी दम्भ-दर्प छल-छद्म को वह पसन्द नहीं करता। जो जन अपने को उसके प्यासे तो प्रसिद्ध करते हैं पर अपने अन्दर सद्‌गुणधारण कर दर्शनामृत पान के पात्र नहीं बनते उन्हें वह भली भांति जानता है तथा उनसे दूर रहता है और जो उसके सचमुच प्यासे होते हैं उन्हें वह अपने पास लेता है उनका सखापन स्वीकार करता है उनकी मित्रता में स्थिर होकर उन्हें सुमति प्रदान करता है शुभ कामनाओं को भी पूरा करता है। परमात्मा सद्‌गुणों का भण्डार है अतः सद्‌गुणी जनों को स्वीकार करता है मित्रता भी तो समानधर्मी से की जाती है। ऐसे सच्चे प्यासे, प्यास के सच्चे पात्र तो उसके समीप स्थान पाते उसके दर्शनामृत से अपनी प्यास बुझाते ही हैं और जो उसके सच्चे प्यासे नहीं किन्तु ऊपर से अपने को उसके प्यासे प्रदर्शित करते हैं वस्तुतः प्यास है संसार के भोगविलासों की वे वहां कभी नहीं पहुंच सकते वे तो इधर उधर ही भटका करते हैं। कहा भी है "जिन खोजा तिन पाईयां गहरे पानी पैठ, प्यारे न जिन खोजियां रहे किनारे बैठ।" अतएव ओ प्यारे प्रभो! हमारे अन्दर भोगविलासों की प्यास न उठे किन्तु तेरी प्यास—तेरे

दर्शनामृत की प्यास हो, हम तेरे मित्र तेरे स्नेही बनकर तेरे पास आकर तेरे दर्शनामृत से अपनी प्यास बुझाएं ।।

ऋषि:—पराशर:=पर को न दु:ख पहुंचाने वाला स्वयं तपस्वी जन ।

देवता—अग्नि:=अग्रणायक ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा ।

हार्दिक स्तुतियों से परमात्मा दिव्यसुखसम्पत्तियां देता है ।—

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान् धाद् गुहा निषीदन् । विदन्तीमत्र नरो धियन्धा हृदा यत्तष्टान् मन्त्राँ अशंसन् ।।

(ऋ७ १।६७।२)

(गुहा निषीदन्) हृदय में विराजमान हुए ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा ने (विश्वानि नृम्णा हस्ते दधानः) मानव के लिए समस्त धनों[1] सुखसम्पत्तियों को अपने हाथ में अपने सामर्थ्यरूप हाथ में धारण करने के हेतु (अमे देवान् धात्) निज बल सामर्थ्य के अन्दर—अपने शासन में[2] दिव्य पदार्थों–दिव्य शक्तियों को शरीर में स्थिर किया । परन्तु (धियन्धा:-नर:-अत्र-ईं विदन्ति) बुद्धिमान् अथवा धारणा ध्यान करने वाले जन इस जीवन में उन ईश्वरीय सुखसम्पत्तियों को प्राप्त करते हैं (यत्-हृदा तष्टान् मन्त्रान्-अशंसन्) कि जो हृदयस्थ भावना से सम्पादित मन्त्रों अर्थात् स्तुतिवचनों स्तुतिविचारों को परमात्मा की स्तुति में प्रकट करते हैं उनके द्वारा परमात्मा की स्तुति करते हैं ।

स्तुतिकर्ता जन के लिए परमात्मा दिव्य धन सम्पत्तियां लिए हुए हृदयगुहा में विराजमान है परन्तु वह देता तब है जब कि

---

१. "नृम्णं धनम्" (निघं० २।१०)

२. "अमं बलम्" (निरु० १०।२१)

ज्ञानवान् ध्यान में सावधान होकर हृदय से स्तुतिवचन प्रेरित करता है प्रकट करता है। जो जन हृदय से परमात्मा की स्तुति करता है उसे निःसन्देह वह निहाल करदेता है, निहाल करना परमात्मा के हाथ में है परन्तु पात्र बनना तो स्तोता का कर्तव्य है। हृदय से और ज्ञानपूर्वक स्तुति करने से ही मनुष्य परमात्मा की स्तुति करने का और उस की कृपा का पात्र बनता है। ऊपर की स्तुति और अज्ञानपूर्वक स्तुति या अन्यथा स्तुति से नहीं। एवं श्रद्धा और ज्ञान के साथ ही हुई स्तुति का फल ईश्वर देता है अन्य का नहीं॥

ऋषिः—काण्वो वत्सः=मेधावी कुल का वक्ता जन।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा।

स्तुतिद्वारा परमात्मा का स्वरूप अपने अन्दर धारण किया जाता है।

आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित्सधस्तात्।

अग्ने त्वां कामया गिरा॥

(ऋ० ८।११।७)

(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (वत्सः परमात् चित् सधस्तात्) तेरे गुणों के वक्ता[1] स्तुतिकर्ता ने परम सहस्थान मोक्षपद से भी (त्वां कामया गिरा) तुझे चाहने वाली वाणी से स्तुति से (ते मनः-आयमत्) तेरे मननीय स्वरूप को स्वात्मा में आयत कर लिया—धारण कर लिया है।

प्यारे ज्ञानप्रकाशस्वरूप अग्रणायक अन्तर्यामिन् परमात्मदेव! यद्यपि तू सर्वत्र व्यापक है परन्तु कैवल्यदृष्टि से तो तेरा स्थान तेरे समागम का सदन मोक्षपद ही है क्योंकि संसार में मैं कितना भी भटकूं दौड़ लगाऊं वहां तो मैं तुझे पा नहीं सकता, इस प्रकार तेरा स्थान संसार से परे है परन्तु उस कैवल्यपदरूप परम स्थान

---

१. वद+सः=वत्सः "वृतॄवदि...सः" (उणा० ३।६१)।

से भी जो तेरे साथ समागमार्थ आत्मा का स्थान हृदय भी तेरा सामान्य या अवर स्थान बन जाता है अतएव वहां तेरे उस परम स्थान मोक्षपद से प्रसृत हुए या सम्प्राप्त हुए तेरे मननीय स्वरूप को तेरी स्तुति के वक्ता ने तुझे चाहनेवाली स्तुति से उस हृदयरूप निज स्थान में बैठे हुए भी अपने अन्दर धारण कर लिया या धारण कर लिया करता है क्योंकि अपने स्तुतिकर्ता का आवेदन भी तो तुझे स्वीकार करना ही होता है। उसे स्वीकार करना ही तेरे स्तुति-कर्ता के आवेदन का बल या फल है पर जो आन्तरिक भाव से तेरी सच्ची स्तुति करता हो। अतएव मेरे प्यारे परमात्मदेव! मैं तेरी स्तुति करता हूं तुझे चाहने के लिए अन्य भौतिक चाह के लिए नहीं, इसलिए मुझे अपने परम स्थान मोक्षधाम में जब तक साथ नहीं लेता तब तक तू कृपा कर मेरे सदन में हृदय में आ॥

ऋषिः—काण्वो वत्सः=मेधावी कुल में उत्पन्न वक्ता स्तुति-कर्ता जन।

देवता—इन्द्रः-ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

स्तुति वचनों से अन्तरात्मा में परमात्मा साक्षात् होता चला जाता है—

महां इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमानिव।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे॥

(ऋ० ८।६।१, अथर्व० २०।१३८।१)

(यः-महान्-इन्द्रः) जो महान् ऐश्वर्यवान् परमात्मा है वह (वत्सस्य स्तोमैः) वक्ता विद्वान् के स्तुतिवचनों से—स्तुतियों से (वृष्टिमान् पर्जन्यः-इव) वृष्टिवाले—वृष्टिजलभरे मेघ की भांति (ओजसा वावृधे) कान्तिमय स्वरूप से स्तुतिकर्ता के आत्मा में प्रवृद्ध होता है।

स्तुतिकर्ता विद्वान् के स्तुतिवचनों से उसके अन्तरात्मा में

परमात्मा अपने ज्ञान शान्ति आदि गुणों से ऐसे बढ़ बढ कर साक्षात् होता आता है जैसे वृष्टिजल से युक्त बढ़ता हुआ मेघ आता है। तब वह परमात्मा अपने स्तोता के समस्त दुःख सन्ताप को हरता है सुखसम्पत्ति को वरसाता है, स्तोता का आत्मा भी सुख शान्ति से आप्लावित हो जाता है जैसे किसान का आत्मा वृष्टिजल-भरे मेघ के बरसने से वह कृतार्थ हो जाता है॥

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः=जन्मजन्मान्तर की दौड़ के गर्त-शरीररूपगर्त में आया हुआ इन्द्रियविषयलोलुप भोगी शरीरी आत्मा।

देवता—वरुणः=वरने योग्य परमात्मा।

चञ्चल मन को परमात्मा की स्तुतियों से साध उसकी ओर चलना होता है—

वि मृडीकाय ते मनो रथीरश्वं न सन्दितम्।
गीर्भिर्वरुण सीमहि॥ (ऋ० १।२५।३)

(वरुण) मेरे वरने योग्य—वरणीय परमात्मन्! (मृडीकाय ते) तुझ सुखस्वरूप आनन्दरूप के लिये तुझे पाने को तेरी ओर चलने के लिये (रथीः-सन्दितम् अश्वं न) रथवान् उत्खण्डित-उत्खण्ड हुए—विचल चञ्चल हुए घोड़े[1] को बान्धता है—लगाम बन्धनों से बान्धता है ऐसे ही (मनः-गीर्भिः-वि सीमहि) हम अपने चञ्चल मन को स्तुतियों से—तेरी स्तुतियों से विशेषरूप में बान्धते हैं।

सुखस्वरूप आनन्दरूप परमात्मा के लिये चञ्चल मन को उधर ले चलना ऐसा ही है जैसे चञ्चल उद्दण्ड घोड़े पर चढ़कर किसी सुरम्य उद्यान (बाग) की ओर जाना है। उद्दण्ड घोड़ा स्वाधीन होकर अभीष्ट यात्रा की ओर चलाया जा सकता है है लगाम

---

१. "दो अवखण्डने" (दिवादि०)

आदि बन्धनों के द्वारा। इसीप्रकार चञ्चल मन को भी परमात्मा की ओर चलाया जा सकता है परमात्मा की स्तुतियों के द्वारा। परमात्मा की स्तुतियां ही मन घोड़ेकी लगामें हैं जो उसे इधर-उधर भटकनेसे रोक कर परमात्मा की ओर चलाती हैं। मन को स्तुतियों में लगाना अभ्यास है और स्तुतिरूप गुणों में लक्षित परमात्मा का मनद्वारा चिन्तन वैराग्य-पर वैराग्य है। जिस मन में परमात्मा की स्तुति नहीं वह मन स्थिर शान्त और निर्मल निर्दोष नहीं हो सकता। आओ अपने इस मन घोड़े को परमात्मा की स्तुतियों के द्वारा परमात्मा की ओर ले चलें ॥

ऋषिः—आङ्गिरसो हिरण्यस्तूपः=प्राणविद्यानिष्णात सुनहरी भावनाओं का उच्च स्थानवाला ऊंची योगभूमिवाला अभ्यासी जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

यथार्थ स्तुतियों से परमात्मा को प्राप्त किया जाता है—

उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि।
इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन् ॥ (यजु० १।३३।२)

(अहं धनदाम्-अप्रतीतम्-इन्द्रम्) मैं धनदाता विश्व के अन्दर निहित ऐश्वर्यवान् परमात्मा को (उपमभिः-अर्कैः-नमस्यन्) समीप से मापनेवाले--समीप से मेल खानेवाले--यथार्थ अर्चन स्तोत्रों से नमस्कार करता हुआ—स्वसमर्पण करता हुआ (श्येनः-जुष्टां वसतिम्-उपपतामि-इत्) श्येन पक्षी जैसे सेवित वास—घोंसले को पहुंचता है उसी प्रकार मैं पहुंच जाता हूं (यः स्तोतृभ्यः-यामन् हव्यः-अस्ति) जो परमात्मा स्तुतिकर्ताओं के लिये इस जीवनयात्रा में प्राप्तव्य है।

मानव की जीवनयात्रा का प्रप्तव्य स्थान विविध धनदाता ऐश्वर्यवान् परमात्मा है, जिसके विना इसकी यात्रा निष्फल है। उस विश्व के अन्दर व्यापक परमात्मा की मैं यथार्थ अर्चना स्तोत्रों-

स्तुतिवचनों से नम्रीभूत हुआ ऐसे प्राप्त होता हूं जैसे भास (बाज) पक्षी अपने प्यारे घोंसले की शरण लेता है। वस्तुतः मानव का सच्चा आश्रय या परम शरण परमात्मा ही है, अज्ञानवश यह अपना डेरा इधर उधर डालता रहता है, पर वह पुनः पुनः डेरा डालते रहना और उखाडते रहना इसकी जीवनयात्रा में तबतक वन्द न होगा जब तक अपने प्राप्तव्य स्थान परमात्मा पर नहीं ठहर जाता उस पर स्थिर मन हो बैठ नहीं जाता। पर उस पर स्थिर तो तब ही होगा जब कि यथार्थ स्तुतिवचनों से उसे जबतक पा लेवे न, पाने का उपाय यथार्थ स्तुति और स्वात्मसमर्पण है॥

ऋषिः—नारायणः=नरों के समूह—समाज का अयन नेता अग्रगण्य श्रेष्ठ आस्तिक जन।

देवता—पुरुपः (ब्रह्मप्रकाशनम्)=सृष्टि में पूर्ण परमात्मा या, परमात्मा का प्रकाशन अर्थात् निरूपण करना।

शरीररचयिता की आश्चर्यरूप में स्तुति—

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं सम्भृतं केन गुल्फौ। केनाङ्गुलीः पेशनीः के खानि केनो-च्छलङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥

(अथर्व० १०।२।१)

(पूरुषस्य पार्ष्णी केन-आभृते) मनुष्य की एडियां किसने आभरी बाहिर को उभारी (मांसं केन सम्भृतम्) उनके ऊपर मांस किसने जमाया (गुल्फौ केन) टखने किसने इधर उधर रखे (पेशनीः-अङ्गुलीः-केन) पोरुओंवाली अंगुलियां किसने बनाई (खानि केन) छिद्रों को किसने (उच्छलङ्खौ केन) तलवे किसने (मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्) दोनों एड़ी और तलवों के बीच खड़े होने की हड्डी किसने रखी है।

मनुष्य को दो पैरों पर खड़ा करने के लिये एड़ियां और पंजे तलवे टखने तथा बीच में हड्डी किसने जोड़ी मांस और नाड़ियों से मढ़ी हैं। यह खड़े होने का प्रकार मनुष्य का किसने निर्माण किया, यह रचना दो पैरों पर खड़े होनेवाले बोर्ड की भांति है। परन्तु इसमें विशेषता यह है कि बोर्ड तो खड़ा ही रहता है मनुष्य तो इच्छानुसार बैठ सकता है खड़ा भी हो सकता है और चल भी सकता है आवश्यक कार्य भी कर सकता है । तथा समस्त शरीर में से पसीना आदि मल दूर करने को रोमछिद्र किसने बनाए हैं। जोडोंसहित अंगुलियां किसने बनाई, जोड़ों से अंगुलियां मुड़ सकती हैं अंगुलियां चलते हुए शरीर को गिरने से फिसलने से रोकती हैं, हाथों की अंगुलियों से बोझ उठना पकड़ना आदि कार्य बनता है ॥

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—पूर्ववत् ।

शरीरचयिता की आश्चर्यरूप में स्तुति—

हन्वोर्जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् । स आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥

(अथर्व० १०।२।७)

(हन्वोः पुरुचीं जिह्वाम्-अदधात्) दोनों जबड़ों के अन्दर बहुत प्रगति करनेवाली—स्पन्दनस्वभाववाली चञ्चला जिह्वा को धरता है—स्थापित करता है (अध महीं वाचम्-अधिशिश्रयाय) पुनः उसने जिह्वा में वाणी [1] बोलने की शक्ति को आश्रित किया-रखा (सः-अपः-वसानः-भुवनेषुः-अन्तः-आवरीवर्ति) वह कर्म को

१. "मही वाङ् नाम" (निघं० । ११)

विश्वनिर्माणक्रिया को[1] अथवा अप्तत्त्व अर्थात् परमाणु-समूह को फैलाता हुआ लोकलोकान्तरों के अन्दर आवर्तमान हो रहा है[2] व्याप रहा है (कः-उ तत्-चिकेत्) कौन उसे जाने ?।

ईश्वर ने दोनों जबड़ों के बीच में जिह्वा जैसी विचित्र बहुत व्यापार करनेवाली रखी है ? और उसके अन्दर बोलने की शक्ति को स्थापित किया है, कार्य करते हुए हाथ थक जावें चलते हुए पैर थक जावें देखते देखते आंखें थक जावें और सोचते सोचते मन भी थक जावे पर यह जिह्वा बोलते बोलते नहीं थकती नाना प्रकार की चेष्टाओं से भांति भांति का वर्णोच्चरण करती भांति भांति के स्वर तान भरती गीतसङ्गीत मधुर वचन बोलती भाषण कथा सुनाती और इष्टदेव की स्तुति कर करके रिझाती है । इस ऐसी जिह्वा को जिसने बनाया वह लोकों में व्यापक है परमाणुप्रवाह में भी वसा हुआ है उसे विरला जन ही पाता है उसे जानकर उसकी स्तुति में इस जिह्वा को लगाना चाहिए ॥

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—पूर्ववत् ।

शरीर की अङ्गरचना को देख रचियता की स्तुति करना ।

को अस्मै वासं पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥

(अस्मै वासः कः पर्यदधात्) इसके लिये खालरूप आच्छादन वस्त्र किसने पहिनाया (अस्य-आयुः कः-अकल्पयत्) इसका आयु किसने कल्पित किया—इसमें जीवन किसने डाला (अस्मै बलं कः प्रायच्छत्) इसके लिये बल किसने दिया (अस्य जवं कः-

१. "अपः कर्मनाम" (निघं० २ । १)

२. बसानः-वासयमानः । अन्तर्गतो णिजर्थः ।

अकल्पयत्) इसके अन्दर कार्य में प्रवेशार्थ साहस तथा गमन प्रवृत्ति को किसने निश्चित किया ।

मनुष्य आदि का शरीर हड्डियों का पञ्जर है इस पर मांस चढा है मांस पर खालरूप वस्त्र या चादर कैसी विचित्र एवं आश्चर्य-जनक निर्माता देव ने चढाई कि जिसने प्रत्येक हड्डी और मांस को ढक कर सुन्दररूप दे दिया । कहीं से थोड़ी भी खाल हट कर मांस का दीख पड़ना या हड्डी का बाहिर आ जाना कितना बीभत्स लगता है । यह खाल नैसर्गिक सदा शरीर के साथ रहने वाला विचित्र कुर्ता या कोट है जो जन्म से लेकर बालक की आयुवृद्धि के साथ-साथ बढ़ता चला जाता है हड्डियां बढ़ती हैं मांस बढ़ता है नाड़ी बन्धन बढ़ते हैं इन सब बढते हुओं को अन्दर छिपाए हुए यह खालरूप वस्त्र भी बढता जाता है यह ऐसा आश्चर्यजनक खिलोना किसने बनाया किसने खाल में लिपटे पञ्जर को जीवन दिया कौन इस खाल से लिपटे पञ्जर को खड़े हो जाने चलने फिरने का बल और साहस देता है, ऐसा देव कोई है उसे जानना मानना और कृतज्ञ हो उसकी स्तुति करना चाहिए ॥



---

*—सब ओर नेत्र मुख बाहु पैर की व्याप्तशक्तिवाले परमात्मा ने विश्व के ऊपर नीचे में व्याप्त अपनी हस्तपाद शक्तियों से उसे विस्तार दिया (पढो—"विश्वतश्चक्षु···" पृष्ठ १०३)

❀—

ऋषि:—कुत्स:=स्तुतिकर्ता ।

देवता—आत्मा=विश्व का आत्मरूप परमात्मा ।

परमात्मा अकाम धीर स्वाधार आनन्दमय और पूर्ण है—

अकामो धीरो अमृत: स्वयम्भूरसेन तृप्तो न कुतश्चनोन: । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

(अथर्व० १० । ८ । ४४)

❀—अनन्त ज्ञान दर्शन गति शक्ति वाले ने भुवन को घेर कर एकांशरूप में रखा हुआ है (पढ़ो—"सहस्रशीर्षा··· पृष्ठ १०९)

हिमालय, नदियां, समुद्र, और दिशाएं जिसकी महिमा दर्शा रहे हैं उस परमात्मदेव की स्तुति करें (पढ़ो–"यस्येमे हिमवन्तो...पृष्ठ १३९)

विश्व परमात्मा के सम्मुख एकपाद, वह स्वयं इससे महान् त्रिपाद्रूप है वह अपने एकपादरूप जड़ जङ्गम जगत् में व्याप्त है (पढ़ो—"त्रिपादूर्ध्व...पृष्ठ ११३)

सृष्टि से पूर्व परमात्मा था, वह अकेला ही द्यावापृथिवीमयी सृष्टिको धारण किए हुए है उसकी स्तुति करें (पढो–"हिरण्यगर्भ ..."पृष्ठ०१३६)

परमात्मा इस जगत् का स्वामी व्यापक इसका नियन्ता कर्ता है उसकी स्तुति करना चाहिए (पढो —"ईशावास्य..." पृष्ठ १५७)

परमात्मा अचलायमान एकरस अन्य वेग वालों को भी विभुगति से लांघने वाला है (पढो —"अनेजदेकं मनसो..." पृष्ठ १६४)

परमात्मा विभुगतिवाला, एकदेशी गतिवाला नहीं, दूर भी है समीप भी है जगत् के अन्दर भी है बाहिर भी है (पढ़ो—" तदेजति····" पृष्ठ १६६)

परमात्मा सर्वत्र व्यापक है काय आदि से रहित है सर्वत्र सर्वस्वामी यथार्थ विधाता है (पढो—" पर्यगाच्छुक्रम..." पृष्ठ १७०)

(अकामः-धीरः-अमृतः-स्वयम्भूः-रसेन तृप्तः-न कुतः-चन ऊनः) परमात्मा कामपाश से रहित निष्काम, धैर्यवान्, सदा अमर-मरण-त्रासरहित, स्वयं सत्ता से विराजमान, आनन्द से पूर्ण—किसी प्रकार न्यूनतावाला नहीं (तं धीरम्-अजरं युवानम्-आत्मानम्-एव विद्वान्) उस धीर अजर सदा युवा परमात्मा को ही जानता हुआ (मृत्योः-न बिभाय) मृत्यु से नहीं डरता है।

अकाम धीर स्वयम्भू अमर आनन्दस्वरूप परमात्मा को मानव न जान कर संसार में भटकता रहता है, कामवश हो अपनी कामनाओं की पूर्ति में सङ्कट झेलता है और कामपूर्ति न होने पर अधीर हो जाता है उस अधीरता में कभी हृदयगतिभङ्ग (हार्टफेल)हो जाता है कभी आत्महत्या तक कर लेता है, नश्वर पदार्थों में रागी बन इनके नाश के साथ अपने को नष्ट हुआ समझता है कोठी को आग लगी हाय मैं मर गया डाका पड गया हाय मैं मर गया बन्धु का प्राणान्त हो गया हाय मैं मर गया इत्यादि स्वयं आघात ले अकाल मृत्यु का ग्रास बन जाता है। भोगों में तृप्ति को चाहता हुआ तृप्त तो नहीं होता किन्तु कामाग्नि में भस्मसात् हो जाता है क्योंकि "न जातु कामः कामांनामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥" (मनु० २।७४) कामनाओं के भोगते रहने से कामना शान्त नहीं होती किन्तु कामाग्नि बढ़ती ही जाती है जैसे घृताहुति से अग्नि बढ़ती ही जाती है। "समुद्र इव हि कामो नापि कामस्यान्तो ऽस्ति न समुद्रस्य" समुद्र के समान कामभाव महान् है न ही कामभाव का अन्त है न समुद्र का। वेद में अन्यत्र कहा है "कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः । पितरो न मर्त्याः।" (अथर्व० ९।२।१९) सृष्टि में प्रथम सबके सम्मुख कामभाव आया इसे न देव पूरा कर सके न पितर न मनुष्य। परन्तु जो मानव उस अकाम आदि विशेषणयुक्त परमात्मा को जानते हैं वे मृत्यु के भय को पार कर जाते हैं और उस ऐसे परमात्मा के सङ्ग से निष्काम आप्तकाम

वन जाते हैं पूर्ण धैर्य को प्राप्त करते हैं पुनः अपने अमरत्व का अनुभव कर लेते हैं और ब्रह्मानन्द से आप्लावित हो जाते हैं ॥

※ (क)—

इस प्रकरण का सार—

परमात्मा जगत् तथा जीवात्माओं का स्वामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, महापराक्रमवान्, सर्वमहान्, पूर्ण, सर्वाधार, स्वाधार, अकाम आनन्दमय तथा असंख्य दान का दाता, अक्षय कोष है। उसके गुण कर्म कौशल एवं नियमों को जगत् में उसके प्रति आस्तिक भाव रखते हुए मन को साध दुग्ध-भरी गौओं की भांति आत्म-समर्पण कर हृदय से अन्तरात्मा से सार्थ स्तुति वचनों और सार्थक ओ३म् का जप करने पर अन्तरात्मा में परमात्मा प्रकाशित एवं साक्षात् होता है वह स्तुतिकर्ता के ऊपर सच्चे सुख की वृष्टि करता है और जीवन को आनन्दपूर्ण बना देता है। इस प्रकार स्तुतिकर्ता उस परमात्मा को अपने लिये मधुरूप में पाकर जीवन को सफल बनाता है और मृत्यु के भय से परे हो जाता है ॥

उपासना में ईश्वर—

※ (ख)—

ऋषिः—प्रगाथः (घौरः) काण्वः=तपस्वी मेधावी वंश में उत्पन्न या व्युत्पन्न ईश्वर का प्रकृष्ट गान करने वाला उपासक।

---

* (क)—परमात्मा ही इस वर्तमान भूत और भविष्य में होनेवाले जगत्का तथा जीवात्माओं का और मोक्ष का स्वामी है (पढो—"पुरुष-एवेदं···" पृष्ठ १११)

प्रकाशमान सूर्य का प्रकाशक उसमें निहित हैं जो व्यापक ब्रह्म ओ३म् नाम से प्रसिद्ध है (पढो—"हिरण्ययेन पात्रेण···" पृष्ठ १८१)

* (ख)—प्रतिदिन प्रातः सायं परमात्मा की उपासना द्वारा अपना समर्पण करना (पढो—"उप त्वाग्ने दिवे दिवे···" पृष्ठ ६)

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा ।

परमात्मा को किसी बहुमूल्य वस्तुके भी बदले में नहीं त्यागना—

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।

न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥

(ऋ० ८ । १ । ५)

(शतामघ-अद्रिवः-वज्रिवः) असंख्य धन सुख सम्पत्तिवाले, हे सुखवृष्टि पूर्ण मेघवाले, हे सृष्टि के शासनरूप हाथ वाले परमात्मन् ![1] (त्वां महेचन शुल्काय) तुझ धनदाता सुखवृष्टिकर्ता सृष्टिशासक को महामूल्य के लिये अर्थात् (शताय न परादेयाम्) सौ बहुमूल्य वस्तुओं के बदले में न त्यागूं । तथा (सहस्राय न) सहस्र बहुमूल्य वस्तुओं के बदले में न त्यागूं । अपितु (अयुताय न) लाख बहुमूल्य वस्तुओं के बदले में न त्यागूं । इस प्रकार किसी भी बहुमूल्य वस्तु के बदले में न त्यागूं ।

आज का मानव बड़ा दुर्भागी है कि उसने पैसे से बहुत प्यार बढा रखा है । दिन रात पैसे के पीछे पड़ा रहता है परमात्मा की चर्चा तो आज के युग में उसे भाति नहीं, दिन प्रति दिन सौजन्य सद्भाव से दूर होता जा रहा है भ्रष्टाचार का बोलबाला है । क्यों ? जब ईश्वर से प्यार नहीं तो सौजन्य सदाचार फिर कैसे । तब भ्रष्टाचार का राज्य होना ही था । कोई विरला जन ही ईश्वर से प्यार करनेवाला मिलता है तो लोग उसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखते । उसका उपहास करते हैं परन्तु उन्हें यह पता नहीं कि सांसारिक धन-सम्पत्ति एक के पास सदा नहीं रहती है और फिर रहती भी यहां ही है अन्त समय में कुछ भी सहायक नहीं बनती साथ नहीं देती । पुनः जीवनकाल में इस नश्वर के साथ ही तो आत्मा का सम्बन्ध नहीं

१. "वज्रः शासः" (शत० ३।८।१।५)

है। पुनः विचारे ! वास्तविक सम्बन्ध का पात्र या सच्चा साथी चेतन आत्मा का चेतन परमात्मा ही हो सकता है, उसे तो मैं बस सौ बहुमूल्य क्या सहस्र बहुमूल्य क्या लक्ष बहुमूल्य क्या किसी भी बहुमूल्य वस्तु के भी बदले में नहीं दूंगा क्योंकि उसके त्यागने पर तो मानव जीवन का कुछ भी मूल्य नहीं रहता अपितु यह निःसार पशु पक्षी के समान ही मानवताहीन हो जाता है। अतः हे परमात्मन् ! सब धनों के दाता बडे धनी सब सुख शान्ति के वर्षक विधाता सब के शासक सब पर राज्यकर्ता तेरी शरण में तेरे समागम में सब धन सब सुख शान्ति और सब साम्राज्य है, प्रभो ! मैं तुझे कभी न त्यागूं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः=गाथा—वाक् गाने योग्य वाक् छन्दोमय वाक् वेदवाक्[1] गाथिन्—गाथी वेदाचार्य, गाथि–विद्यास्थान –विद्यालय गुरुकुल, गथिनः—वेदाचार्य का शिष्य या गुरुकुल में रहने वाला पढने वाला विश्वामित्र–सर्वमित्र किसी भी वर्ण से पक्ष न रखने वाला सब से समान सम्बन्ध वाला ब्रह्मचारी[2]।

देवता—सविता=प्रेरक बुद्धि आदि एवं ज्ञान का प्रेरक ज्ञानप्रकाशक परमात्मा।

सर्वथा रक्षक, सर्वथा शरण्य, प्राणरूप, दुःखनिवारक, सुखप्रद, ज्ञानप्रेरक परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना—

---

१. "गाथा वाङ्नाम" (निघ० १ । ११)
"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।" (यजु० २६ । २)

२. ब्रह्मचारी का किसी वर्ण से पक्ष नहीं होता है वह स्नातक बन कर ही योग्यतानुसार वर्ण स्वीकार करता है पूर्व नहीं अतएव उसे वर्णी कहा जाता है।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् ।
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(ऋ० ३ । ६२ । १०, यजु० ३ । ३५, साम० ६ । ६ । १०)

विज्ञप्ति—इस मन्त्र की अति महिमा है, शास्त्रीय दृष्टि से इसकी महिमा या विशेषता चार त्रिकों में है । प्रथम त्रिक में ऋषि, देवता, छन्द के कारण विशेषता है । दूसरे त्रिक में आध्यात्मिक जीवन के स्तुति प्रार्थना उपासना रूप तीनों अङ्गों के यहां विद्यमान होने से है । तीसरे त्रिक में 'भूः-भुवः-स्वः' इन तीन महा व्याहृतियां ईश्वर के सम्बन्ध में महती विशेष आहरण—अन्तरात्मा में आधान करने योग्य भावनाएं हैं । चौथे त्रिक में ईश्वर के वाचक 'ओ३म्-ओम्' की 'अ–उ–म्' तीन मात्राओं के कारण से विशेषता है। इस प्रकार इस मन्त्र में चारों त्रिकों में १२ शास्त्रीय विशेषताएं या महिमाएं हैं ।

(ओ३म्) परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट तथा निज नाम । यह नाम अन्य किसी वस्तु का नहीं है केवल परमात्मा का ही नाम वेदशास्त्रों में कहा गया है[1] आध्यात्मिक क्षेत्र या अध्यात्मविद्या में इसे 'अ-उ-म्' के रूप में देखा जाता है जिसकी व्याख्या 'माण्डूक्योपनिषद्' में की है[2] । शाब्दिक दृष्टि से यह 'अव' धातु से बना है 'अव' धातु के रक्षण आदि १८ अर्थ हैं प्रधान अर्थ यहां रक्षण है, अतः ओम् का शाब्दिक अर्थ रक्षणकर्ता हुआ । संसार में जितने

१. "ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४० । १७)
"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति ... तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" (कठोपनिषद् १ । २ । १५)

२. यहां विस्तारभय से वह अर्थ नहीं देते हमारे लिखे "उपनिषद्-सुधासार" पुस्तकान्तर्गत "माण्डूक्योपनिषद् दीपिका" में देखें ।

भी रक्षक हैं उन सबसे अधिक तथा सर्वदा और नितान्त रक्षक परमात्मा। माता रक्षा करती है पिता रक्षा करता है गुरु रक्षा करता है मित्र रक्षा करता है राजा रक्षा करता है और घर रक्षा करता है परन्तु परमात्मा इन सबसे अधिक रक्षा करता है। अतः उसे परम माता परम पिता परम गुरु परम सखा परम राजा परम आश्रय कहते हैं। मानव सहारा चाहता है परन्तु परम सहारा परम आलम्बन परमात्मा ही है[१]। (भूः) स्वयं सत्ता से वर्तमान अन्य सत्तावान् का भी आधार उसे स्वाधीन सत्तावान् रूप में रखनेवाला, प्राण की भांति जड़ जङ्गम का आधार एवं जीवनदाता विशेषतः मानव का प्राणरूप परमात्मा। प्रत्येक मानव जीना चाहता है परन्तु भौतिक प्राण के आधार पर यह जीना कब तक सौ सवासौ वर्ष तक ही है पुनः था में कहा जावेगा कि अमुक था, तब इस था का क्या मूल्य भौतिक प्राण के साथ का यह समय तो चार अर्ब वर्ष में अत्यल्प है यह स्थिति तो ऐसी है जैसे अग्निपुञ्ज से चिनगारी निकली क्षण भर चमकी क्षण में बुझ गई। मानव की आन्तरिक भावना है मैं न मरूं यह आकांक्षा तो नैसर्गिक है किसी अमरत्व को सूचित करती है सो वह है परमात्मा को प्राण बनाकर पाना और फिर मैं बिना मेरे के नहीं रह सकता यह दर्शन का सिद्धान्त है जैसा मैं वैसा मेरा। जबकि मैं शरीर से भिन्न चेतन नित्य अमर हूं तब अमर परमात्मा मेरा आश्रय है प्राण है (भुवः) अवकल्कित करनेवाला, कल्क—मल दुःखदोषसे अलग करनेवाला[२] जगदीश। अन्तरात्माके कल्क दुर्वासना दुःसङ्कल्प मानस ताप और अशान्ति है उन्हें पृथक् कर देने वाला उसके सङ्ग से ये दूर हो जाते हैं। जैसे मानव जीना चाहता है पर दुःखरहित जीना चाहता है इसी प्रकार प्राणरूप परमात्मा जहां

---

१. "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्" (कठो० १।२।१७)
२. "भुवः-अवकल्कने" (चुरादि०)

अमर जीवन देता है साथ ही दुःख मानस ताप और अशांतिसे रहित करके अमर जीवन बनाता है (स्वः) सुखस्वरूप परमात्मा मानस कल्याण एवं आत्मशांति, मोक्षरूप परमानन्द का दाता है । मानव जीना चाहता है और दुःखरहित जीना चाहता है पर साथ ही सुख-सहित जीना चाहता है, अन्यथा रोगी का रोग-दुःख दूर हो जाने पर दुःख से तो बचा, जीवन में कान्ति स्फूर्ति उल्लासरूप सुख भी तो चाहता है वह तो रसायन से सात्त्विक आहार से प्राप्त होगा अतः सुखस्वरूप परमात्मा सुखप्रद भी है । भौतिक सुख तो क्षणिक है नितान्त स्वाधीन नहीं पर परमात्मा तो नितान्त सुखरूप अपने में रमण कर जाने वाला स्वाधीन सुखरूप है[1] (सवितुः-देवस्य) उत्पादक प्रेरक ज्ञानप्रकाशक अपने इष्टदेव परमात्मा[2] के (तत्-वरेण्यं भर्गः) उस प्रसिद्ध वरनेयोग्य जो वरा जासके तथा अवश्य वरणीय जिसे वरना ही चाहिए बिना वरे मानव का कल्याण नहीं ऐसे पाप अविद्यान्धकार के नाशक शुद्ध ज्ञानमय तेज को[3] तथा जड़ जङ्गम के प्रकाशक रञ्जक संस्थापक शुभ्र तेज को[4] (धीमहि) हम धारण करें ध्यावें[5] अपनावें (यः) जो (नः-धियः) हमारी बुद्धियों प्रज्ञानों धारण-

---

१. स्वः-स्वर्-स्व-र् स्वस्मिन् रमते—इति स्वर् स्वः । अपने में रमण कर जाने वाला ।

२. "सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्य" (सायणः०) "विज्ञानानन्दस्वभावस्य ब्रह्मणः" (उव्वटः)

३. "अविद्यातत्कार्ययो र्भर्जनाद् भर्गः" (सायणः)
"भर्गः—भ इति भासयतीमान् लोकान् र इति रञ्जयतीमानि भूतानि ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद् भरगत्वाद् भर्गः" (मैत्र्युपनिषद् ६ । ७)

४. यहां तक स्तुतिभाग ।

५. यह उपासनाभाग ।

शक्तियों मन बुद्धि चित्त अहङ्काररूप को[1] (प्रचोदयात्) मानवोचित कर्मों में, जीवन के उत्कृष्ट क्षेत्रों में सद्गुणकर्मस्वभावों में प्रेरित करे[2]।

वेदारम्भ संस्कार में इस मन्त्र का उपदेश गुरु की ओर से दिए जाने के कारण इसे गुरुमन्त्र कहा जाता है। सविता देवता इसका होने से इसे सावित्री ऋचा कहते हैं और गायत्री इसका छन्द होने से गायत्री मन्त्र बोलते हैं। ब्रह्मचारी के विद्याविकास का हेतु गुरु है ज्ञानमें प्रगति करनेवाला बुद्धि आदिका प्रेरक सविता परमात्मा और छन्दोगान की भूमि गायत्री छन्द है। अतएव इस मन्त्र का स्थान विशेष है। इस मन्त्र की विशेषता इसलिये भी है कि इसमें आध्यात्मिक जीवन के तीनों अङ्गों अर्थात् स्तुति प्रार्थना उपासना का समावेश है और उच्चस्तर पर है। यहां परमात्मा को सविता–सूर्य के रूप में देखा गया है उस ज्ञान के सूर्य परमात्मा को ज्ञानमय तेज का भण्डार और प्रेरक बतलाया है। ऐसे परमात्मा के ज्ञानमय तेज को स्तुतिकर्ता प्रार्थी एवं उपासक अपने अन्दर धारण करना चाहता है, बुद्धि आदि को प्रेरणा देने केलिये प्रार्थनाहै, प्रार्थनीय वस्तु यहां बाह्य नहीं किन्तु आन्तरिक है यह भी मन्त्र की विशेषता है। मन्त्र की विशेषता को प्रदर्शित करने के लिये तीसरा वर्ग है 'भूः—भुवः—स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों महती विशेष ग्रहण करनेयोग्य ईश्वरके प्रति भावनाओंका। चौथा वर्ग इनसे पूर्व प्रणव अर्थात् त्रैमात्रिक 'अ–उ–म' ओ३म् का अवलम्बन है। इस प्रकार यह मन्त्र मानव जीवन के सर्वविध ऐश्वर्य और सर्वोच्च पद परमपद मोक्षलाभ का हेतु होने से अपना उच्च स्थान रखता है। इस मन्त्र के अनुसार उस परमात्मा के प्रति अपने उद्गार इस रूप में हमें प्रकट करने चाहिए कि—

... हे मेरे प्यारे रक्षक परम रक्षक माता पिता गुरु मित्र राजा एवं

---

१. धीः प्रज्ञाननाम (निघं०) २. यहां तक प्रार्थना भाग।

आश्रय के रूप में वर्तमान परम माता परम पिता परम गुरु परम मित्र परम राजा परम आश्रय मेरा सब कुछ तू ही है मेरी रक्षा कर मुझे ऊपर उठा। हे मेरे प्राण प्राणों से प्यारे अमर प्राण अमरता प्राप्त कराने वाले! दुःखनिवारक क्लेशविनाशक दुर्भाग्यापसारक तेरे सङ्ग से सर्वदुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, तू सुखस्वरूप है अपने सङ्ग से सुखप्रदान करता है। हे देव! तू ऐसे सुख का सञ्चार मेरे आत्मामें करता है जो नितान्त सुख है और अविचाली है स्थिर है मेरे अन्दर स्थान पा लेने वाला है। देव! तेरे ज्ञानमय तेज शुभ्र सुन्दर वरणीय, सुखद दर्शनीय स्वरूप को अपने अन्दर निरन्तर धारण करते रहें अन्तरात्मामें बिठाते रहें जिसके वरे बिना मानव का स्थिर कल्याण नहीं होता। तेरा तेज आध्यात्मिक है आत्मा में धारण करने योग्य है भौतिक तेज तो ताप देता है और कभी कभी सन्ताप तक भी पहुंचाता है पर तेरा तेज ताप सन्ताप को मिटाता है आनन्द का प्रवाह चलाता है शान्तिस्रोत वहता है। प्यारे परमात्मन्! कृपा करो कि हमारी मन बुद्धि चित्त अहङ्कार रूप-आन्तरिक धारण शक्तियां तेरे ज्ञानमय तेज के प्रकाशसे चमक जावें उज्वल हो जावें जिससे हम कल्याण मार्ग में चलते हुए तेरे पास आस के आनन्दरूप मोक्ष को पा सकें॥

ऋषिः—स्वयम्भु ब्रह्म=निज रूप में आकर प्रवृद्ध हुआ चेतन आत्मतत्त्व।

देवता—परमात्मा=विश्व में प्रविष्ट विश्वचालक विश्वात्मा जगदीश।

सर्वत्र व्यापक परमात्मा में स्वात्मा से प्रवेश करना—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश॥

(यजु० ३२। ११)

(भूतानि परीत्य) समस्त वस्तुओं को व्याप्त करके (लोकान् परीत्य) वस्तुओं के आश्रयरूप लोकों को व्याप्त करके(सर्वाः प्रदिशः-दिशः-च परीत्य) लोकों की सीमाओं और दिशाओं को भी व्याप्त करके। तथा (ऋतस्य प्रथमजाम्-उपस्थाय) सत्य-सत् पदार्थों में वर्तमान मूल वस्तु की एवं सत्यज्ञान की प्रथमोत्पन्न स्थिति-प्रथम प्रादुर्भूत स्थिति को स्वाश्रय में रख कर वर्तमान हुए (आत्मानम्-आत्मना-अभि संविवेश) विश्व के आत्मा परमात्मा को स्वात्मा से सम्प्राप्त हो उसमें प्रवेश करे।

वस्तुसत्ताएं प्रथम दो प्रकार की हैं, एक नित्य और दूसरी अनित्य। अनित्य सत्ता स्वापेक्षा से महती सत्ता का आश्रय रखती है पुनः वह महती अनित्य सत्ता भी नित्य सत्ता को आधार बनाती है। यह तो है ही परन्तु नित्य सत्ताएं भी अन्य महती नित्य सत्ता को आधार बनाती हैं। अन्त में सर्वाधार सत्ता तथा स्वाधार सत्ता चेतन परमात्मा ही है क्योंकि वह वस्तु वस्तु में जैसे व्यापक है वैसे वह वस्तुओं के आधारभूत पृथिवी आदि पिण्डों में भी व्यापक है पुनः जैसे पृथिवी आदि पिण्डों में व्यापक है वैसे ही पृथिवी आदि पिण्डों के अवलम्बनरूप सीमाओं और भ्रमण के आधार दिशाओं में भी व्यापक है। अपितु समस्त दिशाओं से युक्त प्रथम विकृति या मूल प्रकृति नित्य सत्ता को भी स्वाश्रय में लिए हुए है उस ऐसे सर्वाधार एवं स्वाधार अनन्त परमात्मा को प्राप्त होना उसमें स्थान लेना ही स्वात्मा को साधार निर्भय और सुख शान्ति से संयुक्त करना है॥

ऋषिः—कौण्डिन्यः=अध्यात्म विद्या में विदग्ध वंश में उत्पन्न परमात्माभिलाषी जन।

देवता—परमात्मा।

विश्वस्वामी को विश्व में देखूं और अपने में पाऊं—

**यो भूतानामधिपतिर्यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि
गृह्णामि त्वामहम् ॥**

(यजु० २०।३२)

(यः-भूतानाम्-अधिपतिः) जो संसार की वस्तुओं का स्वामी है (यस्मिन्-लोकाः-अधिश्रिताः) जिसमें लोकलोकान्तर रखे हैं (यः महतः-महान्-ईशे) जो महान् पदार्थों का महान् स्वामी बना हुआ है (तेन-अहं त्वां गृह्णामि) तिससे हे परमात्मन्! मैं तुझे उन भूतों में लोकों में ग्रहण करता हूं—उनके अन्दर स्थित जानता हूं। तथा (अहं त्वां मयि गृह्णामि) मैं तुझे अपने में ग्रहण करता हूं—अपने अन्दर अनुभव करता हूं।

मैं अपना सहारा बनाना चाहता हूं या किसी की शरण में जाना चाहता हूं, यह कामना मानवमात्र की स्वाभाविक है। पर प्रश्न है कि किसे सहारा बनाऊं या किसकी शरणमें जाऊं? संसार की वस्तुएं नश्वर हैं कि वे मुझे छोड़ दें नष्ट होकर के या अन्य द्वारा अपहृत होकर चुराए जाने छीने जाने पर अथवा मैं ही उन्हें छोड़ दूं अपनी देह के जरा मरण के कारण। परन्तु जो इन सहारों का भी सहारा इनका महान् स्वामी है जिसके आश्रित सब पदार्थ और लोक लोकान्तर हैं, जो महान् पदार्थों और महान् लोकों का भी सहारा है, क्योंकि वह सर्वतो महान है उससे महान् कोई नहीं इन सब पर राज्य कर रहा है, उस ऐसे परमात्मा की शरण में जाता हूं सो कैसे उसे विश्व में विश्व की वस्तु वस्तु में देखूं और अपने में भी अनुभव करूं। पुनः कह सकूं कि हे मेरे प्यारे परमात्मदेव! मैं तेरा हूं तू मेरा है, मैं तुझमें हूं तू मुझमें है, मेरे तेरे मध्य में कोई नहीं, प्यारे इस स्थिति में मेरा कल्याण है और तेरा यश महान है। प्रभो! मेरी ऐसी स्थिति बनी रहे कि जब बाहिरी

सृष्टि से व्यवहार करूं तो भी भांति भांति के पदार्थों में तुझे देखूं और जब उनके व्यवहार से निवृत्त होकर बैठूं तो मैं तुझे अपने अन्दर पाऊं, पुनः तेरी शरण में निश्चित निश्चिन्त हो जाऊं ॥

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः=वाग्विद्या के स्वामी आचार्य से शिक्षित आत्मबलसंयुक्त मनस्वी महानुभाव ।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा । परमात्मा का निरन्तर समागम आत्मसमर्पण, स्तुति, आमन्त्रण होता है—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।

नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

(ऋ० ६।१६।१०, साम० १।१ छन्दआर्चिक)

(अग्ने) हे ज्ञान प्रकाश स्वरूप परमात्मन् । तू (हव्यदातये गृणानः) निज को तेरी भेंट देने रूप ध्यानोपासन क्रिया में स्तुति किया जाता हुआ[1] तू (वीतये-आयाहि) मुझे साक्षात् प्राप्ति के लिए[2] आ । आकर (होता-बर्हिषि नि-सत्सि) मेरे अध्यात्म यज्ञ का होता ऋत्विक् बना हुआ-बनकर हृदय आसन पर[3] विराजमान हो ।

परमात्मा की स्तुति की जाती है उसके प्रसिद्ध शुभगुणों को देखकर अपना समर्पण करने के लिए शुभ गुणवान् के प्रति समर्पण करना अपने को ऊपर उठाना है उसकी सङ्गति को पाना है, समर्पण कर देने पर अपनी ओर उसे खींचना होता है। आमन्त्रित करना होता है, आमन्त्रणद्वारा समीपता से साक्षात् प्राप्ति होती है पश्चात् अपने सदन में अपने हृदय में उसे बिठा

---

१. स्तूयमानः—कर्मणि कर्तृप्रयोगश्छान्दसः ।

२. "वी गतिप्राप्ति०" (अदादि०)

३. बर्हिः पदनाम (निघं० ५ । २)

लिया जाता है। इस प्रकार समर्पणार्थ स्तुति साक्षात् प्राप्ति के लिए आमन्त्रण और निरन्तर सत्सङ्गार्थ अपने अन्दर बिठा लेना ध्यान समाधि से पा लेना हुआ करता है।

ऋषिः—राहुगणो गोतमः=वासनात्यागी कुल में उत्पन्न या व्युत्पन्न स्तुतिरूप वाणी का उत्सुक उपासक जन।

देवता—सोमः=शान्त आनन्दस्रोत परमात्मा। उपासक के हृदय में परमात्मा स्नेह के साथ रमण करता है।

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्य इव स्व ओक्ये॥

(ऋ० १।९१।१३)

(सोम) हे शान्त आनन्द स्रोतःस्वरूप परमात्मन्! तू (नः-हृदि आररन्धि) हमारे हृदय में समन्तरूप से सर्वात्मना रमण कर-आवास कर (गावः-न यवसेषु) गौएं जैसे यवों में हरे भरे घास वाले खेतों में, या (मर्यः-इव स्वे-ओक्ये) मनुष्य जैसे अपने विश्राम स्थान घर में भली भांति रमण करता है।

वासनात्यागी पितृकुल या गुरुकुल या विशिष्ट सत्संग के वातावरण में पला हुआ उपासक जब परमात्मा की स्तुतियों का उत्सुक अभ्यासी बन जाता है तो उसके वासनारहित निर्मल हृदय की परमात्मस्तुतियां परमात्मा को इसप्रकार आकर्षित कर लेती हैं जैसे हरियाली से पूर्ण खेत की हरी हरी घास गौओं को खींच लेती है, उपासक का हृदय एक खेत के समान है शुष्क खेत में हरियाली रहित खेत में गौएं नहीं जाती एवं शुष्क हृदय में जहां उसकी स्तुति का नाम नहीं वहां उसका आगमन नहीं होता उसके समागम का साधन आत्मभाव से स्तुति प्रार्थना उपासनाएं ही हैं। या फिर परमात्मा को हृदय में स्तुतियां खींच लेती हैं जैसे गृहस्वामी जन अपने घर में खिंच आता है उसके अपने अनुकूल व्यवस्थाएं

वहां होने से परमात्मा की स्तुतियां घर में अनुकूल व्यवस्थाओं के समान है वहां उसे आना ही है उसे अपनी स्तुतियों से प्यार है स्तुति वाले से अनुकूल सदन रूप हृदय से भी प्यार है।

*—

ऋषि:—मधुच्छन्दा:=मीठी इच्छा वाला जीवन में और आत्मा में मिठास का इच्छुक उपासक।

देवता—इन्द्र:=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

परमात्मा की उपासना से शत्रु भी अनुकूल बन जाते हैं—

उत नः सुभगाँ अरि र्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेन्द्रस्य शर्मणि॥

(ऋ० १।४।६)

(दस्म) हे पापी को क्षीण करने वाले शक्तिशाली परमात्मन्! (इन्द्रस्य शर्मणि स्याम) तुझ ऐश्वर्यवान् की सुखरूप शरण में हम हो जावें—अहर्निश तेरे ध्यान में रहें—तेरे प्रति अपना समर्पण कर दें। पुनः (अरि:-उत कृष्टय:-नः सुभगान् वोचेयुः) शत्रु भी तथा अन्य जन[1] भी हमें अच्छे भाग्यवाले हों ऐसा आशीर्वाद दें या सद्व्यवहार वाले हैं ऐसा कहें।

उस मनुष्य का बड़ा सौभाग्य है जो परमात्मदेव की शरण में अपने को समर्पित कर देता है। जिसका समस्त क्रियाकलाप परमात्मा के आदेशानुसार रहता है और जीवन जपोपासना में व्यतीत होता है उसको परमात्मा अपनाता है मनुष्य उसका मान करते हैं अपितु शत्रुजन भी उसके समर्थक और प्रशंसक बन जाते

---

*—अभ्यास और वैराग्य से युक्त हो, परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना से मोक्षप्राप्ति (पढ़ो—"उवाच मे वरुणो" पृष्ठ ६२)

१. "कृष्टयः—मनुष्यनाम" (निघं० २।३)

हैं। यद्यपि वह किसी का शत्रु नहीं होता परन्तु अज्ञानवश अन्य जन उसके शत्रु बन सकते हैं, उन पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। अतः हे सच्चे सहारे परमात्मन्! मैं तेरी शरण में हो जाऊं तो मैं संसार में उठ जाऊं अन्य जन तो मेरी मङ्गलकामना करेंगे ही पर शत्रु जन भी मुझे सौभाग्यवान् होने का आशीर्वाद देंगे या मैं सौभाग्यवान् हो गया ऐसी प्रशंसा करेंगे यह आपकी शरण में आने का फल है प्रताप है जो अनायास ही बिना चाहे मिलता है। यह तेरी शरण में आने से इस प्रकार सांसारिक जीवन की सफलता ही तो है। बस हम तेरी सुख शरण में स्थिर रहें कभी उसे न त्यागें ऐसा अपनी दया से शक्ति प्रदान करें॥

ऋषिः—वामदेवः=वननीय देव वाला ईश्वरोपासक जन।
देवता—इन्द्रः—ऐश्वर्यवान् परमात्मा।
उपासनादि द्वारा परमात्मा का प्यारा बनना और मुक्ति पाना—

न तं जिनन्ति बहवो न दभ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत्। प्रियः सुकृत् प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी॥

(ऋ० ४।२५।५)

(इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् परमात्मा के निमित्त—उसकी प्राप्ति के लिए (सुकृत्-अस्य प्रियः) सुकर्मा—अहिंसादि पुण्यकर्मों का कर्ता इस परमात्मा का प्यारा है (मनायुः प्रियः) अपने मन को उसमें रखना चाहने वाला जन इसका प्यारा है (सुप्रावीः प्रियः) मोक्षार्थ सम्यक् प्रगतिकर्ता[1] इसका प्यारा है (सोमी प्रियः) उपासना-रूप सोम्य कर्म समर्पित करने वाला इसका प्यारा है (तं न दभ्राः-न बहवः-जिनन्ति) उस उपासक को थोड़े नहीं अपितु बहुत भी

१. "अवति गतिकर्मा" (निघं० २।१४)

इकट्ठे होकर तिरस्कृत नहीं कर सकते—जीत नहीं सकते। अपितु (अदितिः-अस्मै-उरु शर्म यंसत्) जगदम्बा या मुक्ति[1] इसके लिए निज शरण देती है।

परमात्मा के प्यारे जन चार प्रकार के हैं। एक तो परमात्मा के प्रति यमनियम (अहिंसादि) आदि अष्टाङ्ग योगाभ्यास में तत्पर जन। दूसरे अपने मन को परमात्मा में ही मननचिन्तन के द्वारा लगाए हुए अन्यत्र मन न रखते हुए परमात्मानुरागी वैराग्यवान् जन। तीसरे मोक्षार्थ मैत्री आदि सद्व्यवहार में प्रगतिशील जन अर्थात् सुखी जनों के प्रति मित्रता रखने वाला दुःखियों पर दया करने वाला पुण्यात्माओं में प्रसन्नता रखने वाला पापात्माओं के प्रति उपेक्षा रखने वाला जन। चौथे ईश्वर के प्रति उपासनाद्वारा आत्म-समर्पणकर्ता जन। ऐसे मनुष्यों को थोड़े तो क्या बहुत भी मिल कर जीत नहीं सकते दबा नहीं सकते, अपितु जगदम्बा या मुक्ति उसे अपनी शरण देती है। किसी भी प्रकार परत्मा का प्यारा बनना चाहिए इसी में मानव जीवन की सफलता है॥

ऋषिः—राहुगणो गोतमः=विषयवासनात्यागी वंश में उत्पन्न गौ–काक्–वाणी—विद्या ब्रह्मविद्या–उपासना का इच्छुक जन।

देवता—पूषा=अध्यात्म पुष्टिप्रदाता परमात्मा।

सदाचरण पूर्वक जगदीश की उपासना से परम कल्याण—

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्। पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥

(ऋ० १।८९।५)

(वयं जगतः-तस्थुषः पतिम्) हम जङ्गम तथा स्थावर के पति

---

१. "अदितिर्माता" (ऋ० १।८९।१०२) "अदितिर्वा देवमाता"

(धियञ्जिन्वम्-ईशानं हूमहे) कर्म से[1] प्रसन्न होने वाले ईश्वर को अपने अन्तरात्मा में आमन्त्रित करते हैं (यथा) जिससे कि (पूषा) अध्यात्मपुष्टिप्रदाता परमात्मा (नः-वेदसां वृधे-असत्) हमारे धनैश्वर्यों के पढाने के लिये हो। तथा (स्वस्तये रक्षिता पायुः-अदब्धः) कल्याण के लिये रक्षक एवं पालक अवाधित रूप में हो।

हम चाहते हैं कि परमात्मा हमारा सच्चा रक्षक एवं पालक बने, हमें सुखसम्पत्ति से सदा तृप्त करे। यद्यपि हमारी यह वाञ्छा यथार्थ है और परमात्मा भी अवश्य वाञ्छा पूरी करने वाला है परन्तु वह सर्वज्ञ और अन्तर्यामी होने से हमारी पात्रता को जान कर ही तो उसके अनुसार कर सकेगा। उसे पता है कि हम पात्र हैं या नहीं। हां यदि हम उस जड़-जङ्गम-स्वामी के प्रति अपने कर्म-कलाप का यथावत् आचरण करते हैं तो फिर निःसन्देह हम उसके दान और पालन पोषण के पात्र हैं और वह भी अवश्य हम पर कृपा करेंगे क्योंकि परमात्मा यथावत् कर्म-कलाप के आचरण से प्रसन्न होता और कृपा करता है, उसे अन्य कुछ भी उपहार नहीं चाहिए वह तो स्वयं तृप्त है उसे कुछ आवश्यकता नहीं तथा जड़-जङ्गम का स्वामी है उसे हम दे सकते भी क्या हैं, उसकी वस्तु उसे देना तो कोई उपकार या कृतज्ञता नहीं है। हां वह सदाचरणकर्ता को अपनाता है यह उसका स्वभाव है न्याय है यही दयाभाव है। अतः हम उसकी उपासना करके उसकी प्रसन्नता के पात्र बन परम-कल्याण को प्राप्त करें॥

ऋषिः—वैकुण्ठः=विकुण्ठा—अप्रतिहति, अप्रतिहत शक्ति से सम्पन्न ज्ञान वल में समर्थ जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

---

१. "धीः कर्मनाम" (निघं० २। १)

परमात्मा उपासक को अमर धन मोक्ष प्रदान करता है—

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्मकृणवं मह्यं वर्धनम् । अहं भुवं यजमानस्य चोदिताऽयज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ॥

(ऋ० १० । ४९ । १)

(अहं गृणते पूर्व्यं वसु दाम्) मैं स्तोता उपासक को प्राचीन शाश्वत धन अमरत्व अर्थात् मोक्ष देता हूं (अहं मह्यं वर्धनं ब्रह्म कृणवम्) मैं अपने को बढाने वाले ब्रह्म अर्थात् मन्त्र निज स्तुति-साधन को रचता हूं (अहं यजमानस्य चोदिता भुवम्) मैं अध्यात्म यज्ञ के यजमान—अपने उपासक का प्रेरक आगे बढाने वाला हूँ (अयज्वनः-विश्वस्मिन् भरे साक्षि) अध्यात्म यज्ञ से विहीन नास्तिक जन को संसारसंग्राम में दबाता हूं[1] ।

ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वाले जन तीन प्रकार के हैं। एक तो ईश्वरप्रार्थना करने वाले जो ईश्वर के सम्मुख अपने को नम्र प्रदर्शित कर उससे कुछ मांगते या अपनी कमी पूरी कराना चाते हैं। दूसरे ईश्वरस्तुति करनेवाले जो ईश्वर की स्तुति कर स्तुत्य गुणों में क्रीडा कर प्रसन्न होते अपने आदर्श देव को निहार निहार हर्षित होते और उसके ज्ञानप्रसाद को प्राप्त कर निज जीवन को उच्च बनाते हैं। तीसरे ईश्वरोपासना करने वाले जो ईश्वर के पास या शरण में अपना स्थान बनाने या जाने के लिए ध्यानोपासना योगाभ्यास कर अपने को उसका सङ्गी सखा अधिकारी बना ऊंचे उठ उसके योग संयोग के आनन्द का लाहा लूटते हैं। यह तीन स्थितियां हुई आस्तिक जनों की जिनको ईश्वर अपना ज्ञान धन सुख शान्ति और मोक्ष प्रदान करता है। परन्तु जो नास्तिक जन हैं

---

१. "सह मर्षणे" (भ्वादि०) सिपि रूपम् । "सिब्बहुलं लेटि" (अष्टा० ३ । १ । ३४)

न ईश्वर को मानते हैं और न उसके सम्बन्ध में कुछ भी स्तुति प्रार्थना उपासना करना जानते और न करना चाहते हैं वे संसार-संग्राम में परास्त हो जाते हैं मानवता से च्युत हो जाते हैं। अतः ईश्वर की उपासना अवश्य करनी चाहिये॥

ऋषिः—अथर्वा=स्थिरवृत्तिवाला योगी जन।

देवता—वाचस्पतिः=वाक्—विद्या ज्ञान का स्वामी परमात्मा।

श्रवणचतुष्टय से परमात्मा की सङ्गति या उपासना—

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि॥

(अथर्व० १।१।४)

(वाचस्पतिः-उपहूतः) ज्ञान का स्वामी सर्वज्ञ परमात्मा हमारे द्वारा स्वीकृत हुआ-अपनाया हुआ (वाचस्पतिः-अस्मान्-उपह्वयताम्) वह ज्ञान का स्वामी सर्वज्ञ परमात्मा हमें स्वीकृत करता है—अपनाता है (श्रुतेन सङ्गमेमहि) उस परमात्मा में हम श्रुत के द्वारा श्रवण के द्वारा सङ्गति करें—संयोग प्राप्त करें (श्रुतेन मा विराधिषि) मैं श्रवण से अलग न होऊं—उसका श्रवण निरन्तर किया करूं।

सर्वज्ञ अन्तर्यामी परमात्मा को जिस क्षण हम अपनाना आरम्भ करें तो वह भी हमें उसी क्षण से अपनाना आरम्भ कर देता है, वह ऐसा सच्चा अपनाने वाला है। अन्य जन कितना भी ऊंचा महात्मा हो वह हमें तुरन्त नहीं अपनाता, हमारा बहुतेरा समय निरीक्षण परीक्षण में खो देता है हमारे कथन और विचारों की सत्यता जानने और हमें पहिचानने को, परन्तु परमात्मा के यहां क्षण भर भी विलम्ब का अवसर नहीं उसके सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी और पूर्ण-उदार होने से। ऐसे सच्चे अपनाने वाले को हम क्यों न अपनावें? यह तो मानव का बडा सौभाग्य है जो सच्चे अपनाने वाले से

नाता जोडता है। कैसे उससे नाता जोडे कैसे उसके साथ मेल करे सो कहा गया है श्रवण से। सो श्रवण होता है चार प्रकार का जो कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार नाम से प्रसिद्ध है। श्रवण का अर्थ है परमात्मा के सम्बन्ध में या उसके गुणकर्मों का अध्यात्म वचनों द्वारा सुनना। मनन का अभिप्राय है सुने हुए को विचार द्वारा स्थिर करना या निश्चित स्थिति में लाना। निदिध्यासन कहते हैं सुने और निश्चित किए हुए विषय अर्थात् परमात्मा या परमात्मस्वरूप की प्राप्ति करने के लिये पूर्ण और यथार्थ प्रयत्न करना। साक्षात्कार है प्राप्ति। इन श्रवणादि चारों में परमात्म-सत्सङ्ग होता है एक दूसरे के क्रम से अधिकाधिक हुआ करता है। जैसे बाह्यजीवन अर्थात् शरीर में सात्विक स्नेह प्रवेश के लिए दूध, मलाई, मक्खन और घृत क्रमशः उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्नेह-वाले होते हैं। दूध में चिकनाई है पर दूध से अधिक मलाई में मलाई से अधिक मखन में मखन से अधिक घृत में चिकनाई है, घृत तो बस चिकनाई ही चिकनाई है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में आध्यात्मिक स्नेह प्राप्ति के लिये श्रवण, मनन, निदि-ध्यासन और साक्षात्कार हैं जिनमें क्रमशः परमात्मसत्सङ्ग का आध्यात्मिक स्नेह उत्तरोत्तर अधिकाधिक हुआ करता है। तथा जैसे सुन्दर स्वादु फलवाले वृक्ष या पौधे का अपने यहां बोने पर अंकुर आना अंकुरित रूप पुनः पत्ते आना पत्रितरूप फिर फूल आना पुष्पित रूप पश्चात् फल आना फलित रूप में चार स्थितियां होती हैं। इनमें बोने वाले की प्रसन्नता या शान्ति क्रमशः अधिकाधिक उत्तरोत्तर उनके दर्शन से बढ़ती जाती है एवं ये श्रवण आदि मानव के आध्यात्मिक शान्ति पौधे के अंकुरादिरूप हैं क्रमशः अधिकाधिक उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रसन्नता या शान्ति प्राप्त करने को। अतः हम इस श्रवणचतुष्टय का अवलम्बन करें कभी इससे अलग न हों कभी इसका त्याग न करें ॥

ऋषि:—मधुच्छन्दा:=मीठी इच्छा रखने वाला मधुतन्त्र मधुपरायण रहने वाला।

देवता—-इन्द्र:—ऐश्वर्यवान् परमात्मा। परमात्मा की सुमतियों को जानने उन्हें मानने अपने अन्दर ढालने से वह निजदर्शन देगा—

अथ ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्।
मा नो अतिख्य आगहि॥

(ऋ० १।४।३)

(अथ ते) हे इन्द्र ऐश्वर्यन् परमात्मदेव! अब जब कि तेरी कृपा हो गई हमारे स्तुति आदि आमन्त्रण से मुझे अपना लिया तब तेरी (अन्तमानां सुमतीनां विद्याम) अति समीपी अन्तरात्मा में प्राप्त होने वाली सुमतियों को अपनी ओर ले चलने वाले शुभ गुण प्रकारों प्रज्ञानों को हम जाने तदनुसार आचरण कर तुझे ध्याने और पाने में कभी प्रमाद न करेंगे। परन्तु हे देव! (मा नः अतिख्य:) मत हमें अपने दर्शन से वञ्चित करना। अतः (आगहि) हमारे आत्मा में आ जा-आ बस।

अन्तर्यामी प्रभु परमात्मा की कृपा से और उसकी ओर अपने मन को करने से उसकी सुमतियों और शुभसन्देश चेतावनियां अपनी ओर आया करती है उन्हें यदि मानव जान ले समझले तथा वैसा आचरण करले तो फिर परमात्मा उसकी दृष्टि से या अन्तरात्मा से ओझल नहीं होता किन्तु वह तो उसके सम्मुख निरन्तर अपने अमर आनन्दस्वरूप को दिखाता हुआ आता चला जाता ही है। पर उसकी सुमतियां प्राप्त होते हुए भी अभागी जन उन्हें समझ नहीं पाते हैं जो समझ लेते हैं निःसन्देह परम

कल्याण अमर धाम को प्राप्त होते ही हैं जब तक जीवन है देह है तब तक उनको समीपता से परमात्मा की सङ्गति मिलती रहती है।

ऋषि:—मधुच्छन्दा:=मीठी इच्छा रखनेवाला अन्तरात्मा में मिठास का उपजाने वाला एवं मधुतन्त्र मधुपरायण रहने वाला महानुभाव।

देवता—वायु:=उपासक या ज्ञाता की ज्ञानवृत्ति एवं अध्यात्म गति से उसके अन्तरात्मा में ज्ञात एवं प्राप्त होने वाला परमात्मा।

परमात्मा दर्शनीय है ऊंचे ध्यानी के लिए भी दर्शनाकांक्षा की परिसमाप्ति नहीं होती वह ध्यानप्रवाहों के स्वीकार करने को ध्यानी के अन्त:स्थल में आता रहता है—

वायवाहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः।

तेषां पाहि श्रुधि हवम्॥

(ऋ० १।२।१)

(वायो दर्शत) हे मेरी ज्ञानवृत्ति एवं अध्यात्म गति से मेरे तक आने वाले मुझे ज्ञात और प्राप्त होने वाले दर्शनीय निरन्तर दर्शन में—आन्तरिक दर्शन में आकांक्षा के पात्र परमात्मन्! (आयाहि) तू आ-मेरे तक आ मेरे अन्दर आ—मुझे समग्रभाव से आलिङ्गन कर समन्तरूप से मुझ भवन में प्राप्त हो (इमे सोमाः अरङ्कृताः) ये सोम-मेरे योगाभ्यास द्वारा निकले निकाले हावभाव भरे स्तुति प्रार्थना उपासना रूप रसप्रवाह सुसुन्दर सम्पन्न तथा निजशक्ति के द्वारा पूर्ण निष्पन्न किए हैं (तेषां पाहि) उन्हें पान कर तथा उन्हें रख—उन्हें अपना ले (हवं श्रुधि) इस मेरी निवेदन को सुन-मान-स्वीकार कर।

मेरे प्यारे परमात्मन्! क्या कहूँ तेरी गति निराली है, संसार की वस्तु आती है तो वह आती हुई भी दीखती है और आकर तो दृष्ट हो ही जाती है, परन्तु हे अन्तर्यामिन्! तू न आता हुआ दीखता है और न ही आकर दृष्ट ही बनकर रहता है किन्तु तू दर्शनीय ही रहता है तू उपासक या ध्यानी के पास आता है अवश्य, तभी तो वेद ने 'आयाहि' कहा है पर तू भौतिक पदार्थों की भांति गति करता हुआ नहीं आता तू ध्यानी की ध्यानवृत्ति से या ज्ञानी की ज्ञानदृष्टि से उसके अन्दर आता है, दृष्ट बनकर तू नहीं रहता किन्तु दर्शनीय बनकर रहता है तेरा साक्षात् तो होता है पर अनन्त असीम का साक्षात् होना तो अपरिसमाप्त ही है यह तेरी महत्ता है कि दृष्ट की भांति अरुचि का विषय नहीं बनता किन्तु कितना भी ध्यानी के ध्यान में तू आवे उसके अन्दर यही अनुभूति देता हुआ आता है कि हे मेरे दर्शनीय आ! आ!! और आ!!! तू दर्शन देता चला जा दर्शनीय! दर्शन दे और देता रहे। मेरे पास या तेरे उपासक के पास बाहिरी भेंट तेरे लिए कुछ नहीं जो है उसे अपने लिए भी उपयुक्त नहीं समझता पुनः तेरे लिए क्या दिया जावे। देने को सोचा जावे तो प्यारे अन्तर्यामिन् ध्यानी के स्तुति प्रार्थना उपासना द्वारा निःसृत प्रवाहित मधुमय शान्त स्रोत है उन्हें तू अवश्य पान कर अपने अन्दर स्थान दे बस यह तेरी यथार्थ भेंट है तू इसे स्वीकार कर आता रह और दर्शनीय! दर्शन कराता रह दर्शन की इच्छा को बढाता रहे।

ऋषिः—नारायणः=नरों के समूह–समाज का अयन नेता अग्रगण्य श्रेष्ठ जन।

देवता—पुरुषः (ब्रह्मप्रकाशनम्)=सृष्टि में पूर्ण परमात्मा या परमात्मा का प्रकाश अर्थात् निरूपण करना।

स्तुति प्रार्थना उपासना और ओ३म् के सार्थक जप से परमात्म-सत्सङ्ग—

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

(तस्मिन त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते) उस तीन अरों वाले—स्तुति प्रार्थना उपासना रूप तीन अरों वाले[1] तथा अकार उकार मकाररूप अर्थात् 'अ, उ, म्' ओम् की तीन मात्राओं में प्रतिष्ठित–(हिरण्यये कोशे) सुनहरी या दिव्य या शुभ्र कोश के समान ध्यान कोश में (तस्मिन् यक्षम्-आत्मन्वत् तत्-वै ब्रह्मविदः-विदुः) पूजनीय ब्रह्म, आत्मा का आश्रयीभूत आत्मा के द्वारा साक्षात् होने वाला है उसे ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।

जीवात्मा के द्वारा परमात्मा का स्वरूप साक्षात्कार या जीवात्मा और परमात्मा का सुनहरी सान्निध्य—सङ्ग जिस रूप में या जिस स्थिति में होता है वह रूप या स्थिति है ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना का अनुष्ठान और ओ३म् की तीन मात्राओं 'अ, उ, म्' का सार्थक जप करना। स्तुति से कृतज्ञता के साथ निज आत्मा में नम्रता उसके प्रति श्रद्धा प्रेम और आस्तिकता का लाभ होता है, प्रार्थना से परमात्मा के सदगुणों का अपने अन्दर आकर्षण धारण

---

१. स्तुति प्रार्थना उपासना ये वेदत्रयी का सार है और वेदत्रयी को वेद में अरा कहा गया है। "यस्मिन्नृचः सामयजूꣳषि रथनाभाविवारा..."(यजु० ३४।५)।

तथा सात्विक सुख की अनुभूति और उपासना से परमात्मा की समीपता और उसके आनन्द स्वरूप से परम शान्तिरूप आनन्द का लाभ होता है। ओ३म् के सार्थक जप से मन की स्थिरता स्वात्म-बोध के साथ परमात्मसाक्षात्कार और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्तुति प्रार्थना उपासना से मानव को अपना दिव्य जीवन बना और ओ३म् (अ-उ-म्) के आधार पर स्तुति प्रार्थना उपासना रूप अराओं के चक्र को चलाकर ब्रह्म की प्राप्ति करना परमध्येय है वास्तविक मानवता है॥

ऋषिः—आङ्गिरसः पवित्रः= अङ्गिराः—प्राण[1] इन्द्रियों का स्वामी निष्पाप संयमी उपासक।

देवता—सोमः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

असंयमी अतपस्वी के अन्दर परमात्मा का आनन्दरस नहीं समाता—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत॥

(ऋ० ९।८३।१, साम० पू० अ० ५, ख० ९।१२)

(ब्रह्मणः-पते ते पवित्रं विततम्) हे मन्त्र के ज्ञान के स्वामिन् तेरा सोम्यस्वरूप[2] शान्तस्वरूप—शान्तिप्रद स्वरूप मेरे अन्तरात्मा

---

१. "प्राणो वा अङ्गिराः" (शत० ६।१।२।२८) प्राणाः-इन्द्रियाणि—"ते (चक्षुरादयः) अश्रद्दधाना बभूवुः···या तेनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या चक्षुषि···"। (प्रश्नो० २।४–१२) "प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (बृह० ४।४।२)।

२. "सोमः पवित्रमुच्यते" (निरु० ५।६)

में परिपूर्ण हो रहा है । मानो (प्रभुः-गात्राणि विश्वतः पर्येषि)तू मेरा प्रभु मेरे गात्रोंमें—अङ्गअङ्गमें सब ओर से आरहा है (अतप्ततनूः-आमः-तत्-न-अश्नुते) जिस का देह तप्त नहीं हुआ जिस ने संयम में अपने को नहीं तपाया ऐसा कच्चा जन उस तेरे सोमस्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता (शृतासः-उत्-तत्-वहन्तः) पके हुए-अधिकारी जन ही उस को धारते हुए (तत् समाशत) उसे सम्यक् प्राप्त होते हैं ।

हे ज्ञानस्वामिन् मेरे अन्तर्यामिन् परमात्मदेव ! क्या कहूं ? तेरा शान्तस्वरूप शान्ति को प्रदान करता हुआ मेरे अन्तरात्मा में परिपूर्ण हो रहा है इस प्रकार तू मेरे गात्रों में मेरे अङ्ग अङ्ग में भर रहा है समाता जा रहा है । अहो ! यह तब ही तो ऐसा होता है जब कि संयम और वैराग्य से पक्व हुए—सम्पन्न हुए उपासक तुझ में अपना समर्पण करते हैं । अतपस्वी असंयमी वैराग्यहीन अपक्व कच्चे जन तुझे प्राप्त नहीं होते, उनका जीवन कच्चे घड़े के समान है वह तेरे शान्त आनन्दरस को धारण नहीं कर सकते, ऐसे कच्चे अनधिकारी जनों को तू भी प्राप्त नहीं होता है । कच्चे जन तेरी ओर चलने को पग उठावें भी तो कैसे ? जरा कहीं पग रखा तो बस फिसल पड़े, उनके लिये पदे पदे संसार में फिसलाने वाले विषय-भोग सामने आते रहते है, किन्तु पके दृढ़ संयमी जन ही तुझे अपने अन्दर धारण कर सकते हैं तेरी ओर चलने को दृढ़ पग रख सकते हैं। अतः हे ज्ञानस्वामिन् ! हम सदा संयमी हो तेरे सत्सङ्ग का आनन्द रस प्राप्त करते रहें यह दृढ़ धारणा हमारी स्थिर रहे ॥

ऋषिः—काण्वो मेधातिथिः=मेधावी कुल में उत्पन्न मेधा ब्रह्म-प्राप्ति की बुद्धि के लिए अतनशील-ब्रह्म का जिज्ञासु ।

देवता—विष्णुः=व्यापक परमात्मा ।

ज्ञानवान् निर्व्यसनी अभ्यासी स्तुतिकर्ता जन परमात्मा के स्वरूप को अपने अन्दर प्रकाशित करते हैं—

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥

(ऋ० १ । २२ । २१, यजु० ३४ । ४४)

(जागृवांसः-विपन्यवः-विप्रासः) जागरूक समझदार स्तुतिकर्ता विद्वान् जन (विष्णोः-यत् तत् परमं पदं समिन्धते) व्यापक परमात्मा के उस परम-अभीष्ट स्वरूप को स्वात्मा में प्रकाशित करते हैं[1] ।

व्यापक परमात्मा के परम स्वरूप को ज्ञानवान् जन स्वात्मा में साक्षात् करते हैं, ज्ञानवान् भी जागरूक सावधान विषय व्यसनों में न फंसने वाले और वे भी उसकी स्तुति करने में आस्तिक भाव से पूर्ण आत्मसमर्पी हो तो । अज्ञान मूढता विषयव्यसनग्रस्तता और उद्धतता-अनम्रता से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता । ऐसे दोषों से युक्त जन शतशः यत्न करते हुए भी उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं पा सकते हैं । अतः विद्या वैराग्य और योगाभ्यास से परमात्मरूप अध्यात्म अग्नि को अपने अन्दर प्रकाशित किया जा सकता है, जैसे शुष्क काष्ठ तीव्र घृत और बलवती हव्यसामग्री से यज्ञ प्रदीप्त हुआ करता है ॥

*—

---

१. "समिन्धते दीपयति उपासते" (महीधरः) "समिन्धते संदीपयति उपासनैर्निर्मली कुर्वन्ति" (उव्वटः) ।

*—परमात्मा को निष्पाप होकर प्राप्त किया जाता है (पढ़ो "यश्चिद्धि तः..." पृष्ठ १६)

सब वरों में सर्वोत्तम वरणीय वर जगदीशदेव है । (पढ़ो "अभि त्वा देव..." पृष्ठ १५)

उपासक के अन्दर सत्यस्वरूप परमात्मा के आनन्दरसस्रोत स्रवित होते रहते हैं (पढ़ो—"सत्यमुग्रस्य बृहतः..." पृष्ठ ९३)

ऋषिः—दीर्घतमाः=लम्बे अविद्यान्धकारवाला जन (ऋग्वेदे) ब्रह्मा=ब्राह्मण=ब्रह्म का इच्छुक जन (अथर्ववेदे)।

देवता—विश्वे देवाः=प्राण–इन्द्रियां (ऋग्वेदे) वामः=वननीय परमात्मा (अथर्ववेदे)।

हृदय में वासनाएं न वसा कर परमात्मा के अमृत रस का भरना—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमिषं विदथाभिस्वरन्ति। इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥

(ऋ० १।१६४।२१, अथर्व० ६।६।२२)

(सुपर्णाः) सम्यक् पतनशील इन्द्रियां[1] (यत्र) जिस हृदय स्थान में (अमृतस्य भागम्) मुझ अमर जीवात्मा के भजनीय भोग्य भागरूप आदि स्वस्व विषय को (विदथा) वेदन से—अनुभूति कराने की शक्ति से (अनिमिषन्-अभिस्वरन्ति) निरन्तर घोषित करती या प्रेरित करती हैं (अत्र) हृदय स्थान में (विश्वस्य भुवनस्य गोपाः-इनः) समस्त संसार का रक्षक स्वामी परमात्मा है (सः-धीरः) वह धीर (मा पाकम्-आविवेश) मुझ पाक–पक्तव्य–इन्द्रियविषय-भोगों की अग्नि में पके जाते हुए को[2] या अज्ञानान्धकारपूर्ण को ज्ञानाग्नि में पकने योग्य को आविष्ट हो।

अहो आश्चर्य! भूला और भोला मानव अज्ञानवश अपने हृदय मन्दिर में इन्द्रियों की भोगानुभूतिरूप एवं विषय-वासनारूप विकराल मूर्तियों को भरता जाता है इकट्ठी करता जाता है अमर जीवात्मा रूप पुजारी के पवित्र मन्दिर को दूषित करता

---

१. "यत्रा सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि" (निरु० ३।११)

२. पाकः पक्तव्यः" (निरु० ३।१२।)

जाता है, परन्तु विश्वस्वामी परमात्मा को वहां स्थान नहीं देता है नहीं बिठाता है यह उसका बड़ा दुर्भाग्य है। उसे यह ध्यान नहीं कि मेरा अन्तरात्मा कामाग्नि में भुन रहा है जला जा रहा है उसे बचाया जावे, उपाय है बचाने का उस विश्वस्वामी धीर शांतिप्रद परमात्मा के अमृत रस का सिञ्चन। वह इसे शांति कर सकेगा या फिर उसी परमात्मा की ज्ञानाग्नि से स्वात्मा को घटसमान परिपक्व कर वासना प्रताप को निष्फल कर देगा। अतः मैं उस परमात्मा के अमृत रस का पान और उस ज्ञानाग्नि का अपने अन्दर आधान करता हूं॥

ऋषिः—काण्वो मेधातिथिः=मेधावी-वंश में उत्पन्न मेध पवित्र-कर्ता परमात्मा में अतनशील ध्यानी उपासक जन।

देवता—विष्णुः=व्यापक परमात्मा।

परमात्मा के स्वरूप को उपासकजन सूर्य की भांति साक्षात करते हैं—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥

(ऋ० १।२२।२०, यजु० ६।५, अथर्व ७।२६।७)

(सूरयः) ध्यानी ज्ञानी स्तोता जन[1] (विष्णोः) व्यापक परमात्मा के (तत् परमं पदम्) उस अभीष्ट उत्कृष्ट स्वरूप को (दिवि-इव चक्षुः-आततम्) आकाश में सुस्पष्ट प्रकाशित सूर्य की भांति (सदा पश्यन्ति) अपने आत्मा में सदा देखते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर नहीं है क्योंकि वह दीखता नहीं है परन्तु वेद कहता है कि ईश्वर सूर्य के समान स्वतः प्रकाशमान है। सूर्य आंख वाले को आकाश में आंख से और आंख खोलने

---

१. "सूरिः स्तोतृनाम" (निघं० ३। १६)
"वेदान्तज्ञानरहस्यविवृतसम्पुटाः" (उव्वटः)

पर दीखता है, ज्योतिहीन आंख या बन्द आंख से नहीं दीखता है। जैसे ज्योतिहीन आंखवाले या आंख खोलकर न देखने वाले कहें कि सूर्य नहीं है तो यह कथन स्वीकार करने योग्य नहीं। व्यापक परमात्मा आंख से नहीं दीखा करता है वह आंख का विषय नहीं क्योंकि वह एकदेशी नहीं जो आंख से दिखलाई दे, अपितु उसके स्वरूप को बाहिरी आंख बन्द करके ठीक ऐसे ही ध्यानी ज्ञान नेत्र से हृदयाकाश में देखता है जैसे सूर्य को आकाश में। देखनेवाला उसे देखकर कह उठता है "त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि. त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि" (तै० उ० १।१।१) तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। बाह्य नेत्र की प्रत्यक्ष वस्तु तो वस्तुतः एकदेशी प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष है किन्तु सर्वथा प्रत्यक्ष तो आत्मा के सम्मुख ब्रह्म ही है॥

❀—

ऋषिः—नारायणः=जन्म बन्धन में पड़ा[1] जन।

देवता—आदित्यः=आदि अर्थात् सृष्टि से भी पूर्व वर्तमान परमात्मा[2]।

परमात्मसाक्षात्कार मृत्यु को पार करने और मोक्ष को पाने का उपाय है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (यजु० ३१। १८)

---

*—उपासक जन प्रणव धनुष पर अपने को अवलम्बित कर सोमरूप परमात्मा का आनन्द रस पान करता है (पढो—शर्यणावति सोमः···" पृष्ठ ८८)

१. नाराः-आपोऽयनं यस्य, पञ्चमाहुतिरापस्तत्र भवो जातो बद्धजनः।

२. "आदित्य एषां भुतानामधिपतिः" (ऐ० ७। २०)

(अहं तमसः-परस्तात्) मैं अज्ञानान्धकार से पृथक् वर्तमान (एतम्-आदित्यवर्णं महान्तं पुरुषं वेद) इस सूर्यसमान प्रकाशमान अनन्तपूर्ण परमात्मा को जानूं[1] क्योंकि (तं विदित्वा-एव मृत्युम्-अत्येति) उसे जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है-मृत्यु को पार कर सकता है—मृत्यु से बच सकता है[2] (अन्यः पन्था-अयनाय न विद्यते) अन्य मार्ग अपने अयनरूप—विश्राम स्थान-रूप मोक्ष के लिये नहीं है।

संसारी जन समझता तो यह है कि मैं बड़ा ज्ञानी हूँ पर वह अन्धकार में भटक रहा है न केवल साधारण अन्धकार में अपितु घने अन्धकार की ओर चलता जाता है और घने अन्धकूप में जा गिरता है। फिर जब वह परमात्मा-द्वारा वहां से उभारा जाता है तो कुछ प्रकाश की रेखा को पाता है पर वह नहीं समझ पाता कि यह प्रकाश की रेखा आई कहां से अपितु उधर देखता और चलता ही नहीं किन्तु पुनः उसी घने अन्धकारपूर्ण दिशा में चल कर फिर अन्धकूप में जा गिरता है। यह इसका दुर्भाग्य नहीं तो क्या है जो प्रकाशरेखा पाने पर भी प्रकाशपुञ्ज को नहीं देखता। मृत्यु ही घने अन्धकार से पूर्ण अन्धकूप है जिसमें पुनः पुनः यह मानव गिरता रहता है, कुछ काल इस जीवन की प्रकाशरेखा का है यह सङ्केत है इसे प्रकाशपुञ्ज की ओर चलने उसे देखने और पाने का। वह प्रकाशपुञ्ज है विश्वात्मा अमर परमात्मा। मैं उस अज्ञानान्धकार से परे वर्तमान सर्वज्ञत्वादि गुणों से प्रकाशमान परमात्मा को जान पाऊं यह मेरी आकांक्षा है। मैं बहुत काल से अन्धकार में रहा अन्धकारवश संसारप्रवाह में चिरकाल से

---

१. लिङ् के अर्थ में लेट् प्रयोग है।

२. अतिक्रम्य मृत्युं तं पुरुषमनु प्रविशति" (उव्वटः)
"तमः शब्देनाविद्योच्यते" (महीधरः)

बह रहा हूं अब तो मैंने निश्चय कर लिया है कि अन्धकार से परे सर्वज्ञत्वादि गुणों से प्रकाशमान परमात्मा को अवश्य जानना है क्योंकि उसे जानकर और प्राप्त करके ही मानव मृत्यु से पार हो सकता है अन्य मार्ग मोक्षप्राप्ति का नहीं है । परमात्मा की शरण लेना ऐसा ही है जैसे अन्धकार से बचने को प्रकाशमान सूर्य की शरण लेना । ऐसा अवसर शीघ्र प्राप्त हो यह मेरी आकांक्षा है पूरी हो ॥

इस प्रकरण का सार—

परमात्मा की उपासना प्रतिदिन प्रातः सायं करना, किसी मूल्य पर उसका त्याग न करना; संयमी तपस्वी अभ्यासी और वैराग्यवान् तथा निष्पाप जन उपासना का पावन आनन्द रस ले सकते हैं, श्रवणचतुष्टय परमात्मसत्सङ्ग का साधन, प्रणव धनुष के सहारे सोम-प्रभु का लक्ष्य कर मधुर रस का स्रावण कर पान करना, ओ३म् के सार्थक जप से उपासना का होना है, सर्वदा सर्वथा रक्षाकर्ता परमात्मा के दिव्य ज्ञान को अपने अन्दर धारण कर प्रबुद्ध होना, परमात्मा को विश्व में देखना और अपने आत्मा में साक्षात् पाना, सर्वव्यापक परमात्मा में स्वात्मा से प्रवेश करना, उपासना से शत्रु भी अनुकूल हो जाते हैं, उपासक परमात्मा का प्यारा बन जाता है, उपासना से अमर धन परमकल्याण और मोक्ष की प्राप्ति, उपासना से उपासक ज्ञान में सूर्यसमान प्रकाशमान हो जाता है, परमात्मसाक्षात्कार-द्वारा मृत्यु से दूर हो जाना और अमृत—मोक्ष की प्राप्ति, सर्वोत्तम वर परमात्मा ही है, हृदय मन्दिर को इन्द्रिय-भोगवासनाओं से दूषित न करना अपितु उसमें परमात्मा का साक्षात् आगमन प्राप्ति सदा उसकी दर्शनीयता को स्थिर रख उपासनाद्वारा उसके अमृतरस से अपने को भरपूर और ज्ञान प्रकाश से दीप्यमान बनाना ॥



जीवात्मा

ऋषि:—कुत्स:=स्तोमकर्ता[1]—स्तोमों सीमाओं[2] का विभाजन-परिमाणनिर्धारक ज्ञानी जन।

देवता—आत्मा=जीवात्मा।

जीवात्मा अणु, लगावधर्मवाला नष्ट होने वाले शरीररूप घर में अजर अमर—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥
इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः॥

(अथर्व० १०।८।२५,२६)

(एकं बालात्-अणीयस्कम्) एक—जीवात्मा नाम का चेतन तत्त्व बाल से भी अत्यन्त अणु है छोटा है[3] (उत-एकं न-इव दृश्यते) तथा एक अन्य परमात्मा चेतन तत्त्व नहीं दीखता जैसा है-परिमाण से परे—अतीन्द्रिय है (ततः) उन दोनों में से (परिष्वजीयसी-

---

१. "ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्" (निरु० ३।११)

२. "स्तोमा आसन् प्रतिधयः" (ऋ० १०।८५।८)

३. आत्मा के अणु होने से हृदय में इसका निवास वेद में अन्यत्र कहा है "बृहस्पति में आत्मा नृमणा नाम हृद्यः" (अथर्व० १६।३।५) अर्थात् मेरा आत्मा वाणी का स्वामी और नायकमनवाला हृदय में रहने वाला है।

देवता) परिष्वङ्गधर्मी–लगावधर्मी—लगाव का धर्म रखने वाली देवता (सा मम प्रिया) वह मेरी प्यारी चेतना—आत्मा है (इयं कल्याणी-अजरा) यह मेरी आत्मा देवता पवित्र अजर है (मर्त्यस्य गृहे-अमृता) मनुष्य के शरीररूप घर में अमृत है न मरने वाली है (यस्मै कृता शये) जिस शरीर के निमित्त निश्चित की है उसमें शयन करती है—रहती है (सः-यः-चकार सः-जजार) इस शरीर को जिस परमात्मा ने बनाया वह इसे जीर्ण कर देता है।

जीवात्मा और परमात्मा दोनों समान चेतन होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न भिन्न हैं। इनके विभेदक गुण वेद में अनेकत्र कहे गए हैं। वे गुण वहां उन उन के प्रकरणों में देखें। प्रस्तुत मन्त्र में जीवात्मा को बाल से भी अणु कहा गया है। तथा अन्यत्र "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः" (श्वेता० ५।८) बाल के अग्रभाग का सौवां भाग पुनः उसका भी सौवां भाग जितना हो उसके जितना अणु जीवात्मा है। आत्मा अणु है अतएव इसका निवास हृदय में है यह वेद में भी कहा है "बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः" (अथर्व० १६।३।५) मेरा आत्मा वाणी का स्वामी और नेतामन वाला हृदय में है। जीवात्मा तो बाल से भी छोटा है उसका परिमाण तो निर्धारित कर दिया परन्तु परमात्मा तो इतना सूक्ष्म है कि वह नहीं दीखतासा है वह तो महान् से महान् और अणु से अणु भी है। जीवात्मा परिष्वङ्गधर्मो लगावधर्म रखने वाला है परमात्मा इस से रहित है। प्रधान चर्चा यहां जीवात्मा की है अतः कहा गया है कि यह जीवात्मा देवता अजर अमर है, मरणधर्मरहित है मरणधर्मी देहरूप घर में रहता हुआ भी, देह के नष्ट होने के साथ आत्मा नष्ट नहीं होता। एक-एक शरीर में एक एक अलग अलग आत्मा होता है। जीवात्मा के अन्दर लगाव धर्म है, दो वस्तुएं इसके सम्मुख हैं एक परमात्मा

और दूसरे प्रकृति या प्राकृतिक जगत्। लगाव इसे करना है पर-मात्मा से करे या प्राकृतिक जगत् से करे जिसके साथ लगाव करता है उसके धर्मों को अपने अन्दर धारण करता है, प्राकृतिक जगत् में समुद्र से भाप उठती है उसके मेघ बनते हैं, मेघों से वर्षा, वृष्टिजल नदियों के रूप में समुद्र में जा गिरता है पुनः समुद्र से भाप उठना आदि चक्ररूप है। पृथिवी अपने केन्द्र पर चक्र लगाती है दिन रात का चक्र बनाती है सूर्य की ओर चक्र लगाती है तो वर्ष मान का चक्र बनाती है एवं आकाश के ग्रहतारे नक्षत्र सितारे चक्र लगा रहे हैं, यह विश्व या कल्प भी चक्ररूप है "सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१९०।३) सूर्य चन्द्रमा को परमात्मा ने पूर्व कल्प की भांति बनाया। इस चक्ररूप जगत् से लगाव करके जीवात्मा को भी चक्र में आना पड़ता है जन्म मरण के। परमात्मा के साथ लगाव करके उसके सद्गुणों को धारण करता है। उनके गुण क्या हैं यह देखें पूर्व कथन किए ईश्वर प्रकरण में अकाम धीर अमृत आदि। पुनः जन्म मरण के चक्र से छूट जाता और ब्रह्मानन्द एवं मोक्ष को प्राप्त करता है॥

*—

ऋषिः—दीर्घतमाः=लम्बे अज्ञानान्धकार में पड़ा शरीरधारी प्राणी।

देवता—विश्वे देवाः=प्राण[1]।

नित्य, अमर, कर्मानुसार फलभोक्ता जीवात्मा वासनाओं के वश पुनः पुनः देह धारण कर्ता—

---

*—प्रलय काल में जीव मुग्धावस्था में हो जाते हैं (पढ़ो—"विश्वकर्मन् हविषा···पृष्ठ १०६)

१. "प्राणा वै विश्वे देवाः" (शत० ४।२।२।३७)

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्या-नाम् । जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः ॥

(पस्त्यानां मध्ये) घरों–घररूप प्राणिशरीरों के मध्य[1] (अनत् तुरगातु-एजत्) प्राण लेता हुआ, भोग और कर्म में शीघ्र प्रवृत्ति-वाला, आहार से रस रक्तादि परिणामार्थ कम्पायमान हुआ (ध्रुवं जीवम्-आशये) नित्य जीव तत्त्व चेतन तत्त्व आशयान है–विरा-जमान है—रहता है। वह (मृतस्य जीवः स्वधाभिः-चरति) मृत देह का जीवात्मा स्वधारणाओं, निज वासनाओं के द्वारा विचरण करता है—एक देह से दूसरे देह में जाता है (अमर्त्यः-मर्त्येन सयोनिः) वह अमरणधर्मा मरणधर्म वाले शरीर—इन्द्रियादि संघात के साथ समानस्थान हो जाता है—जन्म धारण करता है।

यह नित्य चेतन तत्त्व आत्मा प्राण लेता हुआ—जीता हुआ निरन्तर एवं शीघ्र शीघ्र भोगों और कर्मों में चलायमान हुआ भांति-भांति के देहरूप घरों में आवास किया करता है। देहरूप घरों में आवास करने का क्रम इसका चलता ही रहता है—एक देह छोडा तो पुनः दूसरे देह में उसे छोड़ा तो फिर अन्य देह में इस प्रकार क्रम बना रहता है। हां जब यह एक शरीर को छोड़ता है तब उस मृत देह का आत्मा दूसरे देह में जाता है तो अपनी शुभाशुभ वासनाओं के साथ जाकर पुनः नश्वर देह से यह अमर आत्मा संसक्त हो जाता है अपने स्वरूप को भूल जाता है अपितु देह को ही मैं समझ बैठता है। वासनावश अपने को भूल कर शरीर

---

१. 'पयस्त्यं गृहनाम" (निघं० ३।४) "विशो पस्त्याः" (शत० १२।२।६।६)

समझ कर पुनः वासनापूर्ति के लिये स्थूल भोगों के पीछे अहर्निश दौड़ धूप करता और मारा मारा फिरता है। यह है अपने को भूल जाने का फल ॥

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—पूर्ववत् ।

पुण्य पापकर्मों की शुभाशुभ वासनाओं के वश लोकों में घूमता है—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् । स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

(ऋ० १ । १६४ । ३१, अथर्व० ९ । १० । १६)

(पथिभिः-आ चरन्तं च परा-चरन्तं च) मार्गों से जन्म धारण के अर्थ शरीर में आते हुए शरीर बन्धन में पड़ते हुए और शरीर से जाते हुए—शरीर बन्धन त्याग कर मोक्ष में जाते हुए (अनिपद्यमानं गोपाम्-अपश्यम्) अविनश्वर—नित्य इन्द्रियस्वामी आत्मा को मैं जानता हूं (सः सध्रीचीः-सः-विषूचीः-वसानः) वह आत्मा सहयोजनीय वासनाओं—उपादेय वासनाओं—धर्म्यवासनाओं और विपरीत वासनाओं—त्याज्य बासनाओं—अधर्म्य वासनाओं को अपने में बसाता हुआ—धारण करता हुआ (भुवनेषु-अन्तः-आवरीवर्ति) भिन्न-भिन्न लोकों-जन्मों-योनियों-लोकस्थानों में पुनः पुनः आवर्तन करता रहता है—पुनः पुनः आता रहता है—पुनः पुनः जन्मा करता है।

इन्द्रियों का स्वामी आत्मा अर्थात् जीवात्मा नित्य है इन्द्रियों के विकृत होने से यह विकृत नहीं होता न शरीर के जीर्ण होने से जीर्ण और शरीर के नष्ट होने से नष्ठ होता है क्योकि यह अजर और अमर है। उपनिषद् में भी कहा है "न हन्यते हन्यमाने

शरीरे" (कठो० १।२।१८) नष्ट होते हुए शरीर में यह नष्ट नहीं होता। हां यह आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र होने से अपने सुकृत और दुष्कृत कर्मों के अनुरूप धर्म्य और अधर्म्य वासनाओं को अपने अन्दर बसा कर भिन्न-भिन्न मार्गों से भिन्न-भिन्न शरीरों जन्मों योनियों एवं लोकों में पुनः पुनः आता रहता है जन्म धारण किया करता है, तथा विशिष्ट सुकृत अध्यात्म अनुष्ठान से शरीर-बन्धन से पृथक् अर्थात् मुक्त भी हो जाता है। यह आत्मा वासनाओं के चक्र में अपने को भूल जाता है परन्तु अध्यात्म अनुष्ठान या अध्यात्म साधना से यह अपने को जान लेता है तब यह कह उठता है कि मैं अपने को देखता हूं—जानता हूँ इस प्रकार स्वात्मबोध के साथ ही यह अपने अन्तर्यामी देव परमात्मा की सङ्गति में अपने को पाता है उसका साक्षात् करता है यही मोक्ष है॥

ऋषिः—पूर्ववत्।

देवता—पूर्ववत्।

मन आदि से भिन्न, स्वकर्म संस्कार शक्ति से ऊंच नीच योनि को प्राप्त होनेवाला आत्मा—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥

(ऋ० १।१६४।३८)

(अमर्त्यः-मर्त्येन सयोनिः) अमरणधर्मी जीवात्मा चेतन मरण-धर्मी अर्थात् अपने से भिन्न जड मन आदि के साथ समानस्थान सहयोग को प्राप्त हुआ (स्वधया गृभीतः) स्वधारणा—स्वकृतकर्म-संस्कार शक्ति से पकडा हुआ (अपाङ्-प्राङ्-एति) नीचे ऊंचे जाता है-नीच और ऊच्च योनि को प्राप्त होता है (ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता) वे दोनों अमर्त्य और मर्त्य—चेतन और जड—आत्मा

और अनात्म मन आदि प्रवाह से सदा के साथी होते हुए भी विभिन्न रूप वाले विभिन्न प्रवृत्ति वाले हैं। परन्तु (अन्यं निचिक्युः-न-अन्यं निचिक्युः) कुछ जन इन्हें अन्य अर्थात् पृथक्-पृथक् भिन्न-भिन्न जानते हैं और कोई भिन्न-भिन्न नहीं जानते ।।

जीवात्मा स्वकृत कर्म संस्कार शक्ति से पकडा हुआ अमरणधर्मी होता हुआ भी मरणधर्मी मन आदि के साथ सङ्गत हो उच्च और नीच स्थितियों को प्राप्त होता रहता है। परन्तु ये दोनों चेतन और जड हैं स्वरूपतः पृथक्-पृथक् हैं परन्तु इन्हें भिन्न-भिन्न कोई जानते हैं और कोई इन्हें भिन्न-भिन्न नहीं जानते। यही अविवेक है और अविवेक बन्धन का कारण। अविवेक से वासना और वासना से भोग में पडता है। भोगों में पडने से नितान्त दुःखमिश्रित सुख या नितान्त दुःख को झेलता है, भोग में नितान्त सुख नहीं अपितु 'भोगे रोगभयम्' भोग में रोग भय ही प्रसिद्ध है। हां आत्मा को मन आदि से पृथक् जान कर मन आदि के संसर्ग से अमर आत्मा को अमर परमात्मा के साथ संयुक्त कर देने पर नितान्त सुख पा सकता है क्योंकि मन आदि से भिन्न ही आत्मा है अन्यथा सुख दुःख प्राप्ति की व्यवस्था नहीं बन पडती जोकि आत्मा के मन आदि से भिन्न होने पर उसके कर्म द्वारा हुआ करती है ।।

ऋषिः—दीर्घतमाः=दीर्घकाल से अज्ञानान्धकार में पडा आत्मा।

देवता—विश्वेदेवाः=प्राण।

आत्मा प्रवाहरूप से शरीर धारण करता है—

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तमनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुम् ।।

(ऋ० १।१६४।४)

(यत्-अस्थन्वन्तम्-अनस्था विभर्ति) जब कि हड्डी वाले देह को

हड्डीरहित आत्मा धारण करता है, इस (प्रथमं जायमानं कः-ददर्श) प्रथम हुए—आदि में हुए सम्बन्ध को कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं जानता—आत्मा ने प्रथम शरीर कब धारण किया यह बात जानने वाली नहीं है सृष्टि पुनः पुनः होती है प्रवाह से अनादि है अतः आत्मा का शरीर धारण करना भी प्रवाहरूप है—अनादि है। पुनः (भूम्याः-असुः-असृक्-आत्मा क्वस्वित्) जब कि भूमि का अर्थात् किसी भी लोक का प्रथम जायमान असु-प्राण-केवल प्राण-शक्ति धारी सृष्टि-वनस्पति वर्ग और असृक्-रक्तमय सृष्टि-जङ्गम मनुष्य पशु पक्षी आदि शरीरधारी गण तथा इनके अन्दर प्रविष्ट होने वाला आत्मा ये कहां थे (कः-विद्वांसं प्रष्टुम्-उपगात्) कौन विद्वान् के पास जाकर पूछे अर्थात् कोई नहीं भला कौन इसे जाने, यह तो बीज और वृक्ष के समान प्रवाहरूप हैं ॥

विद्वानों के सम्मुख यह एक बड़ा भारी प्रश्न है कि चेतन आत्मा ने जड शरीर को सर्व प्रथम कब धारण किया ? ऐसा प्रथम अवसर कब था जब कि जीवात्मा प्रथम बार शरीर में आया ? सो वेद कहता है कि इसे कोई नहीं जानता यह किसी के जानने योग्य बात नहीं क्योंकि सृष्टि तो प्रवाह से अनादि है अतः जीवात्मा का प्रथम शरीर धारणसम्बन्ध जानने योग्य न रहा उसके भी प्रवाह से अनादि होने से। यह प्रश्न तो दूर का है हमारे भूमि लोक के वनस्पति और जङ्गम मनुष्य आदि तथा इनमें रहने वाला आत्मा ये प्रथम कहां थे यह बात कौन और किस विद्वान् से पूछे यह भी पूछने बतलाने और जानने योग्य नहीं है, सभी जानते हैं और देखते हैं कि यह भी प्रवाह से ही चला आ रहा है, अतः जीवात्मा का शरीर धारण करना प्रवाहरूप है—अनादि है क्योंकि जीवात्मा अनादि है जैसे ईश्वर के अनादि होने से उसका सृष्टि रचनाकार्य प्रवाह से अनादि है। वनस्पति हो जङ्गम शरीर हो

इनमें प्राणशक्ति का उद्भव होता है आत्मा के संसर्ग से। वेद में अन्यत्र कहा है—"अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा। यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः॥" (अथर्व० ११।४।१४) आत्मा गर्भ के अन्दर श्वास लेता और छोड़ता है, जब प्राणशक्ति समस्त देहगत अङ्ग प्रत्यङ्ग में आप्त व्याप्त हो जाती है तब वह जीव बाहिर प्रकट होता है। सृष्टि के आरम्भ में भूमि के अन्दर ही अन्दर वनस्पति और जङ्गम के गर्भ बनते हैं गर्भ के अन्दर आत्मा ही प्राण और अपान की क्रिया करता रहता है, जब गर्भ के सब अङ्ग प्रत्यङ्ग का प्राण पूर्ण हो जाता है प्रत्येक अङ्ग से तथा उनमें सर्वत्र समर्थ हो जाता है तब वनस्पति या जङ्गम भूमि से बाहिर प्रकट हो जाता है। वनस्पतिसंस्थान जङ्गमशरीर और आत्मा ये प्रवाह से ही भूमि में गुप्त रूप में थे॥

*—

ऋषिः—शुक्रः=शुभ्र-ज्ञान प्रकाशवान् तथा शुद्ध शुद्धाचारी निर्मल निष्पाप जन।

देवता—अपामार्गः=अपमार्जन कर्म—परिशोधन-दोष निवारण कर्म दोषनिष्कृति।

पाप का कर्ता दुःख भोक्ता है, जीवात्मा कर्मकर्ता फल-भोगता है—

असद् भूम्याः समभवत् तद् द्यामेति महद्व्यचः।
तद्वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु॥

(अथर्व० ४।१९।६)

(असत्) असद् व्यवहार—पाप (भूम्याः समभवत्) भूमि से

*—कर्मकर्ता कर्म करने के हेतु मानव जीवन तथा सामान्य आयु १०० वर्ष। (पढ़ो—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" पृष्ठ १६०)।

उत्पन्न होता है तो (तत्-महत्-व्यचः-द्याम्-एति) वह महान् विकसित हो आकाश को पहुंच जाता है अर्थात् निज उपज भूमि तक नही रहता—उस क्षेत्र या गुप्त स्थान तक नहीं रहता किन्तु ऊंचे चढ जाता है फूलता फलता हुआ दूर तक पहुंच जाता है (ततः-तत्-वै) फिर तो वह (विधूपायत्) विपरीत सन्तप्त करता हुआ—प्रतिकूल कष्ट देता हुआ वज्ररूप में (प्रत्यक् कर्तारम्-ऋच्छतु) निवृत्तिमुख हो—लौटता हुआ कर्ता को प्राप्त होता है।

मन्त्र में पापकर्मकर्ता का चित्र खींचा है कि पाप करने वाला जन यह समझता है कि पाप मैंने कर लिया बस वह मुझ तक ही रहा उसे किसी अन्य ने नहीं जाना। जान लेने पर भी क्या हुआ मैं धनवान् हूं बलवान् हूं सत्तावान् हूं मेरा कोई बिगाड़ भी सकेगा क्या ? फिर जितना किया उतना ही तो बिगाड़ होगा । पर यह बात नहीं क्योंकि पाप अपनी उत्पत्तिभूमि तक या उस में गुप्तरूप में उस में छिपा हुआ नहीं रहता किन्तु वह तो बीजाङ्कुर की भांति फूलता फलता हुआ ऊपर आकाश में प्रकटरूप धारण कर लेता है पाप छिपाने से नहीं छिपता है वह तो लोगों में विद्युत् के समान शीघ्र फैल जाता है पुनः फैलकर ही नहीं रह जाता किन्तु पापकर्ता को अपनी उपज भूमि को प्राप्त हुए पके फलों के समान प्राप्त होता है। यदि विषाङ्कुर हो तो उसके पके विषफल झड़ते हुए पुनः उपज भूमि पर आ गिरते हैं ऐसे पापकर्मका पका फल विधूपायमान हुआ प्रहार करता हुआ पापकर्ता को प्राप्त होता है अपितु न केवल उतने ही रूपमें जितना कि अपनी उपजभूमि पापकर्ता से पाप प्रकट हुआ किन्तु शतगुणित और सहस्रगुणित हो एक बीजाङ्कुर से पके असंख्य फलबीजों के समान प्राप्त होता है। अतः पाप के बीज को नष्ट कर अपनी जीवनभूमि में पुण्यकर्म के बीज बोने पुण्य अंकुर उपजाने चाहिए पुण्य फलप्राप्ति के लिये ॥

ऋषिः—यमः=यमनशील—संयमी जन।

देवता—अग्निः=उन्नति की ओर ले जाने वाला अग्रणायक परमात्मा।

पुण्यकर्म का कर्ता सुख को भोगता है, कर्मकर्ता फलभोक्ता—

न किल्विषमत्र नाधारो अस्ति यन्मित्रैः समम-मान एति। अनूनं पात्रं निहितं न एतत्पक्तारं पक्वः पुनराविशाति।

(अथर्व० १२।३।४८)

(अत्र न किल्विषम्) मुझ संयमी के दानादिकर्म में पापाचरण नहीं है (आधारः-न-अस्ति) पाप का आधार—कारणरूप अविद्या या वासना आदि भी नहीं है (न मित्रैः सममममानः-एति) न अपने मित्रों साथियों के साथ अर्थात् वित्तैषणा—लोभ, लोकैषणा—मान, पुत्रैषणा—मोह आदि दोषों को सङ्ग करता हुआ आता है, ये पाप के मित्र भी संयमी में नहीं हैं (नः पात्रम्-अनूनं निहितम्) हमारा दानादि पुण्यकर्म का पात्र या श्रेष्ठ कर्म का पात्र परिपूर्ण है और ढका हुआ है (पक्वः कर्तारम्—एतत् पुनः-आविशाति) पका हुआ कर्मविपाक—कर्म का फल बन कर पकाने वाले कर्मकर्ता को यह फिर प्राप्त होता है।

यहां मन्त्र में पुण्यकर्मकर्ता का चित्र खींचा है कि हम संयमीजनों दानादि पुण्य कर्मकर्ताओं में पापाचरण नहीं है। हो भी कैसे? पाप का आधार अविद्या वासना आदि भी हमारे में नहीं है अविद्या और वासना ही पाप का मूल है, अविद्यावश मनुष्य परघात परधन का अपहरण आदि दुष्कर्म करता है और वासना से व्यसनों में फंसता है। अच्छा! ये पाप के आधार या मूल न हों कहीं पाप के मित्रों-साथियों "वित्तैषणा अर्थात् लोभ, लोकैषणा अर्थात् मान की इच्छा, पुत्रैषणा अर्थात् पुत्रादि का मोह" के साथ

पाप आजावे सो ऐसा भी नहीं है। पुनः हमारा कर्मपात्र जिसमें कर्म सञ्चित रहते हैं या कर्म स्थान पाते हैं वह अन्तःकरण पुण्य-कर्मों से पूर्ण भरा हुआ है हम लोग संयमपरायण हैं उसमें प्रतिकूल वस्तु पापकर्म कैसे आस के संयम से भरा हुआ है साथ ही हमारा कर्मपात्र अन्तःकरण ढका हुआ भी है—वैराग्य से ढका हुआ है उसमें अन्यथा प्रवेश अशक्य है। यह ठीक है कर्म का फल तो उसके कर्ता को प्राप्त होता ही है, जैसे किसान बीजांकुर को पकाता है तो उसे खेत का पका अन्न फल मिलता है अथवा जैसे भोजन-पाककर्ता भोजन पकाता है उसे रसोई का पका भोजन प्राप्त होता है। एवं कर्मविपाक-कर्म का फल कर्मकर्ता को अवश्य प्राप्त होता है, पुण्यकर्म का फल अवश्य अच्छा फल मिलता है शीघ्र या देर में यथाकर्म यथास्थिति।

ऋषिः—दीर्घतमाः=दीर्घकाल से अज्ञानान्धकार में पडा आत्मा।

देवता—विश्वेदेवाः=प्राण।

जीवात्मा भोक्ता है, परमात्मा भोक्त नहीं साक्षी है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(ऋ० १।१६४।२०)

(द्वा सुपुर्णा सयुजा सखाया) दो सुपर्ण—पक्षी की भांति सुन्दर गमनागमन धर्मवाले—सुन्दरप्रवृत्तिनिवृत्तिधर्म के रखनेवाले, परस्पर युक्त होनेवाले समान सम्बन्धी, समानस्थान—समान-चेतन स्वरूप वाले जीवात्मा और परमात्मा[1] (समानं वृक्षं परिषस्व-जाते) एक वृक्ष—वृक्षसमान भिन्न भिन्नधर्मी कार्यरूप—प्राकृतिक जगत् को आश्रित किए हुए हैं (तयोः) उन दोनों जीवात्मा और

१. "अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते" (सायणः)

परमात्मा में(अन्य: पिप्पलं स्वादु-अत्ति)एक-जीवात्मा फल को स्वाद-वाला जानकर खाता है—भोगता है (अन्य:-अनश्नन्—अभिचाक-शीति) दूसरा—परमात्मा न भोगता हुआ साक्षित्व करता है-साक्षी बनकर रहता है।

जीवात्मा और परमात्मा दोनों ज्ञानवान्, चेतन, परस्पर मित्र और समानधर्मी हैं एक ही वृक्षसमान संसार से दोनों का सम्पर्क है। परन्तु इन दोनों में जीवात्मा तो अल्पज्ञ होने के कारण इस जगद्रूपवृक्ष के फल को स्वादवाला समझकर भोगता रहता है तथा एक-देशी होने से इस जगद्रूपवृक्ष की पृथक् पृथक् शाखाओं पर भ्रमता और भटकता रहता है। किन्तु परमात्मा सर्वत्र होने से उसे भोग की अपेक्षा नहीं अपितु भोगते हुए जीवात्मा का साक्षी बना हुआ है तथा सर्वव्यापक होने से इस जगद्रूपवृक्ष का आश्रय है तथा इसका रचयिता भी है। जीवात्मा और परमात्मा यद्यपि दोनों परस्पर सखा हैं परन्तु जीवात्मा अपनी अल्पज्ञता के कारण परमात्मा से सखापन का लाभ न उठाकर जगद्रूपवृक्ष से फलों को स्वादुमान उनमें आसक्त हो जाता है पर जब फल भोग के परिणाम महा कष्ट-संकटों में पड़ता है या दूरदर्शिता से फल-भोग के परिणाम को विचारता है तो फिर उस सखा परमात्मा की शरण लेता है तब परमात्मा उसे अपनाता है इसके सखापन की इच्छा को स्वीकार कर इसे अपने शुभगुण और आनन्द प्रदान करता है। इस सखा-पन में जीवात्मा से परमात्मा कुछ भी नहीं लेता किन्तु जीवात्मा को उसका घर प्रदान करता है उस ऐसे निःस्पृह सखा की शरण सदा अपनाना मानव के परम कल्याण का साधन है॥

❀—

*—जीवात्मा भोक्ता, त्याग से भोगने का उपदेश, (पढ़ो—"ईशा वास्य···त्यक्तेन भुञ्जीथा:···" पृष्ठ १५७)

*—

ऋषि:—दीर्घतमा:=दीर्घकाल से अज्ञानान्धकार में पड़ा आत्मा।

देवता—विश्वे देवा:=शरीर में प्रकट होने वाले प्राण-इन्द्रियां।

अल्पज्ञ, शरीर इन्द्रिय मन के सम्बन्ध से पूर्व विशेषज्ञ, मुक्ति से पुनरावृत्ति—

न विजानामि यदिवेदमस्मि निण्य: सन्नद्धो मनसा चरामि। यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भगमस्या: ॥

(ऋ० १। १६४। ३७)

(यत्-इव-इदम्-अस्मि न विजानामि) जैसा ही—यथावत् जैसा यह मैं हूं नहीं जानता। क्योंकि (मनसा सन्नद्ध:-निण्य:-चरामि) मन से ढका हुआ—मनोवृत्तियों से घिरा हुआ अतएव छिपा हुआ[1] विचरता हूं, मन से ढके हुए होने के कारण मैं आत्मा अपने को कुछ ही-अल्प ही जानता हूं, यथार्थ नहीं जानता हूं यह ऐसा कबसे हुआ सो (यदा-ऋतस्य प्रथमजा:-मा-आगन) जब कि ऋत—सत्य सत्-विद्यमानपदार्थों के साधुरूप मूल उपादान कारण प्रकृति के प्रथमोत्पन्न-महतत्त्व, अहङ्कार, मनसहित दोनों इन्द्रियगण मुझे प्राप्त

---

*—जीवात्मा अल्पज्ञ है सृष्टिरचना को पूर्णरूप से नहीं जान सकता (पढ़ो—'को अद्धा वेद ' पृष्ठ १५३)
बद्ध जीवात्मा अगणित और मुक्त भी असंख्य हैं,बद्ध जीवों के भिन्न भिन्न अदृष्ट से भिन्न भिन्न ऊंची नीची योनि में जन्म लेना,पढ़ो— "तिरश्चीनो विततो ..." पृष्ठ १५२)

१. "निण्य:—अन्तर्हितनाम" (निघं० ३।२५)

हुए[1] (आत्-इत्-अस्याः-वाचः-भागम्-अश्नुवे) बस फिर मैं इस वाणी के भाग को प्राप्त हो गया हूं—शरीर धारण कर वाणी को बोलने लगा हूं=मैं बोलता हूं इसलिए मैं इतना मात्र अपने को जानता हूं, यथार्थ मैं क्या हूं यह नहीं जानता, थोड़ा ही जानता हूं हां बन्धन से पूर्व मैं अपने को यथार्थ जानता था पुनः बन्धन छूटने पर यथार्थ जान सकूंगा क्योंकि तब विशेषज्ञ बन जाऊंगा अब तो मैं अल्पज्ञ हूँ।

जीवात्मा शरीर के अन्दर आकर और मनोवृत्तिरूप रज्जु में बन्ध कर अपने यथार्थ स्वरूप को भूल गया। हां! शरीरधररण कर जब बोलने लगा तो बस अपने को इतना ही जान पाया कि मैं बोल रहा हूँ बोलने वाला हूं चेतन हूं, परन्तु पूर्णरूप से अपने को न जान सका। जब अपने को ही पूर्ण रूप से नहीं जानता तो फिर विस्तृत संसार को अनन्त गुणकर्मशक्तियुक्त अनन्त परमात्मा को पूर्णरूप से कैसे जान सकता हूं? ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है कि बड़े से बड़ा योगी भी परमात्मा को पूर्णरूप से नहीं जान सकता, यह ठीक ही लिखा। जब पूर्णरूप से परमात्मा को नहीं जान सकता तब उसके कौशल कलायन्त्र जगत् को भी पूर्ण रूप से कैसे जान सके? इतना ही नहीं जगत् के एक भाग का भी पूर्ण ज्ञान करने में जीवात्मा असमर्थ है। पृथिवी के गर्भ के पदार्थों की तो क्या इसके ऊपर वाले पदार्थों वनस्पतियों प्राणियों का भी कोई पूर्ण ज्ञानी नहीं। मनुष्य की शरीररचना को भी जानता चला जाता

१, "प्रकृतेर्महान् महतोहङ्कारः···उभयमिन्द्रियं···" (सांख्य १।६१)
"महदादिक्रमेण-प्रात्मार्थत्वात् प्र्ष्टेः" (सांख्य २।१०-११)
"पुरुषार्थं करणोद्भवः,' (सांख्य० ३।१६)
"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भुस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्त-रात्मन्" (कठो० २।१।१)

है और जानता चला जायगा। आकाश के तारों के पूर्ण ज्ञान की तो कथा ही क्या ? सूर्य में क्या है चन्द्रमा में क्या है इसके ज्ञान का अन्त नहीं पाया। बस यही जीवात्मा की अल्पज्ञता है, अतएव जीवात्मा अल्पज्ञ है। हां अपने को यह पूर्ण जान सकता है जब कि यह शरीर तथा मन के बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मा की शरण लेले, अग्नि की शरण में आकर मलरहित हुए स्वर्ण की भांति स्वरूप में आ जावे। कहा भी है "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छान्दो० ८।१२।३) पर ज्योति परमात्मा को प्राप्त होकर जीवात्मा अपने रूप से सम्पन्न होता है। अतः यहां मन्त्र में जीवात्मा की आन्तरिक वेदना है कि मैं अपने को यथार्थ नहीं जानता कि मैं ऐसा हूं शरीररूप बक्स में और मनोवृत्ति-रूप बन्धनों से बन्धा हुआ मैं अपने को भूल गया अपने स्वरूप से विचलित हो गया। हे अन्तर्यामिन् परमात्मदेव ज्योतिःस्वरूप जगदीश देव ! मुझे अपनी शरण में लेकर मलों दोषों से पृथक् बन्धनों से मुक्त अपने प्रकाश से प्रकाशित कर अपने आनन्द से आनन्दित कर। यह मेरी वाञ्छा अवश्य पूरी कर॥

*—

इस प्रकरण का सार—

जीवात्मा ज्ञानवान् चेतन तत्त्व है, शरीर इन्द्रियों मन से पृथक् तथा परमात्मा से भी स्वरूपतः पृथक् सत्ता। जीवात्मा के शरीरधारण करने का आदि नहीं हैं किन्तु प्रवाह से अनादि है। स्वकृत कर्मानुसार भिन्न भिन्न शरीर धारण करता है, भिन्न भिन्न योनि और लोकों में जाता है, पापकर्म का दुःख और पुण्य कर्म का सुख फल

---

*—जीवात्मा इन्द्रियविषयलोलुप होकर वासना से निगृहीत हुआ स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरो में बन्धता है। परमात्मा की शरण से मुक्त होता है। (पढ़ो—"शुनः शेपो ह्यह्वद्‌"पृष्ठ २५)

वह भोगता है कर्म का फल कर्ता को प्राप्त होता है, जीवात्मा कर्ता और भोक्ता है। अनित्य एवं नश्वर शरीर इसका घर है जीवात्मा नित्य अजर अमर है लगावधर्मवाला है। अल्पज्ञ है, सृष्टिरचना को पूर्णरूप से जान नहीं सकता। प्रलय में मुग्ध होकर रहता है। बद्ध जीव तथा मुक्त जीव अगणित हैं असंख्य हैं। यह इन्द्रिय-लोलुप होकर वासनाओं में फंसकर स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर के अन्दर बन्धन में आता है। बन्धन से पूर्व मुक्त था। मनुष्य भोग और कर्म योनि होने के कारण त्याग से भोग करता हुआ जीवन को कर्म करने के हेतु समझता हुआ अध्यात्म कर्मों का अनुष्ठान और परमात्मसत्सङ्ग से पुनः मुक्त हो सकता है।



अन्तःकरण

अन्तःकरण और बहिष्करण आत्मा के दो प्रकार के करण अर्थात् साधन हैं नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियां और हस्त आदि कर्मेन्द्रियां बहिष्करण अर्थात् बाहिरी साधन हैं, ये प्रत्यक्ष हैं और स्पष्ट हैं स्वयं भी अनायास समझे जाते हैं और अन्य जन को भी बतलाए जा सकते हैं। परन्तु अन्तःकरण भीतरी करण हैं इनका दूसरों को बतलाना तो दूर रहा किन्तु स्वयं भी समझना कठिन है अन्दर होने के कारण। जैसे बहिष्करण—बाहिरी करणों के स्वरूप और कार्य पृथक् पृथक् हैं एवं अन्तःकरण—भीतरी करणों के स्वरूप और कार्य भी पृथक् पृथक् अवश्य हैं। परन्तु ये बहिष्करणों की भांति स्थूल या ठोस न होकर सूक्ष्म होने से इनके स्वरूप और कार्यों में विवेक करना भेद करना या पहिचानना दुष्कर है, ये एक प्रकार से विद्युतत्तरङ्ग के समान हैं। इन भीतरी करणों के नाम मन बुद्धि, चित्त, अहङ्कार हैं इनमें अत्यन्त सूक्ष्म भेद होने के कारण कोई कोई शास्त्रकार अपने अपने क्षेत्रानुसार इन्हें किसी एक नाम से ही कहते हैं। वेद में इनका पृथक् पृथक् नामों से भी प्रतिपादन है[1] और केवल एक मन नाम से अन्तःकरणचतुष्टय का तथा

---

१. मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये मत्यै श्रुताय चक्षसे।
विधेम हविषा वयम् ॥ (अथर्व० ६।४१।१)

(मनसे) मन के लिये (धिये) बुद्धि के लिए (चेतसे) चित्त के लिये (आकूतये) अहङ्कृति के लिये—अहकांर के लिये "आकूतो नाम प्राङ्मनसः प्रवृत्तेरात्मनो धर्मो मनःप्रवृत्तिहेतुः,, (उव्वटः—यजु० १८।५८) (उत) तथा (श्रुताय) श्रवण के लिये (मत्यै) मनन के लिये (चित्तये) निदिध्यासन के लिये (चक्षसे) साक्षात्कार के लिये (हविषा विधेम) आत्मभाव से आचरण करे।

पृथक् पृथक् प्रत्येक का भी व्याख्यान किया है । यहां प्रथम दो मन्त्रों में अन्तःकरण चतुष्टय को दिखला कर पश्चात् अन्य चार मन्त्रों द्वारा प्रत्येक का मन नाम से ही पृथक् पृथक् वर्णन करेंगे। अब प्रथम दो मन्त्रों में मन नाम से अन्तःकरणसामान्य का वर्णन देखें।

अन्तःकरण सामान्य—

ऋषिः—शिवसङ्कल्पः=कल्याणकर सङ्कल्पवाला मन।

देवता—मनः=अन्तःकरण।

मानव के कर्मकलाप का आधार अन्तःकरण कल्याणमयी स्फुर्तिवाला हो—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४।२)

(यत्) जो (प्रजानाम्) प्राणियों का (अन्तः) अन्तःकरण-रूप (मनः) मन (अपूर्वम्) सर्वप्रथम—आत्मा के करणों में जिससे पूर्व कोई करण प्रकट नहीं हुआ प्रमुख करण (यक्षम्) सङ्गमनीय—ग्राह्य है (येन) जिसके द्वारा (मनीषिणः) विचार-परायण विद्यानिःष्णात विद्वान् जन (यज्ञे) यजनीय—सङ्गमनीय ज्ञानक्षेत्र में (कर्माणि) विहित कर्मों विशेष कर्मों को। तथा (धीराः) दृढ़ कर्मठ वीरजन (विदथेषु) योग क्षेम एवं संघर्ष के अवसरों में[1] (अपसः) व्यापक कर्मों—साधारण कर्मों लौकिक कर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं (तत्) वह (मे) मेरा अन्तःकरण-रूप मन (शिवसङ्कल्पम्-अस्तु) कल्याणकर अन्तःस्फुर्तिवाला हो।

संसार में कर्मकर्ता जन दो प्रकार के हैं उनके कर्म भी द्विविध

---

१. "विदथं सग्रामनाम"

तथा कर्मक्षेत्र भी दो हैं । प्रथम श्रेणी में कर्मकर्ता मनीषी अर्थात् मस्तिष्कशक्तिसम्पन्न वैज्ञानिक शिक्षित है, कर्म है विशेष अर्थात् शास्त्रीय एवं ज्ञानप्रधान और कर्मक्षेत्र है यजनीय सङ्गमनीय ध्यान ज्ञानव्याख्यान का स्थल मण्डप सभा सम्मेलन । द्वितीय श्रेणी में कर्मकर्ता हैं लौकिक साधारण कर्मठ जन, कर्म हैं 'अपस्' व्यापक सामान्य अर्थात् श्रमप्रधान, और कर्मक्षेत्र है संघर्षस्पर्द्धा स्थल । इसप्रकार वैज्ञानिक लौकिक शिक्षित अशिक्षित समस्त कर्मकर्ताओं, विशेष और सामान्य कर्मों अर्थात् ज्ञानप्रधान और श्रमप्रधान कर्मों, सकल ध्यानज्ञानस्थल सभासम्मेलन और संघर्ष स्पर्द्धा स्थलों का अवलम्ब—सहारा अन्तःकरण है । अन्तःकरण में ही कर्म की प्रथम अन्तःस्फुर्ति होती है, यही शरीरयन्त्र के कलाचक्रों का मूल प्रसाधन (पुर्जा) है इसके हिलने से शरीर के प्रत्येक अङ्ग के क्रियाकलाप बन पडते हैं "यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति" अन्तःकरण में ध्यान आता है वाणी उसे कहती है पुनः वाणी जिसे कहती है अङ्गों से वह किया जाता है । यह तो वाणी के माध्यम से कथन है पर विना वाणी द्वारा कथन के सीधे मन से ही कर्म की प्रेरणा हुआ करती है, कुछ हो बाह्य जीवन का आधार अन्तःकरण है । मानव जीवनरूप भवन की भूमिका या आधारस्थली अन्तःकरण ही है । यह ठीक है तो सब कुछ ठीक हुआ करता है । सबल भूमिकावाला भवन सङ्कट अवसर में भी स्थिर रहता है निर्बल भूमिकावाला भवन गिर जाया करता है । संसार में बड़े बड़े ऋषि मुनि सन्त महन्त मनस्वी महात्मा सुखी सम्पन्न इस अन्तःकरण के समुचित होने से बने तथा अज्ञ मूढ पापी पामर नीच निकृष्ट उन्मत्त प्रमत्त दुःखी दरिद्र भी अयोग्य अन्तःकरण के कारण ही बने । अतः अन्तःकरण को शिवसङ्कल्प—कल्याणमयी अन्तःस्फुर्तिवाला हो यह यत्न करना चाहिए ॥

ऋषिः—पूर्ववत् ।

देवता—पूर्ववत् ।

अन्तःकरण का हृदय में स्थित होना और मनुष्यों को घोड़ों की भांति संसार में घुमाना—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

(यजु० ३४ । ६)

(यत्-मनः) जो अन्तःकरणरूप मन (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में प्रतिष्ठावाला—हृदय में प्रतिष्ठित[1] (अजिरम्) अजनशील चलस्वभाववाला (जविष्ठम्) अत्यन्त वेगवान् हुआ (सुषारथिः-इव) उत्तम सारथि सा बन (अभीशुभिः) लगामों से (वाजिनः-अश्वान्-इव) बलवान् घोडों की भांति (मनुष्यान्) प्राणियों को[2] (नेनीयते) जहां तहां निरन्तर लेजाया करता है (तत्-मे) वह मेरा अन्तःकरणरूप मन (शिवसङ्कल्पम्-अस्तु) कल्याणकारी प्रेरणावाला हो ।

अन्तःकरणरूप मन मनुष्यों को संसार में जहां तहां लेजानेवाला एक प्रबल और कुशल सारथि है, इसका स्थान शरीररथ में हृदय है या यों कहिए कि शरीर यन्त्र के मूल स्थान हृदय में मन विद्युत् के समान युक्त हो मानव शरीरों की एक एक कला को गति देता है । हस्त नेत्र आदि बहिष्करणों के स्थान शरीर के बाहिर हैं परन्तु अन्तःकरण का स्थान शरीर के अन्दर हृदय है । हृदय से समस्त शरीर में प्राणसञ्चार और रक्तप्रचार होता है इससे यह

१. "कस्मिन्नु मनः प्रतिष्ठितं भवतीति हृदय इति"(शत०१४।२।६।२५)
२. "मनुष्या वै जन्तवः" (शत० ७ । ३ । १ । ३२)

कहा जासकता है कि शरीर के प्रत्येक प्राणतन्तु और प्रत्येक रक्तकण पर अन्तःकरण का अधिकार है। समस्त इन्द्रियां अन्तःकरणरूप कीली पर घूमती हैं तथा इनके सद्-असद् व्यवहनों का निमित्त अन्तःकरण ही है और यह आत्मा से भिन्न वस्तु है[1]। मानव की जीवनयात्रा का सफल और विफल होना अन्तःकरण पर निर्भर है है। अतः अन्तःकरण को कल्याणकारी प्रेरणावाला बनाना चाहिए॥

मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये चार अन्तःकरण के भेद हैं, इनमें से प्रत्येक के दो दो धर्म हैं। मन के सङ्कल्प और विकल्प अर्थात् प्राप्ति की इच्छा और निषेध की इच्छा, बुद्धि के सन्देह और निर्णय, चित्त के भूतस्मरण और भावीस्मरण—आगे का सोचना, अहङ्कार के अहम्भाव और ममभाव अर्थात् मैं और मेरा। वेद में इन चारों का पृथक् पृथक् विवरण एवं विशेष प्रदर्शन भी एक मन नाम देकर किया है, अत्र यह देखें।

ऋषिः—शिवसङ्कल्पः=कल्याणकारी सङ्कल्पवाला मन।

देवता—मनः=मन (सङ्कल्प विकल्प कर्मवाला अन्तःकरण मन)।

मन जागतेहुए भोग की सोतेहुए वासना की ओर दौडा करता है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४।१)

(यत) जो मन (जाग्रतः) जागते हुए मनुष्य का (दैवम्) देवों—इन्द्रियों के विषय को (दूरम्-उदैति) दूर तक उत्क्रान्त होजाता है—चला जाता है (तत्-उ) उसी दैव—इन्द्रियों के विषय-

---

१. "मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पताम्" यजु० १८।२९)
"आत्मानं ते मनसारादजानाम्" (यजु० २९।१७)

संस्कार को (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथा-एव-एति) वैसे ही उसी भांति चला जाता है (दूरङ्गमम्) दूर जाने वाला दूर दूर तक जानेवाला (ज्योतिषाम्-एकं ज्योतिः) ज्योतियों का विलक्षण ज्योति (तत्-मे मनः शिवसङ्कल्पम्-अस्तु) वह मेरा मन कल्याणकारी इच्छावाला हो।

मन विद्युत् के समान पतनशील एवं तीव्रगतिवाला है। केनोपनिषद् में कहा भी है कि किस देव से प्रेरित हुआ मन अपने अभीष्ट पर गिर जाता है[1] तथा मन को तीव्र गतिवाला या शीघ्र गतिवाला वेद में अन्यत्र उपमा के मिष से कहा भी है कि मन के समान तुरन्त मार्गतय करने वाला[2]। मन जागते हुए तो अपने अभीष्ट पर दूर से दूर तक जाता ही है परन्तु सोते हुए भी वाञ्छित संस्कार एवं वासनाप्रपञ्च को पहुंच जाता है यद्यपि सोते समय इन्द्रियां कार्य नहीं करती हैं तथापि मन में सामर्थ्य है कि जागृत के सदृश जागृतव्यवहार के संस्कार से विषयों की कल्पना कर लेता है। मन सचमुच ज्योतियों का ज्योति है, जब सूर्य नहीं अग्नि पास नहीं प्रदीपप्रकाश नहीं तब मनोज्योति के सहारे मनुष्य कार्यकरता ही है। मनमें सदा सङ्कल्प (अभीष्ट-प्राप्तिकी इच्छा) और विकल्प (अनिष्ट-परिहार की इच्छा) उठा करतेहैं[3] इन सङ्कल्पविकल्पों को शिव अर्थात् कल्याणकारी बनाना है जिससे व्यक्ति परिवार समाज और राष्ट्र का हित या कल्याण सिद्ध हो वह शिवसङ्कल्प है तथा जिस विषय में मनुष्य अपना अधिकार समझता है उसे दूसरे के लिये भी सुरक्षित रखे वैसा कर्तव्य पालन करे अर्थात्

---

१. "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" (केनोप० १।१)

१. "मनो न योऽध्वनः सद्य एति" (ऋ० १।७१।९)

३. "मनसा सङ्कल्पयति" (अथर्व० १२।४।३१)

"मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकम्" (दयानन्दः-यजु० ३१।१)

अधिकार और कर्तव्य को एक रेखा पर लाना एक सूत्र में संयुक्त करना शिवसङ्कल्प कहाता है, ऐसे सङ्कल्पवाला मन को बनाकर अपना तथा सब का हित साधना मानवधर्म है। शिवसङ्कल्पवाला मन मानव को उठाता है और अशिवसङ्कल्पवाला मन गिराता है। कहा भी है "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" (मैत्र्यु० ६।३४) मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण हैं॥

और भी—

ऋषिः—ब्रह्मा=मनस्वी ब्रह्मज्ञानी विद्वान्।

देवता—कामः=सङ्कल्प—इच्छा।

क्रियाकलाप से पूर्व मन में सङ्कल्प का उठना, पुनः पुनः आवृत्ति से बढना—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। स काम कामेन बृहता मयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥

(अथर्व० १३।५२।१)

(कामः) इच्छा—सङ्कल्प (अग्रे समवर्तत) प्रथम वर्तमान होता है (तत्-यत्) वह जो कि (मनसः प्रथमं रेतः-आसीत्) मन का प्रथम बल—धर्म है (सः- काम) वह तू काम! ओ तू सङ्कल्प! (बृहता कामेन) पुनः उद्यत हुए—उठे हुए सङ्कल्प के साथ[1] (सयोनिः) समानस्थानी—समानक्षेत्र—एकाङ्ग हुआ (यजमानाय) अध्यात्म यज्ञ के याजक मुझ आत्मा के लिये[2] (रायस्पोषं धेहि) ऐश्वर्य की पोष—सद्योग रूप

---

१. "बृहू उद्यमने" (तुदादि०)

२. "इन्द्रो वै यजमानः" (शत० ६।५।२।१६)

मुक्तिशक्ति--मोक्ष की ओर प्रवृत्ति को नियत कर--मेरे अन्दर स्थापित कर।

ओ मेरे मन के सङ्कल्प ! मैं जानता हूं तू मन का बल है प्रबल धर्म है मेरे मन की समस्त प्रवृत्ति का उसके ह्रास और विकास का कारण है आधार है। तू ही क्रिया-कलाप से प्रथम मानव के सम्मुख आता है और तू पुनः पुनः उठकर अपने जैसे सङ्कल्पों की सेना को खडी कर लेता है पुनः पुनः अपना आवर्तन कर निरन्तर बलवान् बनता चला जाता है विद्युत्तरङ्ग की भांति मानव के अन्तः-स्थल को आन्दोलित कर देता है। यह सब ठीक है तू उठ पुनः पुनः उठ तू अपनी सजीतीय सेना बढा, पर प्यारे ! तू शिवरूप में भद्ररूप में उठ अपनी शिवसेना भद्रसेना को बढा मेरे पाप अनिष्ट को मिटाकर उस पर विजय पाकर समस्त ऐश्वर्य की ऊंची पदवी जो मुक्ति है उसे मुझे दिला। मेरे मन के संकल्प ! हां तू शिवरूप में उठ और मुझे मेरे शिव की ओर लेजा उससे मिला।

ऋषिः—शिवसङ्कल्पः=कल्याणकार सङ्कल्पवासा।

देवता—मनः=मन (सन्देह निर्णय धर्मवाला अन्तःकरण चतुष्टय में से बुद्धिरूप मन)।

वस्तुविज्ञान और कर्तव्यबोधन का साधन बुद्धि—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

(यजु० ३४। ३)

(यत् प्रज्ञानम्) जो प्रकृष्ट ज्ञानसाधन प्रज्ञा—बुद्धि[1]। तथा (चेतः) चेतवानी का साधन (च) और (धृतिः) धारणा का

---

१. "प्रजानाति येन तद् बुद्धिस्वरूप" (दयानन्दः-यजु० ३४। ३)

उपकरण है। तथा (यत्) जो (प्रजासु) मनुष्यों में (अन्तः-अमृतं ज्योतिः) अमृत अन्तर्ज्योति भीतरी ज्योति है न बुझनेवाली याव-ज्जीवन—रहनेवाली है (यस्मात्-ऋते) जिसके विना (किञ्चित् कर्म) कुछ कर्म (न क्रियते) नहीं किया जा सकता है (तत्-मे मनः-शिवसङ्कल्पम्-अस्तु) वह मेरा बुद्धिरूप मन सत्य निश्चय वाला हो।

वस्तु को यथार्थ जानने, निर्णय पर पहुंचने और सावधान रहने एवं सावधान होने का साधन बुद्धि है। अकस्मात् नवीन वस्तु को देखकर प्रथम उस पर सन्देह दृष्टि होती है सन्देह्य भागों विषयों में जिज्ञासा होकर पुनः निर्णय पर मनुष्य पहुंचता है, यह सब बुद्धि के द्वारा होता है। जैसे कि बाहिरी ज्योति से वस्तु एवं अवस्तु की स्थिति स्पष्ट हो जाती है ऐसे ही यावज्जीवन रहने वाली भीतरी ज्योति बुद्धि से मानव अपने मानवीय जीवन-यात्रा के सुसम्पादनार्थ सुपथ और कुपथ, कर्तव्य और अकर्तव्य, उपादेय और अनुपादेय को जान लेता है। इस महामूल्य ज्योति को अन्यथा सन्देह और निर्णय में व्यय न करके उचित सन्देह स्थलों में लगा कर पुनः उचित निर्णय पर पहुंचना इसका सत्प्रयोग और आवश्यक कृत्य है। ऐसा करके ही मनुष्य बड़ी बड़ी कठिन समस्याओं को सुलझाता है। कला विद्या विज्ञान का आविष्कार करता है, भूमि और आकाश की टटोल किया करता है और मानव जीवन के बहुमूल्य रहस्यों का उद्घाटन करता है तथा परम लक्ष्य को पाता है॥

ऋषिः—शिवसङ्कल्पः=कल्याणकारी सङ्कल्पवाला जन।

देवता—मनः=मन (भूतस्मरण-भावीस्मरण-धर्मवाला अन्तः-करणचतुष्टय में से चित्तरूप मन।

भूत वर्तमान भविष्यत् के स्मरण ज्ञान का साधन चित्त—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्प-
मस्तु ॥

(यजु० ३४।४)

(येन-अमृतेन) जिस स्थिर धर्मवाले=-यावज्जीवन रहने वाले[1] चित्तरूप मन से (इदं सर्वम्) यह सब (भूतम्) पिछला (भुवनम्) वर्तमान (भविष्यत्) आगे आने वाला ज्ञान (परिगृहीतम्) पकडा हुआ अधिकृत किया हुआ है। तथा (येन) जिसके द्वारा (सप्तहोता यज्ञः) सात-होताओं वाला यज्ञ--पांच ज्ञानेन्द्रियों मन और बुद्धिरूप होताओं[2] अपने अपने विषयों के प्रदाताओं का स्मृतिरूप यजनकार्य (तायते) विस्तृत किया जाता है फैलाया जाता है (तत्-मे मनः शिवसङ्कल्पम्-अस्तु) वह चित्तरूप मेरा मन पुण्यस्मृति वाला हो।

पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द तथा मन का सङ्कल्पविकल्प व्यवहार और बुद्धि का सन्देह निर्णयरूप कार्य ये सात जैसे भूतकाल में अनुभव किये वर्तमान में किए जा रहे हैं और भविष्य में किए जाने वाले हैं या जिन पर लक्ष्य तथा ध्यान है ये सब चित्त के अधीन हैं इनका स्मरण चित्त के द्वारा होता है। जो मनुष्य अपने अयुक्त कर्म के परिणाम को भूल जाता है और पुण्य कर्म के श्रेष्ठ फल को याद नहीं करता है उसका वर्तमान नहीं बनता तथा जो अपने भविष्य को नहीं सोचता उसका भी वर्तमान शून्यरूप या अन्यथा ही होता है गिरा रहता है, अपितु पिछले निकृष्ट कर्मों का त्याग और पुण्य कर्मों का पुनरावर्तन

---

१. "अमृतेन शाश्वतेन मुक्तिपर्यन्तेनेति" (महीधरः-यजु० ६४।४)
२. "इन्दियं वै सप्तहोता" (तै० २।२।८।२)

करके अपने वर्तमान को बनाता है वह सुखी होता है क्योंकि भूत और भविष्य के मध्य में वर्तमान होता है वह इन दोनों पर निर्भर भी है तथा भूत और भविष्य का केन्द्र भी वर्तमान है। वर्तमान क्षण से सम्बन्ध रखनेवाले भूत का स्मरण और भविष्य का चिन्तन हितकर होता है परन्तु वर्तमान क्षण से सम्बन्ध न रखनेवाले भूत का स्मरण और भविष्य का चिन्तन अवाञ्छनीय है क्योंकि भूत विषय भी अनन्त है और भविष्यत् विषय भी अनन्त है। उसका पकड़ना अशक्य है और उधर जाना अहितकर है। वर्तमान तो अत्यल्प है बहुत थोड़ा है, अत्यल्प का पकड़ना सुगम होता है उसे बनाया जा सकता है और उसका बनाना ही कल्याणकर है। वस्तुतः जिसका वर्तमान स्वाधीन है श्रेष्ठ है ऊंचा है कल्याणकर है उसके भूत और भविष्य भी यशोरूप तथा कल्याणप्रद ही बन जाते हैं॥

ऋषिः—शिवसङ्कल्पः=कल्याणकारीसङ्कल्पवाला जन।

देवता—मनः=मन (अहम्भाव-ममभावधर्मी अन्तःकरण-चतुष्टय में से एक अहङ्काररूप मन)।

वेदज्ञान, स्तुति प्रार्थना उपासना तथा प्राणियों के ममत्व का अहङ्कार—

यस्मिन्नृचः साम यजूᳲषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिँश्चित्तᳲसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४।५)

(यस्मिन्) जिस अहङ्काररूप मन में (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्रों का ज्ञान या स्तुति (यस्मिन्) जिसमें (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्रों का आचरण या प्रार्थना। और (साम) सामवेद के मन्त्रों का सेवन या उपासना (रथनाभौ-इव) जैसे रथ की नाभि में

(अरा) अरे शलाकाएं जुड़ी होती हैं ऐसे (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित हैं (यस्मिन्) जिस अहङ्काररूप मन में (प्रजानाम्) प्रजाओं का—स्वसम्बन्धी प्राणियों का (चित्तम्) चित्त (ओतम्) जुड़ा हुआ है—रखा हुआ है (तत्-मे मनः शिवसङ्कल्पम्-अस्तु) वह मेरा अहङ्काररूप मन सात्विक अहम्भाव ममभाववाला हो ।

वेदत्रयी के ज्ञान से ज्ञानी और ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना से ध्यानी मनुष्य अपने को अहङ्कार द्वारा अनुभव करता है तथा पारिवारिक जनों इष्टमित्रों स्वसम्बद्ध प्राणियों का ममत्व अहङ्कारमय अन्तःकरण से ही होता है । इस अहङ्कार को शिवसङ्कल्पवाला बनाकर वेद का यथार्थ ज्ञान प्रभु परमात्मा का सच्चा ध्यान बन सकता है तथा स्वसम्बन्धियों का ममत्व यथोचित सुखद बन सकता है । अन्यथा स्त्री मेरी पति मेरा पुत्र मेरा अमुक मेरा घर मेरा धन मेरा इत्यादि ममत्व के जाल में फंसकर सच्चे सुख से वञ्चित होजाता है उनके प्रति यथार्थ कर्तव्यपालन से च्युत होजाता है । एवं ईश्वर के ध्यान और वेद के ज्ञान से रहित होकर मैं दरिद्र हूं मैं निर्बल हूं मैं रोगी हूं मैं अभागा हूं इत्यादि अनिष्ट अहम्भावों में ग्रस्त होकर मनुष्य महादुःखी बना रहता है । अतः अहङ्कार को शिवसङ्कल्पवाला—सात्त्विक अहम्भाव ममभाव से युक्त बनाना चाहिए ॥

ऋषिः—अथर्वा=स्थिरवृत्तिवाला जन ।

देवता—स्कम्भः-आत्मा=सर्वाधार परमात्मा ।

मन की गति या दौड़ सत्यस्वरूप परमात्मा पर रुक जाती है—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।

किमापः सत्यं प्रेप्सन्ती नेलयन्ति कदाचन ॥

(अथर्व० १०।७।३७)

(वातः कथं न-इलयति) वायु कैसे नहीं गति करता है-वायु

गति करता रहता है ठहरता क्यों नहीं है—कब ठहर सकता है (मनः कथं न रमते) मन कैसे अपने विषय में रमण नहीं करता कब ठहर सकता है—मन सदा विषयों में चलता रहता है, वह क्यों नहीं रुकता—कब रुक जाता है (आपः किं सत्यं प्रेप्सन्तीः कदाचन न-इलयन्ति) जलप्रवाह किस सत्य को चाहते हुए कभी गति बन्द नहीं करते—जलप्रवाह निरन्तर गति करते रहते हैं ठहरते नहीं ये क्यों नहीं ठहरते किस सत्य को चाह रहे हैं—सत्य पर ठहरते हैं। जब जलप्रवाह सत्य पर ठहर सकते हैं तो यह वायु और मन भी सत्य पर ठहर सकते हैं यह उत्तर यहां निहित है।

वात अर्थात् वायुवेग निरन्तर चलता रहता है या वायुप्रसार निरन्तर होता रहता है परन्तु वह पृथिवी के परिधिमण्डल पर ठहर जाता है वहां तक ही अपनी गति कर सकता है उस से ऊपर नहीं जा सकता। जलप्रवाह भी निरन्तर बहते रहते हैं परन्तु पृथिवी के समधरातल को पाकर रुक जाते हैं आगे इनकी गति के लिए निम्न स्थान नहीं है। मन भी निरन्तर गतिशील है भिन्न भिन्न वस्तुओं के प्रति यह दौड़ लगाता रहता है एक वस्तु पर पहुंच उसकी सीमा बनाता है पुनः उसको भी सीमा पाकर अन्य की ओर दौड़ जाता है इसी प्रकार इसकी दौड़ चलती रहती है परन्तु असीम परमात्मदेव पर पहुंचकर इसकी दौड़ बन्द हो जाती है क्योंकि यह उस असीम की सीमा नहीं बना सकता उसकी खोज में असमर्थ होने से निरुद्ध हो जाता है यही मन का सत्य है जिस पर पहुंच कर यह रुक जाता है। वस्तुतः परमात्मा के द्वारा ही यह मन भिन्न भिन्न विषय में गति करता है जैसा कि केनोपनिषद् में कहा है "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" (केनो० १।१) किस देव की प्रेरणा से मन अपने अभीष्ट पर प्रवाहित होता है पहुँचता है। उत्तर में आगे कहा गया है वह देव मन का भी मन परमात्मा है। अतः मन पर विजय पाना हो या उसकी गति को बन्द करना हो तो परमात्मा की ओर लगा देना

चाहिए। मानस ताप सन्ताप चाञ्चल्य और पाप से बचने का यही उपाय है ॥

ऋषिः—कृष्णः-आङ्गिरसः=प्राणायामाभ्यास में निष्पन्न कुशल, मन को विषयों से खींचने वाला योगी जन।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा।

सर्वकामपूर्ति परमात्मा में होने से मन का परमात्मा में लग कर अन्यत्र न जाना—

न घा त्वद्रिगपवेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रय। राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ॥

(ऋ० १०।४३।२)

(पुरुहूत) हे बहुत प्रकार से आह्वान करने योग्य ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! (मे मनः) मेरा मन (त्वद्रिक्-न घ-अपवेति) तुझ में लगा हुआ[1] कदापि अलग नहीं होता है—अब अलग नहीं हो रहा है। बस अब तो (त्वे-इत्-कामं शिश्रय) तुझ में ही—तेरे अन्दर ही कामना को स्थापित करता हूँ—कामना का विषय अन्य कोई नहीं रहा—मन ने अन्य विषयों में गति करना दौड़ना छोड़ दिया। अतः (दस्म राजा-इव बर्हिषि-अधिनिषीदः) हे दर्शनीय[2] परमात्मन्! तू राजा की भांति मेरे हृदयावकाशरूप आसन पर विराज (अस्मिन् सोमे ते सु-अवपानम्-अस्तु) इस निष्पादित उपासना ध्यान रूप अध्यात्मरस में तेरा सम्यक् शुद्ध श्रद्धामय अल्प-पान तुच्छ भेंट रूप में हो सके।

---

१. त्वद्रिक्-त्वयि रिरेच-त्वयि सम्पृक्तं त्वयि संसक्तम् "रिच सम्पर्चने" (चुरादि०) "बहुलं छन्दसि" (अष्टा० ३।२।८८) भूते क्विप् प्रत्यय।

२. दस दर्शने" (चुरादि०)।

मेरे प्यारे परमात्मन् ! मैं अपने मन की क्या व्यथा सुनाऊं ? यह मेरा मन जहां तहां भटकता था, जहां जाता था जिस वस्तु को पकड़ता था उसकी इयत्ता उसकी सीमा बनाकर लौट आता पुनः दूसरी वस्तु पर चला जाता था, यह क्रम निरन्तर मन की दौड़ धूप एवं भटकने का चलता रहता था। इस प्रकार इस निरन्तर भटकने वाले मन के साथ मैं भी सदा भटकता ही रहता था, परन्तु हे देव ! तू अनन्त है असीम है आनन्दघन है और अगाध आनन्दसागर है तुझ ऐसे देव की ओर जब मेरा यह मन चला तो इसे तेरा अन्त न पाया सर्वत्र तुझे ही देखा तब क्या कहना, तुझ से सम्पर्क कर यह तुझ से हटकर अन्यत्र नहीं जाता अपितु तेरे अन्दर ही अपनी कामना को अवलम्बित करता है तेरे अन्दर उसकी ही पूर्ति देखता है और पाता है, अब तो तुझसे अन्यत्र इसकी कामपूर्ति है ही नहीं, यहां तो यह अपने में मग्न होकर बैठा। हे दर्शनीय अन्तर्यामिन् मेरे प्रिय स्वामिन् ! सांसारिक कामनाओं से रिक्त हुए शुद्ध और निर्मल खुले हुए हृदयावकाश रूप आसन पर आप विराजमान होओ और जो उपासना द्वारा मेरे आत्मा का आर्द्र भाव निःसृत हो तेरे लिये प्रवाहित हो उसे तू पान कर—स्वीकार कर अपने अन्दर स्थान दे। मेरे आत्मभावों का यह पान एक प्रकार से मुझे तेरा अपने अन्दर स्थिर करना मुझे अपने आनन्दरस में सरस बनाना है। अतः हे देव स्वीकार करो यह मेरा आन्तरिक आर्द्रभावरूप पान ! अवपान !! तुच्छपान !!! ॥

ऋषिः—प्राचेतसोऽङ्गिरो यमश्च=प्रवृद्धचेताः[1] अर्थात् बहुत सूझ बूझ वाले बहुत सावधान का पुत्र या शिष्य अङ्गों इन्द्रियों को शुभ प्रेरणा देने वाला या यमनशील संयमी जन।

देवता—दुःस्वप्ननाशनम्=बुरे विचार हटाना।

---

१. "प्रचेतसः प्रवृद्धचेतसः" (निरु० ६। २०)

मन से पापभाव दूर करने के उपाय—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परे हि न त्वा कामये वृक्षान वनानि संचर गृहेषु
गोषु मे मनः ॥ (अथर्व० ६।४५।१)

(मनस्पाप) ओ मन के पापभाव—पापविचार ! तू (परः-अपेहि) परे चला जा—दूर होजा (किम्) क्योंकि (अशस्तानि शंससि) तू बुरी बातों को पसन्द करता है (परेहि) पृथक् हो जा चला जा (त्वा न कामये) मैं तुझे नहीं चाहता (वृक्षान् वनानि सञ्चर) वृक्षों बनों को प्राप्त हो (मे मनः) मेरा मन तुझ पाप की ओर न जाकर (गृहेषु) स्त्री पुत्र आदि में (गोषु) गौ आदि में रहे ।

मन में पापभाव आया करता है बुराइयां ही बुराइयां उसे उस समय अच्छी लगा करती हैं, पापभाव आने पर उससे बचने के लिए यहां चार उपाय मनोबल के आधार पर दर्शाए हैं । जिनमें प्रथम तो यह कि पापभाव के प्रति दोषदृष्टि करना-ग्लानि करना उसके अनेक कुपरिणामों को सामने लाना । दूसरे उससे दूर हट जाने की प्रबल इच्छा या भावना उत्पन्न करना कि बस में इसे नहीं चाहता । तीसरे जङ्गल में जाकर ईश्वरीय रचना पर ध्यान रख वहीं पाप को त्यागने का दृढ़ संकल्प कर त्याग देना छोड़ देना और ऐसे छोड़ देना जैसे चूहे आदि को वहां छोड़कर चले आते हैं साथ नहीं लाते हैं । चौथे घर के लोगों पुत्रादि के पालन तथा गौ आदि उपयोगी पशुओं की रक्षा में मन को लगा देना चाहिए । नगर में रहते हुए अपनें मन के पाप या तो सम्मुख नहीं आते या आते है तो कम आते हैं पुनरपि उनके दूरीकरण का साहस नहीं होता या कम होता है अपितु नागरिक वातावरण का नागरिक पदार्थों के ममत्व या लगाव से । जङ्गल में जाने पर नागरिक सम्पर्क और नागरिक वातावरण न होने से अपने ऊपर कुछ सोचने का अवसर

मिलता है साथ ही जाङ्गलिक एवं आकाशीय पदार्थों की ईश्वरीय रचना को देख ईश्वर की स्मृति से पापभाव पर विजय पाने को बल मिलता है। अतः वन जङ्गल में जाकर मन के पापभाव पर विचार करना और उसे त्यागना अधिक बनता है।

इस प्रकरण का सार—

मानव के भीतरी साधन मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार नाम से प्रसिद्ध अन्तःकरण कहलाता है, मानव के समस्त द्विविध ज्ञान-प्रधान और पराक्रमप्रधान कर्मों का आधार अन्तःकरण, अन्तःकरण का स्थान हृदय और घोड़ों को सारथि की भांति मनुष्यों को चलाने वाला, मन का जागते समय भोग विषयों की ओर तथा सोते समय संस्कारों—वासनाओं की ओर जाना, मन में सर्वप्रथम कामना होती है कामना का सङ्कल्प करना मन का बल एवं धर्म है पुनः पुनः कामना के उठने से वह बलवती हो जाती है। वस्तुविज्ञान और कर्तव्यबोधन का साधन बुद्धि, भूत वर्तमान भविष्यत् के स्मरण का साधन चित्त, वेदज्ञान स्तुति प्रार्थना उपासना तथा स्वसम्बद्ध प्राणियों में समत्व का साधन अहङ्कार, मन की गति का अन्त परमात्मा पर, मन का परमात्मा में लगकर अन्यत्र न जाना उसी में सब कामना पाना, मन से पाप दूर करने के उपाय।



शिवसङ्कल्प या सद्व्रत

ऋषिः—राहुगणो गोतमः=त्यासनात्यागी कुल (पितृकुल गुरुकुल) में उत्पन्न या व्युत्पन्न तथा वाक्-उपयुक्तवाणी स्तुति का इच्छुकजन।

देवता—विश्वे देवाः=सब अभीष्ट देव विद्वान् जन।

भद्र श्रवण और भद्र दर्शन से देवों की आयु प्राप्त करना—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

(ऋ० १।८९।८, यजु० २५।२१)

(यजत्राः-देवाः) हे यजनीय—सङ्गमनीय विद्वानों! आपके सङ्ग समागम से (कर्णेभिः-भद्रं शृणुयाम) हम कानों से कल्याण कर वचन सुनें (अक्षभिः-भद्रं पश्येम) आंखों से कल्याण कर दृश्य देखें इसलिये कि (स्थिरैः-अङ्गैः-तुष्टुवांसः) निश्चल निर्दोष स्वस्थ वाक् मन आदि अङ्गों से परमात्मा की स्तुति करते हुए (यत्-आयु देवहितम्) जो आयु आप जैसे उत्तम विद्वानों के लिये हितकर एवं अभीष्ट है। उसे (तनूभिः-व्यशेमहि) हम समस्त अङ्गों से-प्रत्येक अङ्ग से प्राप्त करें—हमारा एक एक अङ्ग उस आयु को प्राप्त हो उस आयुकाल में कोई विकलित क्षीण या नष्ट न हो। आप देव जन हमारे आदर्श हैं अतः आपको आदर्श बना कर हम आयु का सम्पादन और उपभोग करें।

मानव का अन्तरात्मा ऊपर उठाना चाहता है अपना दैव जीवन बनाना चाहता है देवश्रेणि में आना चाहता है, इसका साधन है कानों से भद्र सुनना और आंखों से भद्र देखना। कान और आंख

मानव के विशेष और प्रधान बहिष्करण हैं, मन अन्तःकोष्ठ में इनके द्वारा श्रवण और दर्शन का चित्र खिंच जाया करता है। शरीर भवन में आंख गवाक्ष (झरोखे) और कान वातायन (खिडकी) के समान हैं। कान वातायन से मन अन्तःकोष्ठ में ध्वनि चित्र खिंच जाता है और वहां पुनः पुनः प्रतिध्वनित होता रहता है, भद्र का भद्ररूप में और अभद्र का अभद्र रूप में, भद्र श्रवण कल्याण का साधन बनता है और अभद्र अकल्याण का। नेत्र गवाक्ष से मन अन्तःकोष्ठ में रूप चित्र खिंच जाता है और वहां पुनः पुनः प्रतिबिम्बित होता रहता है, भद्र का भद्ररूप में और अभद्र का अभद्ररूप में, भद्र दर्शन कल्याण का हेतु बनता है और अभद्र अकल्याण का। भद्र श्रवण और भद्र दर्शन ही दैव जीवन या देव श्रेणि का मानव बनने में परम साधन हैं। भद्र श्रवण और भद्र दर्शन के करने वाले जन के समस्त अङ्ग दिव्य बन जाते हैं उनसे दिव्य प्रवृत्तियां या क्रियाएं हुआ करती हैं, परमात्मदेव की स्तुति में उनका सदुपयोग हुआ करता है पुनः वे संयमशक्ति से सम्पन्न बन कर दैव आयु अर्थात् दीर्घ एवं पवित्र तथा सुखमय आयु को प्राप्त करते हैं॥

ऋषिः—पूर्ववत्।

देवता—पूर्ववत्।

सद्विद्वानों की कल्याणी सुमति विद्या और मित्रता को प्राप्त करना—

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम्। देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥

(ऋ० १।८९।२, यजु० २५।१५)

(ऋजूयताम्) ऋजुगामी सरल चाल चलने वाले सरल व्यवहार करने वाले तथा निज व्यवहार में सरल जन को चाहने वाले और

अन्य को सरल बनाने वाले—(देवानाम्) श्रेष्ठ विद्वानों की (भद्रा सुमतिः) कल्याण करने वाली यथार्थ मति। एवं (देवानां रातिः) उन्हीं श्रेष्ठ विद्वानों की दानकृपा—दानभावना—दानप्रवृत्ति (नः-अभि) हमारे प्रति (नि-वर्तताम्) नितरां बनी रहे नितान्त बनी रहे या उनसे हमारी ओर निवर्तन करती रहे आती रहे (वयं देवानां सख्यम्-उपसेदिम) हम उन्हीं श्रेष्ठ विद्वानों के सख्य मित्रभाव को प्राप्त करें (देवाः-नः-जीवसे प्रतिरन्तु) वे श्रेष्ठ विद्वान् हमारी आयु को जीने के लिये बढ़ावें।

जीवन में उठने वाले मनुष्य की आकांक्षा होती है कि मैं अपने वर्तमान जीवन से आगे बढ़ूं मानव श्रेणि से ऊपर उठ कर देवश्रेणि में चला जाऊं और उन जैसी दीर्घ आयु और श्रेष्ठजीवन को अपने अन्दर ढाल लूं स्वयं भी देव बन जाऊं। पर देव कौन हैं उनसे कौन क्या ले सकता है तथा वे क्या दे सकते हैं सो कहा कि सरल सत्य मार्ग पर चलने वाले अन्यों को भी सरल सत्य बनाने वाले विद्वान् देव हैं, उनकी सुमति हमें प्राप्त हो उनकी दया और विद्या का दान भी हमें मिलता रहे एवं उनकी मित्रता प्राप्त होती रहे तथा वे हमारी आयु का भी विस्तार करते रहें। श्रेष्ठ विद्वानों की सुमति का प्राप्त होना उनसे विद्या का लाभ मिलना और उनकी हम पर मित्रदृष्टि का होना क्या है हमारे आयु को बढाना हमारे जीवन को उठाना है अपनी देवश्रेणि में लेना है। वह मानव बड़ा भाग्यवान् है जो श्रेष्ठ विद्वानों की सुमति, विद्या और मित्रता का पात्र बन जाता है।

ऋषिः—वसिष्ठः=सत्सङ्गति में अतिशय वसने वाला श्रेष्ठ जन।

देवता—भगः=लौकिक पारलौकिक सर्वविध ऐश्वर्य।

विद्वानों की सुमति में महाभाग्यवान् बनाना—

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् । उतोदिता मघवन् सूर्यस्य वयं देवानाॐ सुमतौ स्याम ॥

(यजु० ३४।३७)

(मघवन्) ऐश्वर्यवान् परमात्मन् ! (उत-इदानीं देवानां सुमतौ वयं स्याम भगवन्तः स्याम) हां यदि अभी श्रेष्ठ विद्वानों की सुमति में हम हो जावें तो अभी भगवान—ऐश्वर्यवान् भाग्यवान् हो जावें (उत प्रपित्वे) यदि तो सायं देवों श्रेष्ठ विद्वानों की सुमति में हों तो सायं भी हम ऐश्वर्यवान्–भाग्यवान् हो जावें (उत मध्ये-अह्नाम्) यदि तो दिनों के मध्य--मध्याह्न में विद्वानों की सुमति में हों तो मध्याह्न में भी ऐश्वर्यवान् भाग्यवान् हो जावें (उत सूर्यस्य-उदिता) यदि सूर्य के उदयसमय—प्रातः श्रेष्ठ विद्वानों की सुमति में हों तो प्रातः ऐश्वर्यवान् भाग्यवान् हो जावें।

मानव ऐश्वर्यवान् महाभाग्यवान् होना चाहता है पर इसके लिये अपनी कल्पना से ही अयोग्य उपाय करता रहता है सफलता प्राप्त नहीं करता है,परन्तु उसका उपाय तो श्रेष्ठ विद्वानों की सुमति में होना है, यह निश्चित तथा अमोघ उपाय है। कोई चाहे तो कभी भी परीक्षा कर ले, सचमुच हम अभी विद्वानों की सुमति में हों तो अभी भाग्यवान् बन जावें यदि सायं उनकी सुमति में हो तो सायं भाग्यवान् बन जावें यदि मध्याह्न में उनकी सुमति में हों तो मध्याह्न में भाग्यवान् बन जावें यदि सूर्य के उदयकाल में उनकी सुमति में हों सूर्य के उदय होने पर भी हम भाग्यवान् बन जावें। जब कि एक ही काल में उनकी सुमति में होने से भाग्यवान् बन जाता है तब सब समय उनकी सुमति में लगाया जावे फिर तो क्या कहना सचमुच मानव पूर्णैश्वर्यवान् महाभाग्यवान् बन जावे, यह कितने सौभाग्य की बात है। ईश्वर कृपा करे कि हमें विद्वानों का

सम्पर्क समागम सत्सङ्ग सुमति प्राप्त होते रहें और मानवता के सच्चे सौभाग्य को साध सकें ॥

ऋषि:—आङ्गिरसो बृहस्पति:=प्राणशक्तिसम्पन्न तथा वाक्-विद्या ज्ञान का स्वामी सम्यक् वक्ता ज्ञानवान् विद्वान् ।

देवता—ज्ञानम्=ज्ञान ।

मन से शोध वाणी के प्रयोग से विभूति सद्भाव का लाभ—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्र सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि ॥

(ऋ० १० । ७१ । २)

(यत्र) जहां सभा सङ्गम में (धीरा:) ध्यानवान् समझदार विद्वान् जन (सक्तुम्-इव तितउना पुनन्तः) सत्तु को चालनी से शोधते हुओं की भांति (मनसा वाचम्-अक्रत) मन से वाणी को शोधते हुए निकालते हैं या प्रकट करते हैं-व्याकरणानुसारी, स्पष्ट, प्रिय, सत्य, हितकर और विद्यायुक्त बोलते हैं (अत्र) यहां अर्थात् उस सभा सत्सङ्ग में (सखायः सख्यानि जानते) वे वाणी के सखा विद्वान् वाणी के समानख्यानों यथार्थ प्रयोग ज्ञानों लाभों सिद्धियों पदवियों को जानते हैं उनको प्राप्त करते हैं (एषां वाचि-अधि) इनकी वाणी में (भद्रा लक्ष्मी:-निहिता) कल्याण करनेवाली लक्ष्मी शोभा विभूति निहित है ।

वाणी का यथार्थ प्रयोग है व्याकरण से परिष्कृत एवं स्पष्ट उच्चारण, प्रिय भाषण, सत्य कथन, विद्यायुक्त भाषण और हितकर वचन बोलना । इस प्रकार वाणी का समुचित प्रयोग करने वाले जन वाणी देवी के समस्त दिव्य लाभों को प्राप्त होते हैं उनकी वाणी में अपने तथा दूसरे के कल्याण की साधनशक्ति, शोभा, विभूति स्थिर हो जातीहैं । वाणी को इसप्रकार परिशुद्ध एवं परिपुष्ट बनाने का यन्त्र

है मन, मन से समुचित शोध कर वाणी का प्रयोग करना चाहिये। वाणी का सत्प्रयोग संसार में सुख शान्ति का निमित्त बनता है और इसका असत् प्रयोग अशान्ति संग्राम को जन्म देता हैं। अतः वाणी को मन से शोध कर बोलना चाहिए, कोई भी उसकी वाणी में अरुचि नहीं रख सकता किन्तु उक्त वाणी का स्वागत मान तदनुसार आचरण करने को उद्यत होना अपना अहोभाग्य समझ कर वैसा आचरण करता है ॥

ऋषि:—दध्यङ् आथर्वणः=स्थिरवृत्तिवाले कुल—गुरुकुल में व्युत्पन्न हुआ विद्यास्नातक ध्यानी जन।

देवता—अग्निः=ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा।

वाक् प्राण मन नेत्र श्रोत्र के स्तुति प्रार्थना उपासना में सदुपप्रयोग से जीवन साफल्य—

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहोजो मयि प्राणापानौ ॥

(यजु० ३६ । १)

(ऋचं वाचं प्रपद्ये) ऋग्वेद वाणी को प्राप्त हो जाऊं अर्थात् मैं ऋग्वेद को वाणी पर उतार लूं—ऋग्वेद मन्त्रों का उच्चारण प्रवचन करता रहूं। तथा 'वाचम्-ऋचं प्रपद्ये' वाणी ऋचा को प्राप्त हो जाऊं अर्थात् वाणी को ऋचा बना लूं—वाणी मेरी ऋचा का स्तुति का कार्य करे, अन्य कार्य न करे किन्तु गुणस्तवन ही करे विशेषतः परमात्मा के गुणस्तवन में लगी रहे (यजुः-मनः प्रपद्ये) यजुः-मन को प्राप्त होऊं अर्थात् यजुर्वेद मन्त्रों का प्रयोग मन में धारण कर लूं बाह्य यज्ञ न करके मानसिक अध्यात्म यज्ञ रचा लूं। तथा 'मनः-यजुः प्रपद्ये' मन यजु को प्राप्त होऊं अर्थात् मन को यजु बना लूं मन यजु का कार्य करे यजन कार्य करे—स्वार्थ त्याग:

कर उदारता परोपकार में लगा रहे (साम प्राणं प्रपद्ये) साम प्राण को प्राप्त होऊं अर्थात् साम मन्त्र को प्राण में ढाल लूं प्राण में साम गान सामोपासना चलती रहे । तथा 'प्राणं साम प्रपद्ये' प्राण साम को प्राप्त होऊं अर्थात् प्राण बाह्य वायु पर आश्रय न रखे किन्तु उपासना पर आश्रित रहे—उपासना के विना प्राण का अल्पभाग भी रिक्त न जाए (चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये) आध्यात्मिक जीवन की पञ्चाङ्गी त्रयी विद्या में वाक् प्राण मन तो आ चुके अब शेष दो चक्षु अर्थात् आंख, श्रोत्र-कान भी उक्त ऋक् यजुः सामरूप त्रयीविद्या में चलावें या त्रयी विद्या इन आंख कान में आ जावें-त्रयीविद्या के कार्य आंख कान में चरितार्थ हो जावें या आंख कान भी त्रयीविद्या में लग जावें एवं त्रयीविद्या को आंख कान रूप में प्राप्त कर लूं या आंख कान को त्रयीविद्यारूप में प्राप्त कर लूं । पुनः (वाक्-ओजः सह-ओजः) वाक्-रूप—वाणीरूप या वाक् इन्द्रिय शक्ति से लेकर साथ श्रोत्रपर्यन्त पञ्चाङ्ग की शक्ति (प्राणापानौ) प्राण और अपान (मयि) मेरे में स्थिर रहें ।

पौराणिक जन पञ्चाङ्ग पूजा किया करते हैं वह तो बाहिरी आडम्बर मात्र है, वास्तविक पञ्चाङ्ग पूजा नहीं किन्तु पञ्चाङ्ग सत्प्रयोग या सद्वर्तन है वाक् मन प्राण आंख कान की वेदत्रयी में या वेदत्रयी को उक्त पञ्च अङ्गों में चरितार्थ करना । वेदत्रयी का सार है स्तुति, प्रार्थना-सद्गुणधारण भावना, उपासना । ये तीनों बातें मेरे पञ्चाङ्गों में बस जावें किसी भी अङ्ग से अन्यथा चेष्टा न होकर इनमें ही प्रवृत्ति रहे । वाणी स्तुति किया करे, मन प्रार्थना सद्गुण धारण भावना में लगा रहे सद्गुणागार बना रहे, प्राण जीवन उपसनामय बना रहे । कान से स्तुति सुनूं सद्गुण चर्चा श्रवण करूं उपासना विधि को सुनूं । आंख से स्तुति के स्तोत्र और दृश्य देखूं सद्गुण भरी महिमा निहारूं उपासना की सीढी को पहचानूं परखूं । एवं वेदत्रयी का सार स्तुति, प्रार्थना—सद्गुण-

धारण भावना, उपासना स्वतः मेरे पञ्चाङ्ग का कार्य हो जावें, वे स्तुति आदि पञ्चाङ्ग के मार्ग में आगे आगे तथा साथ साथ रहें। जहां स्तुति आदि नहीं ऐसे कार्यों को मेरे पञ्चाङ्ग न करें। मेरे पञ्चाङ्ग ही वेदत्रयी बन जावें, मेरे अङ्ग पांच न होकर यदि स्तुति, प्रार्थना–सद्गुण धारण भावना, उपासना बन जावें तो मेरा मानव जीवन कृतकृत्य हो जावे मैं पञ्चाङ्ग के बन्धन से छूटकर पञ्चाङ्ग के भी पञ्चाङ्गरूप को [1] प्राप्त होकर अमृतत्व को मोक्ष को पालूं ॥

ऋषिः—वामदेवः=प्रशस्त विद्वान्।

देवता—लिङ्गोक्ताः=द्यावापृथिवी (पिता-माता) इन्द्राबृहस्पती (शिष्य-गुरु), भगः (ऐश्वर्य), संसत् (सभा); यशः—यश की प्राप्ति।

प्रशंसनीय यशोमय जीवन बनाने का सङ्कल्प—

यशो मा द्यावापृथिवी यशो म इन्द्राबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्।
यशस्व्यस्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम् ॥

(साम० पू० ६।३।१३।१०)

(द्यावापृथिवी मा यशः) पिता और माता [2] मेरे प्रति यशोरूप हों—मेरे यश के कारण बनें (इन्द्राबृहस्पती मा यशः) शिष्य और गुरु मेरे प्रति यशोरूप हों—मेरे यश के कारण बनें (भगस्य यशः-विन्दतु) ऐश्वर्य का धनसम्पत्ति का यश मुझे प्राप्त हो (यशः-मा

---

१. "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो है वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति"
(केनो० १।२)

२. "द्यौर्मेपिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्"
(ऋ० १।१६४।३३)

प्रतिमुच्यताम्) यश मुझे संसार में छोड़े (अहम्-अस्याः संसदः-यशस्वी प्रवदिता स्याम्) मैं इस सभा का यशस्वी प्रवक्ता-प्रवचन-कर्ता—अच्छा बोलने वाला होऊं ।

मानव को जीवन में यशोभागी बनना चाहिए परन्तु अन्यथा कार्य करते हुए मिथ्या यश की इच्छा न करे किन्तु कार्य ऐसे करे जिससे स्वतः ही यश की प्राप्ति होने लगे ऐसा यश सच्चा यश और चिरस्थायी हुआ करता है, ऐसे यश से यशस्वी होने की भावना को जीवन में ढालना अपने को ऊंचे स्तर पर पहुंचाना है। यशो-भावना के प्रमुख स्थान हैं माता पिता का सम्बन्ध, गुरु और शिष्यों का सम्पर्क, धनसम्पत्ति का संयोग, लोकहित या लोकसेवा में प्रवृत्ति, सभा-समाजों की सङ्गति। अतः माता पिता की आज्ञा-पालना सेवा और हितचिन्तन करना, उत्तम शिष्यों को तैयार करना, आदर्श आचार्यों की शरण में रह योग्य बनना उनका सम्मान तन मन धन से करना उनके आदेश पालन में जीवन को लगा देना, धनसम्पत्ति का सदुपयोग एवं सत्पात्र में प्रयोग करना, लोक-हित लोकसेवा में यथाशक्ति यथासम्भव सर्व प्रकार से तत्पर रहना, कथाप्रवचन से सभा-समाजों में भाग लेना यथायोग्य सन्मार्ग प्रदर्शन करना मानव को स्वतः यशोभागी बनाने के स्थान हैं। इस प्रकार मानव सम्बन्धियों के सम्पर्क में, विद्याओं के दानादान उपयोग में, गुरुशिष्यों के सम्पर्क में, धनसम्पत्ति के संयोग और सहयोग में, प्राणिहित के उद्योग में, सभा समाजों के सहयोग में, सच्चे यश पाने की सद्भावना बनाए रखना मानव जीवन का परम कर्तव्य और लक्ष्य है। यशस्वी जीवन ही संसार में सार्थक है सच्ची उन्नति की ओर ले जाने वाला है ।।

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धु विप्रबन्धुश्च गौपायनाः=इन्द्रिय-संयमी पिता के पुत्र या गुरु के शिष्य मानवस्नेही, प्राणीमात्र का प्रेमी, विद्याप्रेमी, विद्वानों का प्रेमी जन ।

देवता—इन्द्रः=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

ईश्वर के आदेश पर चलने उसके यजन-ध्यान से काम क्रोधादि शत्रुओं से बचना—

मा गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।

मान्तः स्थुर्नो अरातयः॥

(ऋ० १०।५७।१)

(इन्द्रः) हे ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! (वयम्) हम (सोमिनः) तुझ सोमवान् अध्यात्मैश्वर्यसम्पन्न के (पथः-मां प्रगाम) मार्ग से लोक व्यवहार करते हुए पृथक् न चलें। तथा (मा यज्ञात्) न तेरे यजन से—अध्यात्म सम्बन्ध से पृथक् हों (नः-अन्तः-अरातयः-मा स्थुः) हमारे भीतरी शत्रु काम क्रोध लोभ मोह आदि न रहें। या अन्दर के शत्रु न रहें तो हम तेरे मार्ग-आदेश और तेरे ध्यानोपासन को न छोड सकें किन्तु सेवन कर सकें।

परमैश्वर्यसम्पन्न प्यारे परमात्मन्! हमें संसार में पदे पदे काम क्रोध लोभ मोह भय शोक आन्तरिक छः शत्रु सताते रहते हैं वे न सता सकें इसका औषध बहुत सोचने-विचारने और खोजने-परखने से यही निश्चित हुआ कि तेरे बतलाये मार्ग को न छोडना—तेरे आदेश का उल्लङ्घन न करना। तेरा आदेश है संयम सदाचार का जीवन बिताना और दूसरे तेरा यजन करना, तेरा यजन है तेरा ध्यानोपासन करना। बस ये दो औषध हैं, जैसे वाह्य रोगनिवृत्ति के लिए बाहरी औषध दो प्रकार की होती है एक रोग को हटाने वाला और दूसरा रोग को पास न आने देने वाला। सो ऐसे ही काम क्रोध आदि भीतरी शत्रुरूप रोगों को हटाने के लिए औषध है संयम सदाचार से जीवन बितानारूप तेरा आदेश, दूसरा औषध इन्हें अन्दर न आने तेने के लिए है तेरा यजन—ध्यानोपासन करना। बस ये दोनों आध्यात्मिक जीवन को नीरोग करने

और स्वस्थ रखने के हैं परम औषध हैं।

ऋषिः—अथर्वा=स्थिर वृत्तिवाला जन।

देवता—कामः=इच्छा सङ्कल्प।

पाप कामनाओं से पृथक् होकर शुभ कामनाओं से परमात्मा तथा सुख शान्ति की प्राप्ति—

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे। ताभिष्ट्वमस्माँ अभि संविशस्वा-न्यत्र पापीरप वेशया धियः॥

(अथर्व० ६।२।२५)

(काम) हे कामना ! हे इच्छा ! (ते याः शिवाः-भद्राः-तन्वः) तेरी जो शिव अर्थात् आध्यात्मिक जीवन-सम्बन्धी कल्याणकारी तानें तरङ्गें तथा बाहिरी जीवनसम्बन्धी दूसरों के प्रति व्यवहार कराने वाली भद्र सुखप्रद तानें तरङ्गें हैं[1] (यत् सत्यं भवति) जो सत्य होता है, उसे (याभिः-वृणीषे) जिनसे तू वरती है स्वीकार करती है चाहती है (ताभिः-त्वम्-अस्मान्-अभि संविशस्व) उन शुभ तरङ्गों से हमारे अन्दर स्थान ले—स्थिर रूप से बैठ (पापीः-धियः-अन्यत्-अपवेशय) पापी धारणाओं को हम से पृथक् हटा।

मनुष्य के अन्दर कामना इच्छा पुण्यरूप और पापरूप में दो प्रकार उठा करती है। पापरूप कामना या इच्छा से अपना तो सर्वनाश होता ही है पर अपने साथ सम्पर्क रखने वाले परिवार समाज और राष्ट्र को भी भारी हानि हुआ करती है, अपितु विश्वभर

---

१. 'तनु' शब्द "तनू विस्तारे" (तनादि०) विस्तार फैलाव या फैलाने वाली तानें धाराएं तरंगें हैं, जैसे कठोपनिषद् में भी कहा है "प्राण···या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता···या च मनसि संतता शिवा ताः कुरु मोत्क्रमीः" (प्रश्नो० २। १२)

में उसकी चिनगारी फैल जाती है। मनस्वी जन सहसा उठी अपनी कामना या इच्छा के पीछे नहीं दौड़ता किन्तु वह तो देखता है कि इस मेरी कामना या इच्छा का परिणाम क्या होगा ? वह तुरंत अनभीष्ट पर नियन्त्रण करता है और जिस कामना या इच्छा से सत्यस्वरूप परमात्मा का वरण हो सके उसकी ओर चल सके ऐसी कामना या इच्छा को अपने अन्दर स्थान देता है। तथा जिस कामना या इच्छा से कि अपना कल्याण विशेषतः मन को शान्ति प्राप्त हो तथा अन्यों का एवं समाज, राष्ट्र और संसार का भद्र हो भला हो ऐसी शिव तथा भद्र कामना या इच्छा की तरङ्गों का विस्तार करता रहता है अन्त में सत्यस्वरूप सुखरूप परमात्मा को प्राप्त करता है ।

ऋषिः—ब्रह्मा=नगरनिवासव्यवस्था का विशेषज्ञ विद्वान् ।
देवता—वास्तोष्पतिः= गृहपति नागरिक जन 'होना' ।
प्राणी मात्र के हित का एवं विश्वकल्याण का सङ्कल्प—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम ॥

(अथर्व० १ । ३१ । ४)

(नः-मात्रे-उत पित्रे स्वस्ति-अस्तु) हमारे माता तथा पिता के लिये कल्याण हो (स्वस्ति पुरुषेभ्यः-गोभ्यः-जगते) कल्याण हो मनुष्यों के लिए—मनुष्यमात्र के लिए, गौओं के लिए कल्याण हो जङ्गम प्राणी मात्र के लिए कल्याण हो। अपितु (विश्वं नः सुभूतं सुविदत्रम-अस्तु) संसार हमारा सुखसम्पन्न परिवार बन जावे (ज्योक्-एव सूर्य दृशेम) हम सब चिरकाल तक सूर्य को देखें अर्थात चिर जीवन प्राप्त करें।

अच्छे नागरिक का जीवन कैसा होना चाहिए या अच्छा नाग-

रिक कैसे बनता है, यह यहां बतलया गया है कि प्रथम स्वजन माता पिता का कल्याण साधना, दूसरे मनुष्यमात्र का कल्याण चाहना, तीसरे गौ आदि प्राणी का हित करना, चौथे प्राणीमात्र का हित करना, पांचवें समस्त संसार को परिवार के रूप में देख मङ्गलकाना करना। इस पञ्चकल्याण चिन्तना से सच्चा नागरिक बनता है तथा नितान्त निश्चिन्त और निर्भय होकर दीर्घ जीवन को प्राप्त करता है। किसी भी प्राणी को दुःख पहुंचाना या उसका मांस उतारना वस्तुतः नागरिक धर्म के विपरीत है, पर लोग आधुनिक समय में इस वेदोक्त नागरिकता से दूर होते जा रहे हैं यहां तक कि सारे जीवन भर सेवा करने वाले प्राणी का घात करने में सङ्कोच नहीं करते अपितु अनेक जन माता पिता तक के भी प्राण ले लेते हैं इस प्रकार नागरिक जीवन को क्षुब्ध एवं अशान्त बना देते हैं। कहां वेद की बतलाई विश्वप्रेम की बात और कहां ऐसा आज कल का यह अभद्र व्यवहार, प्रभु कृपा करे हम सब परस्पर सहयोग से सुखसम्पन्न होते हुए दीर्घ जीवन प्राप्त करें॥

ऋषिः—अथर्वा=स्थिर सङ्कल्प वाला दृढप्रतिज्ञ।

देवता—मधुवल्ली=मीठी साधना या मीठी विचारधारा-जीवन में मिठास की लता उगाना बढाना।

जीवन में मिठास लेने का उपाय सर्वत्र मीठा व्यवहार—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥

(अथर्व० १। ३४।३)

(मे निक्रमणं मधुमत्) अध्यात्ममधुवल्ली-अध्यात्म रसधारा के पान से अध्यात्म मधुसाधना से मेरा निकट गमन-पास पड़ोस में जाना आना रहना सहना मीठासवाला हो (मे परायणं मधुमत्) मेरा दूर गमन-दूर जाना आना रहना सहना मीठासवाला हो (वाचा

मधुमत्-वदामि) वाणी से मीठासयुक्त वचन बोलूं (मधुसन्दृशः भूयासम्) मैं मधु का चित्र हो जाऊं बन जाऊं या देखनेवाले का मधु—तृप्तिकर आनन्दप्रद बन जाऊं ।

समीपी बन्धुओं सहवासियों से मीठा व्यवहार करना एवं दूर वाले जनों से मीठा व्यवहार करना तथा मिलते हुए मीठा व्यवहार करना अलग होतेहुए मीठाव्यवहार करना, मीठा बोलना मीठा सोचना स्वयं मीठास का आनन्द लेना और दूसरों में मीठास का वितरण करना ही जीवन का मीठास है मीठे जीवन का लक्षण है और फल है । सर्वप्रथम मन में मीठा सोचना होता है मन में कटुचिन्तन न करना चाहिए किन्तु हितचिन्तन करना मन को मीठा बनाता है । जब मन मीठा बन जाता है तब अनायास मीठा वचन मुख से निकलता है, मीठे वचन का अभ्यास भी दूर निकट में मीठा व्यवहार कराता है । मीठा मिलन और मीठी विदाई मीठे फल के निमित्त हैं इस प्रकार मनुष्य मीठास का चित्र बनकर दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है सुख शान्ति की मीठी वृष्टि के सोते बहाता है अपने को भाग्यवान् बनाता है सर्वत्र मान पाता है । मीठा सोचने मीठा व्यवहार करने के शत्रु भी कटुता को छोड़कर उसके मीठे जीवन का मीठास लेने के लिये उसके वश हो जाता है ।

ऋषिः—आथर्वणो दध्यङ्=स्थिरवृत्ति वाले पितृकुल या गुरुकुल में उत्पन्न या व्युत्पन्न ध्यानशील व्रती जन ।

देवता—ईश्वरः=परमात्मा ।

सब से मित्रदृष्टि रखने से स्नेहवृद्धि और परमात्मप्रेम की प्राप्ति—

---

१. इस अर्थ में 'सन्दृशः=सम्मुखद्रष्टुः मधु–मधुसन्दृशः' राजदन्तादिषु परम्" (अष्टा० १ । २ । ३१) परनिपातः ।

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

(यजु० ३६।१८)

(दृते मा दृहं) हे आदरणीय एवं आदर में रखने वाले परमात्मदेव ! मुझे आदर में—स्नेह में दृढ़ कर (सर्वाणि भूतानि) सारे प्राणी (मा मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम्) मुझे मित्र की दृष्टि से देखें (अहं मित्रस्य चक्षुषा) मैं मित्र की दृष्टि से (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सब प्राणियों को देखूं । पुनः (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे) हम परस्पर मित्र की दृष्टि से देख सकें ।

मेरे आदरणीय स्नेहपात्र परमात्मन् ! तू मुझे अपने आदर में स्नेह में अपना ले मेरा स्नेही मित्र बन जा, सारे प्राणी भी मुझे मित्ररूप से देखें मेरे मित्र बन जावें । भगवन् ! यह तो हुई मेरी इच्छा और मैं इसे अपना अधिकार भी समझता हूं पर केवल इच्छा या अधिकार समझ लेने मात्र से काम नहीं चला करता वैसा उसके लिये कर्यव्यपालन भी तो करना होता है, कर्तव्य है मैं भी दूसरे प्राणियों को मित्र बनाऊं मित्ररूप से देखूं । ताली दोनों हाथों से बजती है मैत्री दोनों ओर से हुआ करती है, तभी हम परस्पर मित्र भाव से रह सकते है । यह है फल मित्रदृष्टि का परस्पर सहभाव और समव्यवहार होना, तथा आध्यात्मिक लाभ है ईर्ष्या अनादर करने की प्रवृत्ति का नाश हो जाना । ईर्ष्या और अनादर के कारण आज संसार सन्तप्त हो रहा है स्थान स्थान पर संघर्ष संग्राम मच रहा है । क्योंकि संसार में सम्पन्न और असम्पन्न दो वर्ग हैं कुछ व्यक्ति परिवार समाज और राष्ट्र सम्पन्न हैं और कुछ असम्पन्न हैं । धन से सम्पन्न धनवान्, धन से असम्पन्न दरिद्र, तन से सम्पन्न नीरोग पुष्ट, तन से असम्पन्न निर्बल रोगी, जन से सम्पन्न परिवार

वाले या जनसंख्या में अधिक, जन से असम्पन्न निःसहाय या जन-संख्या में न्यून। इन सम्पन्न असम्पन्न वर्गों में संघर्ष संग्राम होता है ईर्ष्या और अनादर के कारण, सम्पन्न तो असम्पन्न का अनादर करता है उसे सताता है और असम्पन्न सम्पन्न के प्रति ईर्ष्या करता है। यदि इनमें मित्रभाव हो जावे तो दोनों वर्गों में से अनादर तथा ईर्ष्या करना समाप्त होकर सुख शान्ति का साम्राज्य हो जावे क्योंकि तब परस्पर एक दूसरे की हितकामना करेगा। अपना हित चाहना अन्य का हित न चाहना तो मानवजीवन में एक आश्चर्य की बात ही है, धर्मशास्त्रों में कहा है कि जो स्वयं जीना चाहता है वह दूसरे को कैसे मारता है? जो जो अपने लिये वह वह दूसरे के लिये भी तो सोचे। मित्रदृष्टि—स्नेह रखने से परमात्मा भी उससे मित्रभाव स्नेह रखेगा यह निश्चित है॥

ऋषिः—वसिष्ठः, चातनः=ईश्वर और सद्गुणों में अत्यधिक वसनेवाला तथा ज्ञानप्रचारक[1] विद्वान्।

देवता—सोमः=अध्यात्मैश्वर्य से तथा सत्यैश्वर्य से सम्पन्न आत्मा महात्मा होना।

सत्य के धारण असत्य के निराकरण से सौम्यजीवन या महात्मजीवन बनना—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

(ऋ० ७।१०४।१२, अथर्व० ८।४।१२)

---

१. "चतति गतिकर्मा" (निघं० २।१३)

गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च, अत्र ज्ञानार्थो गृह्यते। चातयति ज्ञापयति ज्ञानं प्रचारयतीति चातनः।

(सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय) यथार्थ ज्ञान को जान चुकने वाले जन के लिये—यथार्थ ज्ञान को जान चुकने वाले जन के सम्मुख (सत्-च-असत्-च वचसी पस्पृधाते) सत्य वचन और असत्य वचन अर्थात् सत्य वृत्त और असत्य वृत्त दोनों स्पर्द्धा करते हुए—परस्पर संघर्ष करते हुए आते हैं, सत्य असत्य का पृथक् पृथक् पहिचान जाना विशिष्ट ज्ञानी का लक्षण है। सत्य का स्वरूप (तयोः-यत् सत्यं यतरत्-ऋजीयः) उन दोनों में जो सरल होता है। पुनः (तत्-इत् सोमः-अवति) उस सरलरूप सत्य को सोम सौम्यस्वभाववाला निष्कपट निर्मल चित्तवाला ऊंचा महानुभाव महात्मा पास रखता है अपनाता है (असत्-हन्ति) असत्य का हनन करता है—खण्डन करता है नाश करता है, ऐसा महानुभाव महात्मा उस विशिष्ट ज्ञानी की भी अपेक्षा ऊंचा है।

संसार में पढ़े लिखे ज्ञानवान् बहुत मिल सकते हैं परन्तु यथार्थ ज्ञानवान् या सुनिश्चित ज्ञानवान् कम हैं उनका लक्षण (पहिचान) है सत्य और असत्य का स्वरूप परस्पर विरोधी बनकर सम्मुख आ जाना वे सत्य को असत्य और असत्य को सत्य नहीं समझते अपितु दोनों को अलग अलग जानते हैं उनके सत्य असत्य जानने में भ्रम नहीं होता। इन ऐसे यथार्थज्ञानवान् या सुनिश्चितज्ञानवान् विद्वानों में ऐसे महानुभाव तो विरले लाखों में कोई होते हैं जो सत्य को अपनाते हैं अपने जीवन में ढालते हैं, क्या मन में क्या वाणी में क्या आचरण में सर्वत्र सत्य ही सत्य बसा हुआ होता है तथा जो सदा असत्य का निराकरण किया करते हैं। वे सत्य का मन से स्वीकार वाणी से प्रचार और निज अंगों से व्यवहार तथा असत्य का मन से अस्वीकार वाणी से अप्रयोग और निज अंगों से अव्यवहार साथ में निराकरण करते हैं, ऐसे विरले जन महापुरुष महात्मा कहलाया करते हैं, उन्हें कोई भय फंसाता नहीं डर डराता नहीं लोभ लुभाता नहीं, वे निष्पक्ष निर्भय निर्लोभ

हुआ करते हैं उनका जीवन सत्य से आपूर भरपूर हुआ करता है। ऐसे जन परमात्मसत्सङ्ग के पात्र होते हैं परमात्मा भी तो सत्य-स्वरूप है[1] सत्यस्वरूप परमात्मा को सत्याचरण से प्राप्त करते हैं क्योंकि परमात्मा सत्य से प्राप्त किया जाता है[2]।

ऋषिः—अनृणकामः-कौशिकः=ऋण को उतारने की कामना वाला-कुशिक—यथावत् आचरणीय वृत्त को घोषित प्रकाशित करने वालों में विशेष ऊंचा वक्ता[3]।

देवता—अग्निः=सर्वज्ञ परमात्मा।

ऋण को अपने और उनके जीवनकाल में चुकाना धर्म—

इहैव सन्तः प्रतिदद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो निहराम एनत्।
अपमित्य धान्यं यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥

(अथर्व० ६।११७।२)

(इह-एव जीवाः सन्तः-एनत् प्रतिदद्मः) इस ही जीवन में हम जीते हुए इस ऋण को प्रति प्रदान करें—लौटादें चुकादें (जीवेभ्यः-एनत्-निहराम) जिनसे ऋण लिया उन जीवितों के लिये इस ऋण धन को समर्पित करें—सौंपदें (यत्-धान्यम्-अपमित्य-अहं जघास) जिस अन्न को बदला चुकाना लौटाना निश्चित करके ऋणरूप में मैंने खाया है (तत्-इदम्-अग्ने-अनृणः-भवामि) उस इसको लौटा कर हे सर्वज्ञ परमात्मन्! मैं अनृण हो जाऊं।

किसी से ऋण लेना बुरा नहीं पर ऋण लेकर चुकाना चाहिए न चुकाना पाप है चौर्य कर्म है। अनेक तो प्रथम ही इस धारणा से ऋण लेते हैं कि "यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं

---

१. "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१)
"सत्यश्चित्रः श्रवस्तमः" (ऋ० १।१।५)

२. "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा" (मुण्ड० ३।१।५)

३. "कुशिकः साधु विक्रोशयिताऽर्थानाम्" (निरु० २।२५)

पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥" जब तक जीना सुख से जीना ऋण लेकर घी पीना क्योंकि भस्म हुए शरीर का आना नहीं है फिर पाप का फल किसे भोगना ? परन्तु ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है, देह भस्म हो गया तो क्या देह का अधिष्ठाता चेतन आत्मा तो नित्य है वह दूसरे देह में जाकर उस पाप का फल अवश्य भोगेगा ही, और लोक में समाज व्यवस्था के भङ्ग करने का अपराधी भी बन जाता ही है, अतः ऋण तो चुकाना ही चाहिए और जिनसे ऋण लिया उनके जीवनकाल में उन्हें चुकावे पीछे पुत्र पौत्रों को चुकाना तो लोकाचार है यथार्थ आचार नहीं तथा ऋण लेनेवाले अपने जीवनकाल में चुकावें स्वयं अपने जीवन-काल में न चुकाया पीछे पुत्र पौत्रों ने चुकाया तो क्या ? वह भी लोकाचार है यथार्थाचार नहीं। जैसे लौकिक धनरूप ऋण से मुक्त होना चाहिए एवं ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण इन तीन शास्त्रीय ऋणों से भी मुक्त होना भी कर्तव्य है। ऋण से मुक्त होना अपने को निष्पाप बनाना परमात्मा की प्राप्ति का रिक्तपात्र बनना है निष्पाप निर्मल अधिकारी को ही परमात्मा प्राप्त होता है॥

ऋषि:—अथर्वा=स्थिरवृत्ति वाला जन।

देवता—दानभोगौ=दान देना और स्वयं भोगना।

सम्पन्न होके न भोगना धनवान् होके दान न करना चोरी है—

यश्च पणिरभुजिष्ठो यश्च रेवाँ अदाशुरिः।
धीराणां शश्वतामह तदपागिति शुश्रुम॥

(अथर्व० २०।१२८।४)

(यः पणिः-च-अभुजिष्ठः) जो ही व्यापारी न भोगनेवाला अर्थात् कृपण है कञ्जूस है (यः-रेवान्-च-अदाशुरिः) जो धनवान् होता

---

१. "शश्वत्—बहुनाम" (निघं० ३।३)

हुआ भी न देने वाला है—दानकर्ता नहीं। (वह (शश्वतां धीराणम्-अह-अपाक्-इति शुश्रुम) बहुत[1] सज्जनों के मध्य में निश्चय नीच है सभासमाज में बैठने योग्य नहीं है ऐसा सदा से सुनते हैं।

नानाविध भोग्य सामग्री का व्यवहार करना स्वामी होना परन्तु न स्वयं भोगना न बालबच्चों पारिवारिक जनों को भोगने के लिये देना यह ऐसी कृपणता (कञ्जूसी) चोरी से कम पाप नहीं। चोरी तो दूसरे की वस्तु का अपहरण करना है कृपणता अपने और अपने सन्तान आदि के भोगाधिकार का अपहरण है, अपहरण करना ही चोरी है। साथ ही ऐसी कृपणता से अपने परिवार का नाश होता है तथा धनवान् होते हुए भी अन्य अधिकारी को सत्प्रयोगार्थ न देने की प्रवृत्ति भी चोरी ही है। जैसे विद्यावान् की विद्या में जल-वान् के जल में अन्य के उपयोग का—अन्य को लेने का अधिकार निहित है इसी प्रकार धनवान् के धन में अन्य पात्ररूप या अधि-कारीजन का भी भाग निहित है। धन को सदुपयोगार्थ न देने से समाज और राष्ट्र के उपयुक्त कार्यों में क्षति होती है। वे ऐसे कार्य चिकित्सालय, धर्मशालाएं, अनाथालय, व्यायामशालाएं, विद्यालय, छात्रालय, आतुरालय, विश्रामस्थान, स्वास्थ्योद्यान, जनमार्ग, कूप-वापी, तडाग, प्रपा आदि सर्वहित के कार्य न चलेंगे। जो धनवान् धन को जोड़ते रहते ही हैं सार्वजनिक कार्यों में सदुपयोग नहीं करते वे जन सज्जनों में प्रतिष्ठा को पाने से तो दूर रहते ही हैं किन्तु चोरसमान अपमान के भागी बनते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा=चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् आचार्य।

देवता—ब्रह्मचारी=ब्रह्मचारी बनना बनाना।

ब्रह्मचर्य से मृत्यु पर विजय और देवश्रेणि में गिना जाना—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥(अथर्व० ११।५।१९)

---

१. "शश्वत्-बहुनाम" (निघं० ३।१)

(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्यरूप तप से (देवाः-मृत्युम्-अपाघ्नत) दिव्यशक्तिसम्पन्न असाधारण जनों—विद्वानों ने मृत्यु को अपहत कर दिया—परास्त कर दिया—मार दिया[1]। पुनः (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य पालन के कारण (देवेभ्यः) उन ब्रह्मचारी विद्वानों के लिये (इन्द्रः स्वः-आभरत्) सुखैश्वर्यवान् परमात्मा ने स्वः—स्वर्—निज में रमण करने योग्य मोक्षरूप सुख को सौंप दिया—प्रसादरूप में दे दिया।

ब्रह्मचर्य धारण करना भारी तप है इस तप से इन्द्रियों और मन के दोष दग्ध एवं वाष्पीभूत होकर उड़ जाते हैं, इस ब्रह्मचर्य रूप तप का परम फल है मृत्यु को जीतना और अमृत सुख अर्थात् मोक्ष को पाना। यह तो एक फलदृष्टि की बात थी, परन्तु देव कौन हैं यह लक्ष्य यहां अध्यात्म क्षेत्र में विशेष उपादेय और ध्यान देने योग्य है। इस प्रकार देवों का लक्षण स्पष्ट हुआ कि ब्रह्मचर्य धारण करना और इतना धारण करना इतने समय तक अर्थात् यावज्जीवन अन्त तक धारण करना कि जिससे मृत्यु को जीत सके मृत्यु के कष्ट से बच सके मृत्युके पाश से छूट सके जन्ममरणसे बच जावे। पुनः ईश्वर की ओर से अमृत सुख-मोक्ष का प्रसाद ले सके। शरीर मन और आत्मा में स्नेह का संस्थान या सञ्चय ब्रह्मचर्य से होता है, स्नेह से ही दीपक में ज्योति आती है स्थान लेती है, मानव जीवन भी इस ब्रह्मचर्य स्नेह से ज्योतिष्मान् जाज्वल्यमान बन जाता है स्वयं चमकता है प्रकाश देता है। ब्रह्मचर्य के विना मनुष्य हत-प्रभ होकर जीवन की अधोगति के अन्धकूप में गिर जाता है। ऊंचे ब्रह्मचारी का लक्ष्य तो यह बन जाता है कि "मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय।" (अथर्व० ६।१३३।३) मैं मृत्यु का ब्रह्मचारी हूं गृहस्थाश्रम में जाने वाला गृहिणी का ब्रह्मचारी

---

१. पुरुषव्यत्ययः।

नहीं मेरा ब्रह्मचर्य गृहिणी के लिये नहीं अपितु मृत्यु से संघर्ष करने के लिये मृत्यु से युद्धरूप आलिङ्गन करने के लिये मैं ब्रह्मचारी बना हूं। पुनः भूत अर्थात् भौतिक देह से पुरुष अर्थात् आत्माको निकालने के हेतु संसार के यमनशील नियन्त्रण कर्ता परमात्मा के प्रति समर्पण करने के लिये मैं मृत्यु का ब्रह्मचारी हूं मृत्यु से संघर्ष लेने को ब्रह्मचारी हूँ। इस प्रकार ब्रह्मचर्य स्नेह से परमात्मा का समागम भी प्राप्त होता है॥

ऋषि:—मैत्रावरुणो वसिष्ठः=मित्र पापविनाशक वरुण–गुणवरणकर्ता दोनों प्राण अपान[1] के नियन्त्रण से निष्पन्न पवित्र जीवनवाला सब में अत्यधिक वसने वाला मान पाने वाला जन।

देवता—इन्द्रः=आत्मा शुद्ध आत्मभावसम्पादक।

उल्लू आदि की मोह आदि दुर्वृत्तियों को नष्ट करना मानवता—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्रः॥

(ऋ० ७।१०४।२२)

(इन्द्र) ओ सामर्थ्यवन् आत्मन्! तू (उलूकयातुम्) उल्लू की चाल को—उल्लू की अन्धकारप्रियता के समान अज्ञानरूप मोह को (शुशुलूकयातुम्) भेडिये की चाल को—भेडिये की क्रूरता के समान क्रोध को (श्वयातुम्) कुत्त की चाल को–कुत्ते की पारस्परिक मत्सरता द्वेष प्रवृत्ति के समान निज ईर्ष्या द्वेष को (उत) तथा (कोकयातुम्) चक्रवाक चिडे की चाल को—चिड़े की कामातुरता के समान स्वकामभाव को (सुपर्णयातुम्) अतिपतनशील बाज की चाल को—बाज के अन्य पक्षियों पर आक्रमण अहङ्कार मद के समान निज अहंकार मद को (उत) तथा (गृध्रयातुम्) गिध की

---

१. "प्राणापानौ मित्रावरुणौ" (तां० ६।१०।५)

चाल को—गिध की मुर्दें तक को खाजाने वाली अति लोभी वृत्ति के समान अति स्वार्थ भाव अति लोभ लालसा को (जहि) त्याग दे। अथवा उस उस पक्षी आदि के समान धर्मवाले मानव के अन्दर वर्तमान काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, द्वेष रूप प्रत्येक (रक्षः-दृषदा-इव प्रमृण) घातक को पत्थर की भांति योग प्रहार से नष्ट कर दे।

मानव के जैसे बाहिरी शत्रु होते हैं एवं भीतरी शत्रु भी हुआ करते हैं, वे भीतरी शत्रु प्रसिद्ध दुर्वृत्तियुक्त प्राणियों की प्रवृत्तियों जैसी मानव की प्रवृत्तियां अथवा उन ऐसे प्राणियों के समान मानव के अन्दर घातकरूप में निवास कर लेने वाले 'काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, द्वेष, हैं। ये मानव के अन्दर उल्लू, भेड़िया, कुत्ता, चिड़ा, बाज, गिध बनकर बैठे हुए हैं जो निरन्तर मानव को अपनी ओर खींचते हुए उसे मानवता से गिराते रहते हैं हानि पहुंचाते रहते हैं। उल्लू की दुर्वृत्ति है अन्धकारप्रियता जो मानव में मूढ़ता या मोह के रूप में है, भेड़िये की दुर्वृत्ति है क्रूरता जो मानव में क्रोध रूप में हैं, कुत्ते की दुर्वृत्ति है पारस्परिक ईर्ष्या जो मानव में द्वेष है, चिड़े की दुर्वृत्ति है कामातुरता जो मानव में काम या कामभाव है, बाज की दुर्वृत्ति है अभिमान गर्व जो मानव में मद है, गिद्ध की दुर्वृत्ति है मुर्दे तक पर गिरने खाने की गर्धा जो मानव में लोभ। इन उल्लू आदि प्राणियों की वृत्तियों अथवा इन मोह आदि उल्लू आदि जैसों को अपने जीवन में स्थान न देना चाहिए अपितु इन का पग भी न पड़े ऐसा यत्न निरन्तर करते रहना चाहिए इन्हें योगाभ्यास रूप प्रहारक साधन से मसल देना चाहिए ये राक्षस हैं मानव का आन्तरिक जीवन इन से रक्षणीय है, जहां ये मानव के अन्तर्जीवन को खा जाते हैं साथ ही उन उन प्राणियों की वृत्तिवाला मनुष्य को बना कर जहां तहां अनादर कराते हैं॥

ऋषिः—दध्यङ्-आथर्वणः=स्थिरवृत्तिवाले पिता का पुत्र या गुरु का शिष्य ध्यानशील।

देवता—बृहस्पतिः=महान् संसार का पति—पालक परमात्मा।

अपने छिद्रों को बन्द करने दोषों को दूर करने की भावना से कल्याणप्राप्ति।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णम्।
बृहस्पतिर्मे तद्दधातु शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥

(यजु० ३६।२)

(मे) मेरे (चक्षुषः-हृदयस्य मनसः-वा) नेत्र हृदय या मन का (यत्-छिद्रम्-अतितृण्णम्) जो छिद्र अत्यन्त खुल गया (तत्-मे (बृहस्पतिः-दधातु) उसे मेरे लिये—मुझ पर कृपा करके बृहस्पति परमात्मा बन्द करदे (भुवनस्य यः-पतिः) जो कि विश्व का स्वामी है वह इस प्रकार (नः शं भवतु) हमारे लिये कल्याणकारी हो।

मानव के अन्दर आत्मनिरीक्षण की भावना होनी चाहिए कि कहीं मेरे नेत्ररूप पात्र में कोई ऐसा छिद्र तो नहीं हुआ जिसके अन्दर से सद् दृष्टि समदृष्टि मित्रदृष्टि रूप सुधा तो बह बह कर नष्ट नहीं हो रही और उसमें को बाहिर से असद् दृष्टि पक्षपात दृष्टि वैर दृष्टि रूप कीट पतङ्ग चींटी चींटे तो नहीं घुस रहे हैं। देखना चाहिए मेरे हृदय पात्र में ऐसा छिद्र तो नहीं हो गया। जिसके द्वारा अन्दर से शिष्टता सदाचार उदारता दया स्नेह रूप सोम रस तो झिर झिर कर नष्ट नहीं हो रहा और बाहिर से अशिष्टता दुराचार कठोरता निर्दयता शुष्कता रूप तन्तुकीट (मकड़ियां) तो घुसकर जाल नहीं बिछा रहे। देखना चाहिए मेरे मनरूप पात्र में कोई ऐसा छिद्र तो नहीं हुआ जिसके अन्दर से एकाग्रता संयम हितचिन्तन रूप अमृत तो टपक टपक कर नहीं बह रहा और बाहिर से चञ्चलता असंयम अहितचिन्तत रूप मूषक जैसे क्षुद्र जन्तु तो

घुसकर डेरा नहीं डाल रहे। नेत्र हृदय और मन प्रधान अङ्ग हैं इनमें छिद्र हो गया तो सभी में छिद्र हो जावेंगे और इनमें छिद्र नहीं तो समझना चाहिए कि कहीं भी छिद्र नहीं हो सकते। यदि मानव अपने छिद्रों को देखकर बन्द करने का अभ्यासी बन जावे तो मानवता का स्तर ऊंचा उठजावे। परमात्मा उस पर कृपा कर उसे सुख शान्ति से भर देता है जो अपने छिद्रों को बन्द करने की भावना रखता है और बन्द करने में यत्नशील रहता है॥

ऋषिः—बृहद्दिवोऽथर्वा=बृहत् महत्[1] यश जिसका है—महायशस्वी स्थिर वृत्तिवाला जन।

देवता—विश्वे देवाः=सब दिव्यगुण जड़ पदार्थ और जन।

निष्पाप हो जाने पर सफल मनोरथता और देवों द्वारा रक्षा--

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु। एनो मा निगां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभिरक्षन्तु मेह॥

(अथर्व० ५।३।४)

(अहं कतमत्-चन-एनः-मा निगाम्) मैं किसी भी पाप को न प्राप्त होऊं—न करूं। जिससे (मम यानि-इष्टा मह्यं यजन्ताम्) मेरे अभीष्ट—इच्छित वस्तुएं मेरे लिये यजन करने लगें—मुझे प्रसन्न करने को यज्ञ रचा डालें—मैं अभीष्टों का देवता बन जाऊं (मे मनसः-आकूतिः सत्या-अस्तु) मेरे मन का उल्लास—सङ्कल्प सत्य हो जावे—सफल हो जावे (विश्वे देवाः-इह मा-अभिरक्षन्तु) सब देव—सब जड़ चेतन देवता इस अवस्था में मेरी पूरी रक्षा कर सकें।

---

१. "द्यौर्यशः" (शत० १२।३।४।७)

मानव निष्पाप हो जाने से ऊंचे चढ जाता है, जो इसके अभीष्ट हों वे इसे प्राप्त हो जाते हैं अपितु वे अभीष्ट इसे अपना देवता मानकर प्रसन्न किया करते हैं और मन का आन्तरिक उल्लास सङ्कल्प भी पूरा हो जाया करता है। केवल बाहिरी वस्तु-सिद्धि ही नहीं होती अपितु आन्तरिक मानस सिद्धि भी हो जाया करती है जिससे मानव स्थिर शान्ति को प्राप्त हो जाता है तथा समस्त जड़ चेतन देव अर्थात् समस्त दिव्यगुण पदार्थ और श्रेष्ठ विद्वान् भी इसकी रक्षा करने लगते हैं इसके अनुकूल होजाया करते हैं। क्या यह थोड़ी बात है यही तो मानव की कामना है कि बाहिरी वस्तुओं का यथार्थ सुख मिले और भीतरी स्थिर शान्ति प्राप्त हो समस्त देव अग्नि सूर्य वायु आदि तथा चेतन देव विद्वान् जन और अन्त में देवों का देव परमात्मा भी उसका रक्षक बन जावे उसका अपना हो जावे, बस फिर क्या मानव का जीवन कृतकृत्य हो जाता है॥

ऋषिः—आङ्गिरसः पवित्रः=प्राणशक्ति—इन्द्रियशक्ति से सम्पन्न संयमी पवित्र जन।

देवता—पवमानः सोमः=पवित्रकारक साक्षात्कृत परमात्मा।

आदि सृष्टि से ईश्वरीय [illegible] का [illegible] ज्योतिर्मय पताकाओं का [illegible] उन्हें पापी जनों का बहिरे अन्धे बन न सुन देख [illegible]—

[illegible]ध्या ये समस्वरञ्छ्लोकयन्त्रासो
[illegible] मन्तवः। अपानक्षासो बधिरा अहासत
[illegible] न तरन्ति दुष्कृतः॥

(ऋ० १०।७३।६)

(प्रत्नात्-मानात्) सृष्टि के पुरातन[1] निर्माण काल से[2] अथवा पुरातन मान अर्थात् काल से (रभसस्य) महान् जगदीश की[3] (ये) जो (श्लोकयन्त्रासः) वाणीयन्त्र--वीणाएं[4] (अधि-सम-स्वरन्) बज रही हैं[5]। तथा (मन्तवः) कान्ततरङ्गें[6] प्रकाश किरणें-ज्योतिर्मय झांकियां पताकाएं (आ-आसमस्वरन्) तरङ्गित हो रही हैं[7] फैरा रही हैं (बधिराः-अनक्षासः-अपहासत) बहिरे और नेत्र-हीन अर्थात् अन्धे जन त्याग देते हैं—ग्रहण नहीं कर पाते हैं। क्योंकि (दुष्कृतः-ऋतस्य पन्थां न तरन्ति) पापी जन सत्य के मार्ग को पार नहीं करते—तय नहीं किया करते।

जब से सृष्टि उत्पन्न हुई तभी से इसके रचयिता को घोषित करने वाली वीणाएं बज रहीं हैं तथा उसे सूचित करने वाली ज्योतिर्मय झांकियां एवं पताकाएं भी चमचम कर रही एवं फैरा रही है परन्तु पापी जन बहरों और अन्धों के समान न सुन पाते हैं न देख पाते हैं। सत्य के मार्ग का पार पाना या सत्य तक पहुंचने के मार्ग को तय करना उनके लिये सम्भव नहीं है। पापी जन अन्य के सत्य वचन को सुन ही नहीं सकता, मार्ग की दिशा सुझाने पर भी देख नहीं सकता, वह मार्ग का पार कैसे पावे कैसे वह सत्यस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करे? संसार में आदि काल से उस जगत्कर्ता की सत्ता को घोषित करने वाली वीणाएं बज रही हैं, वैसे तो वस्तु

१. "प्रत्नं पुराणनाम" (निघं० ३। २७)
२. "माने निर्माणे" (निरु० २। २२।)
३. "रभसौ महन्नाम" (निघं० ३। ३)
४. "श्लोक इति वाङ्नाम" (निघं० १। ११)
५. "स्वृ शब्दे" (भ्वादि०)
६. "मन्यते कान्तिकर्मा" (निघं० २। ६)
७. "स्वरति गतिकर्मा" (निघं० २। २४)

वस्तु में विवेचनशील आस्तिक जन उसकी वीणाएं बजती हुई सुनता है तथापि भांतिभांति के पक्षियों की भिन्नभिन्न बोलीमें नदी झरनोंकी झनझनी ध्वनिमें मेघोंकी गम्भीर गर्जना में उसकी वीणाएं बज रही हैं। एवं साधारणतः वस्तु वस्तु में विवेचनशील आस्तिक जन उसकी दिव्य ज्योतिर्मय झाकियों को पताकाओं को चमचमाती हुई फेहराती हुई देखता है तथापि विशेषतः रंगविरंगे पक्षियों के परों; फल फूलों, नक्षत्र तारों ग्रह सितारों चन्द्र सूर्य में उसको सूचित करने वाली ज्योतिर्मय झांकियां तथा पताकाएं तो साक्षात् चमचमाती हुई फेहराती हुई देखता ही है। पर इन्हें सुनने देखने में पापी जन बहरा और अन्धा बन कर भटका करता है वह संसारयात्रा का गन्तव्य और प्राप्तव्य सत्य स्थान नहीं पा सकता,पाप से पृथक् होकर ही उस सत्य स्थान की यात्रा में मानव सफल हुआ करता है॥

इस प्रकरण का सार—

भद्र श्रवण भद्र दर्शन से देवों जैसी आयु प्राप्त होना परमात्मा की स्तुति कर सकना, देवों की सुमति विद्या मित्रता से श्रेष्ठ बनना देवों की सुमति में रहने से भाग्यवान् बनना, वाणी को शोध कर बोलने में शोभा विभूति, वाक् आदि पंचाङ्ग में वेदत्रयी एवं स्तुति प्रार्थना उपासना को चरितार्थ करने से जीवनसाफल्य,यशोमय जीवन का सङ्कल्प कल्याणकर,ईश्वर के आदेश पालन और ध्यान से भीतरी शत्रुओं का नाश, पापिष्ठ कामना त्याग से परमात्मप्राप्ति, प्राणीमात्र का कल्याण चिन्तन सच्ची नागरिकता, मधु व्यवहार से मधु जीवन बनाना, मित्रदृष्टि से मित्रलाभ पारस्परिक स्नेह, सत्यपरायण जीवन श्रेष्ठ सोम्य, ऋण जीवन काल में चुकाना धर्म अन्यथा अधर्म चोरी, कृपणता और अदातृता चोरी समान नीच कर्म, ब्रह्म-चर्य से देव बनना मृत्यु को जीतना, उल्लू आदि के समान मोह

आदि हानिकर वृत्तियों का नाश करना, आत्मनिरीक्षण स्वछिद्रों दोषों को दूर करने से आत्मकल्याण, निष्पापता से मनोरथ सफल होना देवों द्वारा रक्षा पाना, जगत् में आदि काल से ईश्वरीय वीणाएं बज रही हैं और ज्योतिर्मय पताकाएं फैहरा रही हैं पर पापी जन बहिरों और अन्धों की भांति उन्हें सुन देख नहीं सकते संसार में गिरे रहते हैं ॥



कर्म और कर्मफल

ऋषिः—मेधातिथिः=पवित्र अतिथि—अतनशील—कर्मफलार्थ निरन्तर गमनशील[1] पवित्र शरीरी—पवित्र कर्मकर्ता।

देवता—सविता=ऐश्वर्यवान् प्रेरक परमात्मा।

कर्मानुसार भोगफल—

> विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
> सवितारं नृचक्षणम् ॥

(यजु० ३०। ४)

(वसोः- चित्रस्य राधसः) संसार में वसाने वाले भिन्न भिन्न भोग्य धन के[2] (विभक्तारं नृचक्षसं सवितारं हवामहे) विभाजन-कर्ता यथायोग्य पृथक् पृथक् प्रदाता-कर्मानुसार भिन्न भिन्न रूप में प्रदाता मनुष्यों के यथावत् द्रष्टा, कर्मफलभोगार्थ प्रेरक ऐश्वर्यवान् परमात्मा को पुकारते हैं—उसका धन्यवाद करते हैं।

परमात्मा अद्भुत धन का विभाजनकर्ता है—वितरण करने वाला है। उसका धन ऐसा धन है जिसके विना मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता और जिस धनराशि की प्राप्ति विना उसके अन्य से नहीं हो सकती। उसका दिया धन बहुत प्रकार का है, गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द से युक्त वस्तुएं उसका धन है और फिर इनको नये नये रूपों में कौन दे सके? साथ में इन धनों के उपयोगार्थ करण

---

१. "अत सातत्यगमने" (भ्यादि०)

२. "राधः- धनम्" (निघं० २। १०)

विभक्तारं कर्मानुरूपेण विभक्तारम्" (उव्वटः)

इन्द्रियां भी तो वही देता है यह हैं विचित्रता उसके धनप्रदान की पर है यह उसका दान विभाजनरूप पृथक् पृथक् कर्मानुसार, जैसा जैसा जिसका कर्म वैसा वैसा विभाजन धन का और धन के उपयोगार्थ करणों का। ऐसे उस कर्मकर्ता जनों के द्रष्टा परमात्मा को हम अपने अन्तरात्मा में आमन्त्रित करें बुलावें उसका धन्यवाद करें। उस धनस्वामी के यहां धन की क्या कमी भौतिक धन के अतिरिक्त आध्यात्मिक धन भी उसके यहां है जो नितान्त उसके सङ्ग से ही मिल सकता हैं। अन्य धन हैं, पर यह धन तो अमृत है हम अमृत धन के प्रदानार्थ उसे बुलावें—आओ अमृतस्वामिन्! हमें अमृत धन का प्रदान करो॥

ऋषिः—बृहद्दिवो ऽथर्वा=महायशस्वी स्थिरवृत्तिवाला जन।

देवता—वरुणः= सब को कर्म फलप्रदानार्थ वरणकर्ता तथा सुखलाभार्थ सब के वरने योग्य परमात्मा।

कर्मानुसार परमात्मा की ओर से शरीर का मिलना—

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि। धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥

(अथर्व० ५।१।२)

(यः प्रथमः-धर्माणि-आसंसाद) जो पूर्व से विद्यमान परमात्मा जीवात्माओं के धर्मों—कर्मों को प्राप्त होता है (तत्) पश्चात् (पुरूणि वपूंषि कृणुषे) वह तू परमात्मन्! बहुत प्रकार के शरीरों को तैयार करता है—देता है। पुनः (धास्युः प्रथमः-योनिम्-आविवेश) शरीर धारण करने वाला प्रथम विद्यमान जीवात्मा योनि में—शरीर में प्रविष्ट होता है (यः-अनुदितां वाचं चिकेत्)जो स्पष्ट रूप से उच्चारणरहित वाणी को प्रेरित करता है।

प्रथम से विद्यमान जीवात्मा जैसे कर्म करता है वैसेप्रथम से

वर्तमान परमात्मा उसके लिये शरीर निर्माण करता है पुनः वह उस शरीर के निर्माण स्थान योनि को प्रविष्ट होता है पश्चात् अवसर पर योनि से बाहिर आकर जन्मकाल में अव्यक्त अस्पष्ट वाणी को बोलता है—रोने का स्वर भरता है उस शरीर में विद्यमान होने की सूचना देता है। परमत्मा प्रथम है जीवात्मा प्रथम है, दोनों के साथ प्रथम शब्द होने से परमात्मा और जीवात्मा समकालीन अनादि हैं यह स्पष्ट होता है। इस प्रकार जीवात्मा पुण्य पाप कर्मों का कर्ता होने से पुण्य पाप कर्मों के अनुसार शरीर पाता है—जन्म पाता है, क्योंकि जन्म, जीवन, भोग ये तीन कर्म के फल होते हैं[1]।

*—

ऋषि:—वसिष्ठः=सद्गुणों में अत्यधिक वसनेवाला श्रेष्ठ जन।

देवता—अग्निः=ज्ञानमय तप तेज से पूर्ण परमात्मा।

पापकर्मों कृतघ्नताओं तथा अकर्मण्यता से ऐश्वर्य और अमृत भोग के दाता के पास नहीं पहुंच सकके—

ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेरीशे रायः सुवीर्यस्य दातोः।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परिषदाम मा दुवः॥

(ऋ० ७।४।६)

(अग्निः) ज्ञानमय तप तेज वाला परमात्मा (भूरेः-अमृतस्य रायः[2] दातोः-ईशे) भारी मोक्ष धन को देने के लिए स्वामी हुआ

---

१. "सति मूले तद्विपाको जात्यायु भोंगाः" (योग० २।१३)

*—दाता के दान कर्म का शुभ भोगफल मिलता है (पढो—"अहं भुवं वसुनः···" पृ० २०४)

अनर्थों के मूल हैं काम, मद, क्रोध लोभ, मोह, भय, शोक पढ़ो—"न स स्वो दक्ष···" पृष्ठ ४६)

२. "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" (अष्टा० २।३।५२) कर्मणि षष्ठी।

है—देने को उद्यत है (सुवीर्यस्य-ईशे) तथा भारी सुपुष्टि सुसमृद्धि करने वाले सांसारिक धन देने का भी स्वामी हो रहा है—देने को उद्यत है। परन्तु (सहसावन्) वह तू हे प्रतापी परमात्मन् ! (वयम्-अवीराः-त्वा मा परिषदाम) हम अवीर–आत्मबलरहित–अपने बोध से रहित हुए तेरे पास नहीं पहुंच पाते (अप्सवः-मा) रूपरहित हुए[1] पाप कालिमा से पुते हुए मुख वाले भी उक्त धन लेने को तेरे पास नहीं पहुंच सकते। तथा (अदुवः-मा) परिचरणरहित[2] समर्पणभावरहित हुए भी हम उक्त धन लेने को तेरे पास नहीं पहुंच सकते।

परमात्मा सांसारिक ऐश्वर्य तथा मोक्षैश्वर्य का भी स्वामी है और उक्त धनों पर उसका स्वामित्व जीवों को प्रदान करने के लिये है परन्तु उससे लेने के लिए पात्र या अधिकारी बनने की आवश्यकता है। आत्मबलसम्पन्न निष्पाप तथा आत्मसमर्पणकर्ता जन ही उक्त धनों को प्राप्त कर सकते हैं। जिनके अन्दर आत्मबल नहीं अपने पैरों पर खड़े होने की प्रवृत्ति नहीं वे उससे धन नहीं प्राप्त कर सकते। जो अपनी शक्ति को नहीं सम्भालता और आत्मविश्वासी नहीं वह प्रभु से कुछ प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? कहा भी है "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" (मुण्ड० ३।२।४) पापी जन उससे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि पाप एक बन्धन है। इसी प्रकार परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण नहीं कर पाता केवल लोकव्यवहार में ही रत रहता है जिसे कभी भी ईश्वर का ध्यान नहीं आता अपितु विपरीत आचरण करता है उसे भी परमात्मा से कुछ प्राप्त होना सम्भव नहीं। नश्वर पदार्थों की सेवा में समय लगावे और अमर देव से अमृत भोग पावे यह नहीं बनता। अतः

१. प्सु रूपनाम" (निघं० ३।७)।
२. "दुवस्यति परिचरणकर्मा" (निघ० ३।५)।

हमें आत्मबल को बढाना पाप से पृथक् रहना और परमात्मा को ही अपना सर्वस्व समझ वैसा आचरण करना चाहिए तभी हम उससे अभीष्ट धनैश्वर्य पा सकेंगे ॥

❀—

ऋषिः—देवाः=विद्वान् जन बुद्धिमान् पुरुष ।

देवता—अग्निः=अग्रणी आगे बढ़नेवाला ऊंचा उठने वाला यथार्थ ज्ञान से प्रकाशमान दिव्य जीवन जन 'बनना' ।

जीवनतन्तु को तानते हुए निष्काम कर्मरूप वस्त्र धारण कर दिव्य जीवन बनना ।

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् । अनुल्वणं वयत जोगुवा-मपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥

(ऋ० १० । ५३ । ६)

(तन्तुं तन्वन्) ओ आगे बढने वाले ज्ञानी जन! तू अपने जीवनतन्तु को तानता हुआ[1] (रजसः-भनुम्-अन्विहि) लोकमात्र के[2] भासमानकर्ता—प्रकाशक परमात्मा को अनुगत हो—प्राप्त हो। अतः (धिया कृतान् ज्योतिष्मतः पथः-रक्ष) धारणा ध्यान से निष्पादित ज्योतिष्मान् मार्गों का[3] अवलम्बन कर (जोगुवाम्-अनुल्वणम्-अपः-वयत) प्रशंसित स्तुति शब्द करने वाले ध्यानी

---

*–निष्काम कर्मों को करते जाना जीवन को कर्म करने के हेतु समझना। (पढ़ो—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि···" पृष्ठ १६०)

१. "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।" (यजु० ४०।२)

२. "लोका रजांसि" (शत० ६।३।१।१८)

३. "तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्यय आत्मा ॥ (मुण्ड० १।२।११)

विद्वानों के अनुद्धत—उभरेभागरहित—उलझनरहित—जाल के समान ग्रन्थिबन्धन से रहित[1] कर्मरूप[2] वस्त्र को बुन[3] अर्थात् प्रशस्त स्तुतिकर्ता जनों को जैसा अबन्धनकारक निष्काम कर्म मिर्लेप कर्म करना चाहिए वैसा कर्मवस्त्र अपने जीवन तन्तु से तान अतः (दैव्यं जनं जनय) अपने को देवश्रेणि का जन बना। एतदर्थ (मनुः-भव) मनुष्य के ऊपर इसके मूलरूप मननशील-विवेकी होकर ईश्वर का चिन्तन कर।

जो आगे बढना चाहता है उसे चाहिए कि वह प्रथम अपने जीवनतन्तु को दीर्घ करे—लम्बा ताने और इतना लम्बा ताने कि लोकमात्र के प्रकाशक परमात्मा तक तानता हुआ पहुंच जावे पुनः अपनी जीवनयात्रा में धारणा ध्यान से निष्पादित किए प्रकाशमय मार्गों का अनुसरण करे उपासनायोग को साधे पश्चात् प्रशस्त स्तुतिकर्ता जनों को जैसे श्रेष्ठनिष्काम कर्म करने होते हैं वैसे श्रेष्ठकर्म रूप वस्त्र को बुने ऐसे कर्मरूप वस्त्र को अपने बाहिर भीतर धारण करते हुए मननशील बने अर्थात् संसार की प्रत्येक वस्तु ऊपर-ऊपर से ही देख कर उसकी ओर न फिसले किन्तु उसके अन्तःस्थल में क्या है या इसके पृष्ठ पर—ऊपर क्या है यह देखे, बस फिर क्या दिव्य जीवन बन गया। दिव्य जीवन संसार में विरले हुआ करते हैं वे वस्तु के बाहिर रूप को कम देखा करते हैं किन्तु भीतरी रूप को विशेष देखते हैं कहा भी है "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (ब्राह्मणे) देव श्रेणि के जन परोक्ष से प्यार करते हैं, तभी वे साधारण जनों से आगे बढ जाया करते हैं। बस आगे बढने

१. "श्लेष्मोल्वणा महामूलाः" उल्वणम्—उद्बलनम् उत्बल अच् पृषोदरादि।

२. "अपः कर्मनाम" (निघं० २। १)

३. वचनव्ययत्येन बहुवचनम्।

ऊंचे चढने का मार्ग है निष्काम कर्म के वस्त्र का ताना परमात्म-प्राप्ति तक तानते चले जाना ॥

ऋषि:—वसिष्ठ:=ईश्वर में अत्यधिक वसने वाला श्रेष्ठ जन।

देवता—इन्द्र:=ऐश्वर्यवान् परमात्मा।

श्रेष्ठ कर्म, उदारता, नम्रता ईश्वर की उपासना से बन्धन बेडियों का छूटना—

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं इन्द्रे कर्मणा भुवत्॥

(ऋ० ७। ३२। १३)

(अखर्वं सुधितं सुपेशसं मन्त्रम्) हे भद्र जनो! तुम परमात्मा के लिए दर्परहित उदारतासहित नम्रभावपूर्ण, यथार्थ, सुन्दर और प्रेमभरे, मन्त्र स्तुति विचार को (यज्ञियेषु-आदधात) जीवन के समस्त धर्म्य कार्यों में समर्पित करो। क्योंकि (य: कर्मणा-इन्द्रे भुवत्) जो कर्म से—यज्ञिय कर्म से—श्रेष्ठ कर्मद्वारा परमात्मा में स्थिर हो जाता है। (तं पूर्वी:-चन प्रसितय:-तरन्ति) उसे पुरानी बन्धनबेडियां भी लंघ जाती हैं-छोड जाती हैं।

मानव संसार के अन्दर बन्धन में पडा है ऐसा विद्वानों द्वारा कहा जाता है साथ में अनेक कहते हैं कि बन्धन है कर्म से, परन्तु यहां कहा गया है कि बन्धन कर्म से कटता है तब सत्य क्या है? सत्य यह है कि बन्धन के कर्म से बन्धन में आता है और बन्धन से छूटने के कर्म से बन्धन से छूटता है। यह ठीक है कि बन्धन में कर्म के विना नहीं आता पर यह भी ठीक है कि बन्धनसे छूटने बाहिर आने के लिए भी कर्म करना—यत्न करना पडता ही है। सो संसार में प्रवृत्ति के कर्मों द्वारा बन्धन में आता है और संसार से निवृत्ति के कर्मों द्वारा बन्धन से मुक्त होता है। बन्धनसे छुडाने वाले कर्म यहां कहे हैं उदारता, निष्पापता, निष्कपटता, ईश्वर के

प्रति नम्रता श्रेष्ठ अवसरों में ईश्वर की स्तुति उपासना करना आदि अध्यात्म कर्म। कहा भी है "अध्यात्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः" (वैशे० ६।२।१७) अध्यात्म कर्मों में मोक्ष कहा गया है। क्योंकि अध्यात्म कर्म द्वारा मानव अपने को ईश्वर में समर्पित कर देता है। संसार की ओर वहनेवाली कर्मधारा को बन्द कर देता है और ईश्वर की ओर कर्मधारा ले जाकर बन्धन से छूटकर मोक्ष पाता है।

ऋषिः—भृगुः=प्रतापी जन[1]।

देवता—वनस्पतिः=वनस्पतिसदृश आदर्श बहुत उपकारी बनना अन्यों का जीवनाधार प्राणरूप[2] बनना।

सत्कर्म संग्रह से सत्कर्मप्रसार, निजकर्मभावना से परोपकार अधिक करना—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सङ्किर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥

(अथर्व० ३। २४। ५०)

(शतहस्त समाहर) ओ प्रतापी तेजस्वी स्वयं उठने और अन्यों को उठाने वाले समृद्धि पाने वाले जन! तू सैकडों हाथों वाला सैकडों हाथों की शक्ति वाला होता हुआ धन धान्य विद्या आदि साधनों का संग्रह कर। पुनः (सहस्रहस्त सङ्किर) सहस्रों हाथों वाला सहस्रों हाथों की शक्ति वाला होता हुआ उन धनधान्य विद्या आदि साधनों को बिखेर–फैला–वितरण कर। सो कैसे (इह कृतस्य कार्यस्य च स्फातिं समावह) इस जीवन में किये हुए की और करने योग्य की—भूत और भविष्य कर्म के मध्य में जीवन की लता को वढा।

---

१. "भृगुः प्रतापी" (उणादि०)

२. "प्राणो वै वनस्पतिः", (ऐ० २।४)

३. "सुपां सुलुक्०" (अष्टा० ७।१।३९) से 'सु' का लुक्।

धनधान्य विद्या साधन शक्ति की प्राप्ति सैकड़ों प्रकार से करना चाहिए परन्तु उनका प्रसार उपयोग सहस्रों स्थानों में करना चाहिए। वनस्पति को देखो वह भूमि से रस सैकडों मूलभागोंसे प्राप्त करता है परन्तु उसका फलरूप में सहस्रों शाखाभागों से प्रसार करता उपयोग देता है। संग्रह नाना स्थानों में उपयोग करने के लिए होता ही है, नाना स्थानों में उपयोग से वह अपने नूतनरूप में बढ़ा करता है। प्राणियों का प्राणप्रद किसान अपने एकत्र अन्न संग्रह को खेत में अनेकत्र बोनेरूप उपयोग से बहुगुणित अन्न का विस्तार कर लेता है। संग्रह भावना की अपेक्षा उपयोगार्थ भावना उदार भावना अधिक होनी चाहिये। इससे अपना और संसार का हित सिद्ध होता है मात्र संग्रह पर अवलम्बित रहने से संकुचित भावना से दूसरों का हित तो क्या अपना हित भी स्थिर सिद्ध नहीं होता, अपितु वह संग्रह एक दिन मिट्टी में मिल जाता है हानिकर सिद्ध होता है संसार में अनेक उपद्रवों को जन्म देता है निरन्तर घातक शक्तियों का आक्रमण हो जाता है। अतः साधनों के सदुपयोगों-द्वारा अपने किये कर्म और कर्तव्य कर्म की लता बढती हुई कल्याण धाम तक पहुंचाना चाहिए॥

*—

---

*—अधिकारी या पात्र को अन्न भोजनादि दान करना, न देने से सुखदाता परमात्मा को नहीं पाता (पढो—'य आध्राय···"पृष्ठ १२६)

आवश्यकतावाले पात्र के प्रति दान करने से घाटा नहीं होता बढ़ता है दूसरों में मित्रता पाता है (पढो—"स इद् भोजो···"पृष्ठ १२७)

अधिकारी याचक को भोजनादि से उदारता के साथ तृप्त करना चाहिये (पढो—पृणीयादिन्ना० पृष्ठ १२९)

अन्नादि से पूजनीय तथा सम्बन्धीं सखा का सत्कार करना चाहिए न करना पाप है (पढो—"मोघमन्नं विन्दते"···पृष्ठ १३०)

ऋषिः—कामायनी श्रद्धा=सङ्कल्पमयी सद्वृत्ति या श्रद्धा निष्ठा धर्म से पूर्ण होने के कारण श्रद्धा परायणव्यक्ति।

देवता—श्रद्धा=निष्ठा–निष्ठा धारण करना।

यजन कर्म और योगाभ्यास में हार्दिक श्रद्धा से परम फल—

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाऽऽकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥

(ऋ० १०। १५१। ४)

(यजमानाः-देवाः श्रद्धाम्-उपासते) यजनशील[1] मनीषी विद्वान् श्रद्धा को सेवन करते है। तथा (वायुगोपाः श्रद्धाम् 'उपासते') वायु पर निर्भर अल्पाहारी प्राणायामादि योगाभ्यास करने वाले योगी श्रद्धा को सेवन करते हैं (हृदय्यया-आकुत्या) हृदयस्थ-हृदय में होने वाली आत्मीयधारा या भावना से श्रद्धा को उक्त महानुभाव सेवन करते हैं। वह श्रद्धा उनके हृदय में उपजती है (श्रद्धया वसु विन्दते) उस हृदय भावना से उद्भूत श्रद्धा के द्वारा मन में बसने वाले अभीष्ट धन ऐश्वर्य विद्या योग वैभव को मनुष्य प्राप्त करता है[2]।

मानव के कुछ कर्म ऐसे भी हैं जिनका फल तुरन्त या शीघ्र सम्मुख नहीं आता अपितु उसके लिये धैर्य से प्रतीक्षा करनी पड़ती है। लोक में जैसे किसान खेती करता है–खेत जोतता और बीज

---

१. "पूङ् यजो शानन्" (अष्टा० ३।२। १२८) ताच्छीलिकः शानन्।
२. "अश्रद्धामनृते ऽदधात्-श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः" (यजु० १९।७७)
"श्रद्धा सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति" (व्यासः, योग० १।२०)

बोता है या माली बाग लगाता है तो उसके फल तुरन्त या शीघ्र प्राप्त नहीं होते किन्तु कुछ काल धैर्य से प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसी प्रकार मानव को आन्तरिक जीवन में फल लाने वाले कर्मों के फलों के लिये भी धैर्य से प्रतीक्षा करनी पडती है, वे ऐसे कर्म हैं यज्ञ—यजनीय श्रेष्ठ कर्म—मानस सुख सम्पादन कर्म, विद्याभ्यास या श्रवण मनन कर्म, योगाभ्यास कर्म। ये ऐसे कर्म हैं जिनके फल देर में और शनैः शनैः मानव के अन्तःस्थल में प्राप्त हुआ करते हैं, ऐसी स्थिति में उसे हार्दिक श्रद्धा पर निर्भर होना पडता है हृदय में श्रद्धा को उपजाना और उसका सहारा लेना पडता है, श्रद्धा को योगदर्शन के भाष्य में व्यास जी ने माता के समान योगी की रक्षा करने वाली कहा है। श्रद्धा का अर्थ है श्रत्+धा सत्यधारणा, वेद में सत्य पर श्रद्धा और असत्य पर अश्रद्धा करने का विधान है वेदादि शास्त्रों से सत्य कर्म को जानकर उसके अनुष्ठान के अनन्तर श्रद्धा का सहारा पकडना अन्तःशांति को प्राप्त करना है और बाहिरी अशान्ति से दूर रहना है। सत्यप्राप्ति की प्रतीक्षा में श्रद्धा का सहारा पकडने से अन्त में सत्य प्राप्त हो जाता है। वेद में कहा भी "श्रद्धया सत्यमाप्यते" (यजु० १९।३०) तथा श्रद्धावान् अभीष्ट को प्राप्त करता है॥

इस प्रकरण का सार—

सर्वसाक्षी सबके कर्मों का द्रष्टा परमात्मा कर्मानुसार जन्म, शरीर और भोग प्रदान करता हैं, दान कर्म का शुभ फल देता है। पात्रदान करना श्रेष्ठ आवश्यकता वाले कों देने से घाटा नहीं अपितु वृद्धि और मित्रलाभ, पूजनीय और सखा सम्बन्धी का अन्नादि से सत्कार न करना पाप है, जो यथाशक्ति दान नहीं करता वह सुखप्रदाता परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, सम्पत्तियां सदा

एक स्थान पर नहीं ठहरतीं दानकर्म श्रेष्ठ कर्म है । पाप कर्मों का मूल है काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, भय, शोक, पापकर्म और अकर्मण्यता से परमात्मा का अमृत भोग नहीं मिलता पापी जन परमात्मा तक पहुंच नहीं सकता,धन अन्न विद्याआदिसाधन और शक्ति के संग्रहार्थ सैकड़ों यत्न करना पर उनके सदुपयोगार्थ सहस्रों यत्न करना चाहिए, निष्काम कर्म करतेहुए जीवनतन्तु को परमात्मप्राप्ति तक तानना, श्रेष्ठ कर्म, उदारता, नम्रभाव, ईश्वरोपासना से वन्धन बेडियों का कट जाना ॥



योगाभ्यास

ऋषिः—अथर्वा=स्थिरवृत्तिवाला ध्यानी योगी।

देवता—स्कम्भः=सर्वाधार परम आश्रयणीय परमात्मा।

योगाभ्यास से सार्थक ओ३म् के जप द्वारा परमात्मध्यान से मोक्षपदप्राप्ति—

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।
यदजः प्रथमं सम्बभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय
यस्मान्न परमन्यदस्ति भूतम् ॥

(अथर्व० १०।७।३१)

(पुरा सूर्यात् पुरा-उषसः) सूर्योदय से पूर्व और उषा—पीली फटने से पूर्व (नाम्ना नाम जोहवीति) नमन से—योगाभ्यास द्वारा आत्मसमर्पण से ओ३म् नाम को पुनः पुनः या भली प्रकार अपने अन्दर जो धारण करता है (यत्-अजः प्रथमं सम्बभूव) जो कि अजन्मा परमात्मा प्रथम से ही सम्यक् सत्तावान् था (सः-ह तत् स्वराज्यम्-इयाय) वह उपासक निश्चय उस स्वराज्य अर्थात् स्वातन्त्र्य-रूप मोक्ष पद को प्राप्त होता है (यस्मात् परं भूतम्-अन्यत्-न-अस्ति) जिससे बढ़कर वस्तु अन्य नहीं है।

सूर्योदय या उषावेला से पूर्व योगाभ्यास द्वारा आत्मसर्पण करते हुए परमात्मा के ओ३म् नाम को अपने अन्दर धारण करना अर्थात् उसका सार्थक जप करना चाहिए। जो ईश्वर अजन्मा प्रथम सत्तवान् है, उसके अधीन मोक्षरूप स्वराज्य को सार्थक जपकर्ता उपासक प्राप्त होता है उससे बढ़कर उपास्य देव और नाम अन्य

नहीं है परन्तु परमात्मा के नाम का जप करना अन्य के नाम का नहीं अर्थात् जो केवल परमात्मा ही का नाम है अन्य का नहीं, सो ऐसा तो ओ३म् नाम है जो केवल परमात्मा का नाम है। उसका भी जप सार्थक करता, अन्यथा ऐसे जप का लाभ न होने के समान है क्योंकि ऐसा जप निरर्थक होता है, वेद में अन्यत्र कहा है "अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलासपुष्पाम्" (ऋ० १०।७१।५) जिसने वाणी को अर्थ और उचित प्रयोग के बिना सुना पढ़ा बोला है वह न दूधवाली गौ की भांति मिथ्या वाणी गौ को लेकर घूमता है। सार्थक जप योगाभ्यास की रीति से ही बनता है तभी कल्याण और मोक्ष पद को मानव प्राप्त करता है। योग दर्शन में ओ३म् के सार्थक जप का विधान है "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योग० १।२८) ओ३म् का जप और उसके अर्थ को अपने अन्दर भावित करना अनुभव करना धारण करना चाहिये। ओ३म् का विशेषार्थ तो माण्डूक्योपनिषद् में देखें पर संक्षेप में संकेत में यहां शाब्दिक अर्थ 'अवति रक्षति-इति-ओ३म्' रक्षा करने वाला। माता रक्षा करती है पिता रक्षा करता है गुरु रक्षा करता है मित्र रक्षा करता है राजा रक्षा करता है घर भी रक्षा करती है पर जो इन सबसे अधिक तथा सर्वदा सर्वथा रक्षा करता है सो परमात्मा ही है अतएव वह परम माता परम पिता परम गुरु परम मित्र परम राजा और परम आश्रय होता हुआ पूर्ण रक्षक होता हुआ ओ३म् नाम से जपा जाता है। वह ऐसा सर्वसम्बन्धयुक्त अनन्त रक्षक मेरे बाहिर भीतर सर्वत्र है मैं उस अनन्त में और वह अनन्त मुझ एकदेशी में है, अपने शरीर इन्द्रियों को ढीला करते हुए उनसे अपने को सम्बन्धरहित सा करते हुए उस अनन्त रक्षक में अपने को निमग्न करना समझना और पाना बस यही ओ३म् का संक्षिप्त जप है कल्याण का साधक है॥

ऋषि:—कुत्सः=स्तुतिकर्ता उपासक ।

देवता—आत्मा=विश्व का आत्मा परमात्मा ।

परमात्मा के साक्षात्कार ध्यान और जप का स्थान हृदय—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरा वृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

(अथर्व० १० । ८ । ४३)

(नवद्वारम्) नव द्वारों वाला--पांच ज्ञानेन्द्रियां मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन नौ द्वारसदृश प्रवेश स्थानवाला (त्रिभिः-गुणेभिः-आवृतम्) सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण इन तीन गुणों से पूर्ण (पुण्डरीकम्) हृदयकमल है (तस्मिन्) उसमें (यत्-आत्मन्वत्-यक्षम्) जो आत्मा वाला—आत्मा को साथ लिए हुए पूजनीय परमात्मदेव है---ब्रह्म है (तत्-ब्रह्मविदः-वै विदुः) उसे निश्चय ब्रह्मवेत्ता जानते हैं ।

पांचों ज्ञानेन्द्रियों के गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द तन्मात्राओं की अन्तिम पहुंच, सूचना या ध्यान समाधिस्थिति हृदय में होती है तथा मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार के सङ्कल्प आदि व्यवहार भी हृदय में स्थान लेते हैं । प्रकृति के तीनों गुणों (सत्त्वगुण रजोगुण-तमोगुण) का आश्रय भी हृदय है और उसी में आत्मा तथा परमात्मा भी हैं, यहां ही आत्मा के अन्दर परमात्मा भी भासित होता है । हृदय शरीरयन्त्र का मूल स्थान (मोटर) है, त्रिगुणमय मन विद्युत् के समान इसमें रहता है जैसे किसी यन्त्र के मूल स्थान (मोटर) में विद्युत् युक्त (फिट) होती है । इन सब का नियन्ता (ड्राईवर) जीवात्मा के यहां हृदय में विशेष सचेत होने से उसका मुख्य स्थान यही है । बाहिरी कलायन्त्र का ड्राईवर उससे अलग होता है उसका ध्यान सामान्यतः समस्त कलायन्त्र में होता है पर

विशेषतः उसके मूल स्थान (मोटर) में होता है जहां कि विद्युत् युक्त (फिट) है, एवं शरीरयन्त्र का ड्राईवर इसके अन्दर रहने वाला है वह सामान्यतः शक्तिरूप से समस्त शरीर में रहता है पर विशेषतः चितिरूप से मूल स्थान मोटर समान हृदय में रहता है, वहां चितिशक्ति चेतना की प्रधानता होने से परमात्मा का ध्यान होने के कारण परमात्मा का होना भी हृदय में कहा गया है यह समाधि का स्थान है ॥

ऋषिः--भरद्वाजो बार्हस्पत्यः=महाविद्वान् आचार्य का शिष्य मन को धारण करने वाला[1] संयमी मनस्वी ध्यानी जन ।

देवता—वैश्वानरोऽग्निः=विश्व का नायक ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा ।

व्यसनों तथा सम्बन्धों से विमुखता और परमात्मा में निज-समर्पण—

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् । वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये ॥

(ऋ० ६।९।६)

वक्तव्य--यहां मन्त्र में 'वि' उपसर्ग के विरोध और विशेष दोनों अर्थ श्लेषालङ्कार से सङ्गत हैं ।

---

१. वाजं मनो ज्ञानसाधनं बिभर्ति-इति भरद्वाजः "राजदन्तादिषु परम्" (अष्टा० २।२।३१)
"वज गतौ" (भ्वादि०) गतेर्ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च त्रयोऽर्थाः, अत्र ज्ञानं गृह्यते ।
"भरद्वाजाः-धृतशुद्धविज्ञानाः" (दयानन्दः, ऋ० ६।२५।९)
"यो वै मनो बिभर्ति सोन्नं वाजं भरति" (शत० ८।१।१।९)

'वि' के विरोध अर्थ में मन्त्रार्थ—

(मे कर्णा वि पतयत:) मेरे कान अपने शब्दव्यसन से विगत हो गए–अलग होगए–हटगए(चक्षु:-वि-) नेत्र अपने रूपव्यसनसे अलग हो गया—उसने रूपव्यसन छोड़ दिया (इदं ज्योति:-यत्-हृदये-आहितं वि-) यह अहं ज्योति जो हृदय में विराजमान है वह अपने अहं ममभावरूप राग से अलग होगई—उसने अहङ्कार ममकार राग करना छोड़ दिया (दूरे-आधी:-मे मन:-विचरति) दूर-दूर की सोचने वाला मेरा मन अपने सङ्कल्प विकल्प से अलग हो गया—उसने सङ्कल्प विकल्प करना छोड दिया (किं स्वित्-वक्ष्यामि किम्-उ नु मनिष्ये) मैं अपनी इस स्थिति को क्या कहूं क्या मानूं ?॥

'वि' के विशेष अर्थ में मन्त्रार्थ—

(मे कर्णा विपतयत:)मेरे कान विश्वनायक परमात्मा में विशेषरूप से चले गए—उसके श्रवण में लग गए उसी का श्रवण चाहने लगे (चक्षु:-वि-) नेत्र उस विश्वनायक परमात्मा में विशेष रूप से पहुंच गया-उसी की विभूति को देखने में लग गया (इदं यत्-ज्योति:-हृदये-आहितं वि-) यह जो हृदय में विराजमान अहं ज्योति है वह विश्वनायक परमात्मा में विशेषरूप से समाविष्ट हो गई उसे ही अपना लिया सब कुछ अपना समझ लिया (दूरे-आधी:-मे मन:-विचरति) दूर दूर की सोचने वाला मेरा मन उस विश्वनायक परमात्मा में विशेष रूप से चला गया—उसीका चिन्तन स्मरण करता है (किंस्वित्-वक्ष्यामि किम्-उ नु मनिष्ये) मैं अपनी इस स्थिति को क्या कहूं क्या मानूं ?॥

मेरे स्वामिन् अन्तर्यामिन् प्यारे परमात्मदेव ! जब से तेरा नाम जपा जब से तेरे ध्यान की धुन लगी जब से अपने हृदयसदन में तुझसे समागम हुआ तब से मेरा क्या से क्या हो गया ? ये मेरी आंखें जो वस्तु वस्तु के रूप देखने में भांति भांति के रूप व्य-

सन में जाती थी भटका करती थीं, अब उधर जाती भटकती नहीं रूपव्यसन छोड दिया । अब तो देखती हैं तो केवल तेरी छवि तेरी विभूति को वस्तु वस्तु में निहारती हैं । ये मेरे कान भांति भांति के गानों तानों को सुनने दौड जाते थे अब उधर नहीं जाते—शब्द-व्यसन छोड दिया, अब तो सुनते है तो केवल तेरे गुणप्रवचन तेरी स्तुति के गाने । यह मेरा मन जो दूर दूर का स्मरण करता था भांति भांति का सङ्कल्प विकल्प उठाता था एक स्थान पर न ठहर कर दूर दूर भागता था इसने नाना सङ्कल्प विकल्प करना जहां तहां भटकना छोड दिया किन्तु अब तो तेरा स्मरण तेरा चिन्तन ही करता है तेरे ध्यान की धुन में रहता है । हृदय-कमल में विराजमान अहं ज्योति–मैं ज्योति भांति भांति के अहङ्कार रूपों में टिमटमाया करती थी और संसारी जडजङ्गमों में यह मेरा वह मेरा है ममता का प्रकाश करती थी इसने वे अहङ्कार और ममकार करना छोड दिया किन्तु अब तो अपने 'अहं-मैं' को तुझ अपने परमात्मा में समर्पित कर दिया, तू ही मेरा है, मैं तेरा हूं मुझे अब तुझ से ममत्व है । मैं अपनी इस स्थिति को क्या कहूं क्या मानूं । सांसारिक शब्दों में कहा नहीं जा सकता । यह स्थिति संसार की नहीं बाहिरी नहीं यह तो अध्यात्म क्षेत्र की स्थिति हैं । सचमुच प्रभो इसी में मेरा कल्याण है इसी में सच्ची शान्ति है ॥

*—

ऋषिः—प्रजापतिः=प्रजाओं–ग्यारह इन्द्रियों मनसहित इन्द्रियों का स्वामी संयमी मनस्वी जन ।

देवता—सविता=ऐश्वर्यवान् परमात्मा ।

*—मृत्यु को पार करने और अमृत को पाने के लिए साधन अध्यात्म-कर्म अष्टाङ्ग योग और अध्यात्म ज्ञान परमात्मज्ञानरूप पर वैराग्य (पढो—"विद्यां चाविद्यां च···" पृष्ठ १७६)

स्थिर मन से परमात्मा के ऐश्वर्यस्वरूप में अपने को समर्पित कर धारणा करना—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या [आ भरेम] ।।

(यजु० ११ । २)

(वयं युक्तेन मनसा) हम धारणाद्वारा स्थिर किए मन से (सवितुः-देवस्य सवे) ऐश्वर्यवान् प्रकाशक परमात्मा के महैश्वर्य-स्वरूप में (स्वर्ग्याय) सुखों में साधु—उत्कृष्ट सुख परमानन्द—मोक्ष के लिए (शक्त्या 'आभरेम'[1]) आत्मशक्ति से अपने को आभरित करते हैं—समर्पित करते हैं—स्थापित करते हैं—प्रविष्ट करते हैं ।

मानव को वास्तविक सुख मिलता है जगत्प्रकाशक परमात्मा के ऐश्वर्य स्वरूप में मग्न होने पर और वह उसके ऐश्वर्य स्वरूप को अपने अन्दर धारण करने से बनता है । परमात्मा के ऐश्वर्य स्वरूप को अपने अन्दर धारण किया जा सकता है स्थिर मन के द्वारा । मन में चञ्चलता न हो स्थिर होने में अभ्यस्त हो जावे तभी परमात्मा के ऐश्वर्य स्वरूप में मन लग सकता है उसे पकड सकता है पुनः अपने मन द्वारा अपने अन्तरात्मा में धारण किया जा सकता है और तभी उसका अनुपम परम सुख प्राप्त किया जा सकता है । उसके ऐश्वर्य स्वरूप को देखना वस्तु-वस्तु में मनन के द्वारा होता है, क्या स्थूल में क्या सूक्ष्म में क्या अल्प में क्या महान् में उसके व्यापकत्व नियन्तृत्व सर्वज्ञत्व कर्तृत्व का मनन करना, यहां संक्षेप में इतना ही इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि विशाल महान् आकाश में अगणित चन्द्र सूर्य आदि पिण्डों का विशिष्ट विधान में नियमित गति करना व्यापक सर्वज्ञ नियन्ता और

१. "आ भरेम" पूर्व मन्त्र में (यजु० ११ । १) में "आभरत्" क्रिया से योजना ।

कर्ता को सूचित करता है। पृथिवी पर पर्वत और समुद्र का होना इनके कर्ता के कौशल को बतलाता है जो कि पर्वतों पर जल बरस-कर पृथिवीपृष्ठ पर मार्ग बना कर बहते हुए समुद्र में जा गिरते हैं, यदि पर्वत और समुद्र न होते तो पृथिवी पिण्ड के केवल सम-गोल होने से जल का प्रसार—फैलाव सारे पृथिवीपृष्ठ पर समान होता कहीं भी भूभाग बाहिर न होने से मनुष्य आदि न रह सकते। पक्षियों को देखो बड़े से बड़े पक्षी से लेकर छोटे से छोटे मच्छर भुनगे तक के दो दो पर दोनों ओर वायु पर अपना बोझ तोल कर इच्छाचारी उडने को बनाये हैं, यह रचना बुद्धिपुर्वक है, कोई पक्षी मच्छर भुनगा नहीं कहसकता कि ये दोनों पर मैंने बनाए वे तो क्या कहेंगे मनुष्य जैसा बुद्धिमान् भी नहीं कह सकता कि अपनी दोनों भुजाएं मैंने बनाई हृदय, फुफ्कुस, (फेफड़े), मस्तिष्क हमने बनाए यह कोई भी नहीं कह सकता। इन सब का बनाने वाला ऐश्वर्यवान् परमात्मा है। समस्त विश्व में उसका ऐश्वर्य कार्य कर रहा है उसके ऐश्वर्यस्वरूप में मन को लगाना परमसुख पाना है॥

ऋषिः-श्यावाश्व आत्रेयः, गोतमः=अत्रि अर्थात् तीनों सत्त्व रज तम गुणों के परिणाम से रहित—ऊपर स्थिति बनाए हुए गुरु का शिष्य वेगवान् इन्द्रिय घोड़ोंका नियन्ता स्वामी वशीकर्ता संयमी तथा स्तुति करने का इच्छुक जन।

देवता—सविता=आगे प्रेरित करने वाला परमात्मा।

ध्यान करने वाले योगियों को परमात्मा अपने आश्रय में लेता है—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

(ऋ० ५।८१।१, यजु० ५।१४, अथर्व० ३।३७।२)

(विप्रस्य बृहतः) सर्वज्ञ, महान्-विभु-अनन्त (विपश्चितः सवितुः-देवस्य) विद्यास्वामी उत्पादक देव की (मही परि-स्तुतिः-) महती स्तुति में[1] (विप्राः-मनः-युञ्जते धियः-युञ्जते) योगी विद्वान जन मनको युक्त करते हैं बुद्धिवृत्तियों-ज्ञानेन्द्रियोंको युक्त करते हैं। तथा (वयुनावित्-एकः-इत्) वह सबके कर्मों का ज्ञाता एक परमात्मा ही (होत्राः-विदधे) आत्म-समर्पण करने वालों को विशेषरूप से अपने में धारण करता है।

ज्ञानस्वरूप महान् अनन्तविद्य उत्पापक प्रेरक परमात्मदेव के स्तुति स्तवन भजन कीर्तन में योगी जन अपने मन और ज्ञानेन्द्रियों को लगाते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के विषय में परमात्मा की विभूति को पाते हैं और मन से उसका मनन करते हैं ऐसे योगियों को परमात्मा भी अपनाता है अपनी शरण देता है अपने में स्थान देता है क्योंकि वह अपनी अनुपम सर्वज्ञता से सब के कर्मों का ज्ञाता है जैसा जो चाहता हुआ कर्म करता है तदनुसार वह उसे अपना प्रसाद देता है, योगियों का अभीष्ट परमात्मप्राप्ति है अतः वह उन्हें प्राप्त होता है। मन सहसा ईश्वर की स्तुति में नहीं जाता परन्तु इन्द्रियों के विषयों में परमात्मा की कला आभा को देखते रहने से पुनः मन भी उस देव में अनायास चला जाता है यह यहां रहस्य लक्षित है। इन्द्रियों को बाहर से हटा कर—प्रत्याहार करने के पश्चात् उसकी महिमा को देखना धारणा है पुनः मन का उस परमात्मदेव में लगाना ध्यान यहां अभीष्ट है॥

ऋषिः—आङ्गिरसो विरूपः=प्राणविद्या में निःष्णात प्राणायामाभ्यास तथा प्रत्याहार धारणा ध्यान से सम्पन्न विरूप--बिगतरूप बाह्यप्रतीतिरहित समाधि को प्राप्त योगी जन।

---

१. सुपां सुपो भवन्तीति सु विभक्तिव्यत्ययः।

देवता—अग्निः=ज्ञानमय तप तेज वाला परमात्मा ।

समाधि में उपास्य के गुण उपासक में अधिकांश आ जाने से दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ० ८ । ४४ । २३)

(अग्ने) हे ज्ञानमय तप तेज वाले परमात्मन् ! (यत्-अहं त्वं स्याम्) जब कि मैं तू हो जाऊं (त्वं वा घा-अहं स्याः) और तू भी मैं हो जा । तो (ते-आशिषः) तेरे आशासन—आदेश या तेरी हितभावनाएं (इह सत्याः स्युः) इस जीवन में सत्य हो जावें ।

ध्यान के अनन्तर समाधि हुआ करती है यहां मन्त्र में समाधि दशा का वर्णन है कि हे अग्ने ज्ञानमय तप तेज वाले परमात्मन् ! ऐसी स्थिति हो जावे कि मेरे और तेरे में अति सामीप्य संसर्ग संश्लेष हो जावे, बस मेरे और तेरे में एकरूपता हो जावे, मैं तू हो जाऊं औ तू मैं हो जा, मैं तुझे सम्मान देने को झुकूं तू मुझे अपने गुण दान देने को झुक । जैसे अग्नि में लोहे का गोला पड कर अग्नि के समान जाज्वल्यमान प्रकाशमान हो जाता है और अग्नि भी लोहे के गोले में प्रविष्ट हुई दीखने लगती है एवं मेरी लिये और तेरी स्थिति भी ऐसी हो जावे फिर तो तेरे आदेश और मेरे तेरी हितभावनाएं पूरी हो जावें । तेरे आदेश यही हैं मैं तेरे जैसे गुणधारण करूं और तेरी हित भावनाएं यही हैं कि संसार के झकझोलों से पृथक् होकर तेरे सङ्ग में मोक्ष सुख पाऊं । उपासक में उपास्य के गुण आया करते हैं अन्यथा उपासना करना व्यर्थ हो जावे । वेद में अन्यत्र उपास्य के गुण उपासक के अन्दर आ जाने का निर्देश है "तेजोऽसि तेजोमयि धेहि" (मज० १९ । ९)

परमात्मन्! तू तेज:स्वरूप है मुझ में भी तेज धर दे—स्थापित कर दे। ऋषि दयानन्द ने लिखा है "उपास्य के गुण उपासक में आते हैं" (सत्यार्थप्रकाश) वे गुण अधिकांश में आते हैं सर्वांश में नहीं। अग्नि में पडा लोहे का गोला अग्निसमान प्रकाशमान हो गया पर अपने गोलाकार में तो बना हुआ है—गोलाकार तो उसका बना रहा अग्नि से बाहिर होने पर पुनः काला हो जाता है। यह तो सम्पर्ककाल तक गुणावेश की स्थिति है। एवं अग्नि भी लोहे के गोले में प्रविष्ट होकर गोलरूप में दीखने लगी, पर उस गोल से बाहिर भी तो वर्तमान है ही जब तक अपने अन्दर गोले को रखे रहेगी, तब तक उसके गोले में भी प्रकाश रहेगा गोले में भी भासेगी ही जब लोहे का गोला उससे अलग हो जावेगा तो वह भी उससे अलग हो जावेगी। अग्नि और लोहे के गोले के सम्पर्ककाल में दोनों जहां एक रूप थे वहां साथ में स्वरूपत: अलग-अलग भी तो थे ही लोहा गोल रूप में और अग्नि उससे बाहिर भी। यही स्थिति समाधि में उपास्य परमात्मा और उपासक जीवात्मा की हुआ करती है[1]!

इस प्रकरण का सार—

ओ३म् नाम के सार्थक जप से मोक्षप्राप्ति, परमात्मा का साक्षात्कार जीवात्मा का निवास स्थान हृदय में होना, सांसारिक सम्बन्धों से विमुखता और परमात्मा के प्रति मन इन्द्रियों सर्वस्व

---

१. मन्त्र में वर्णन समाधि को लेकर है नवीन वेदान्त विचार को लेकर नहीं क्योंकि मन्त्र में "स्युष्टे सत्या:···" मै का तू, तू का मैं हो जाना सत्य कहा पर नवीन वेदान्त ब्रह्म का जीव हो जाना मिथ्या कहते हैं।

का समर्पण ऊंचा लक्ष्य है, योगाभ्यास और परमात्मज्ञान मृत्यु पार करने और अमृत-मोक्ष को पाने के लिए परम साधन, परमात्मा के ऐश्वर्य स्वरूप में धारणा करने से स्थिर सुख प्राप्ति, मन और इन्द्रियों की बिखरने वाली वृत्तियों को परमात्मा के ध्यान ने से आत्मलाभ, समाधि में उपास्य परमात्मा के गुणों का अधिकांश में उपासक में आ जाने से एकरूपता और कैवल्य सुख का लाभ ॥



वैराग्य

*—

ऋषि:—देवा:=वैराग्यवान् सावधान विद्वान् जन ।

देवता—अग्नि:=अग्रणायक ज्ञानप्रकाश स्वरूप परमात्मा ।

संसार वेगवती और विषयपाषाणों से पूर्ण नदी है—

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखाय: । अत्रा जहाम ये असन्नशेवा: शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥

(ऋ० १० । ५३ । ८[1])

(सखाय:) हे साथियों ! (अश्मन्वती रीयते) यह पाषाणवती संसार नदी वेग से वह रही है (संरभध्वम्) सम्भलो (उत्तिष्ठत) उठो (प्रतरत) इसे तरो–पार करो । ऐसे (ये-अशेवा:-असन्) जो अकल्याणकर हैं पाप हैं । उन्हें (वयम्-अत्र जहाम) हम यहां त्याग दें–छोड दें (शिवान् वाजान्-अभि-उत्तरेम) कल्याणकर कर्मरूप—पुण्य कर्मरूप बलों तैरने के साधनों का अवलम्बन कर इसे पार करें ।

साधारण नदी को भी तरने के लिये सावधानी रखनी होती है यदि नदी वेग से वह रही हो तो अधिक सावधान रहना पडता है

*—धनवान् उदारता के मार्ग का अवलम्बन कर आवश्यकता वाले को तृप्त करे क्योंकि धन सम्पत्तियां एक स्थान पर नहीं ठहरती गाड़ी के पहिए के समान भूमि बदला करती है (पढ़ो—"पृणीयादिन्नाधमा···" पृष्ठ १२६)

१. यह मन्त्र कुछ भेद से (यजु० ३५।१०, अथर्व०१२।१।२६)में ।

कहीं उसमें पत्थर पड़े हों ठोकर देते चुभते हों तो और भी अधिक सावधानी चाहिए पुनः पत्थरों पर पैर फिसलाने वाली काई जमी हुई हो तो क्या कहना ? पग-पग पर अतीव सावधान रहना पड़ता है और फिर ऊपर बोझ रखा या लिया हो तो क्या ही कहना ! ऐसी स्थिति में नदी प्रवेश करना तो महाकठिन समस्या है। तब अज्ञानी तो बह ही जायगा। यह संसार नदी वेग से बह रही है इसके वेग में बह गए बड़े बड़े धनी और राजे-महाराजे, पता नहीं कौन बह कर कहां गया ! साथ में इस वेगवती संसारनदी में विषयपाषाण भरे पड़े हैं ऊपर टीपटाप पैर फिसलाने वाली काई भी जमी पड़ी है फिर ऊपर पाप बोझ लदा हो तब बह जाना डूब जाना ही है। हां, पाप बोझ को पटककर तरणसाधन पुण्य को साथ लेकर जो इसमें उतरता है वह इस दुष्पार नदी को पार करता है। पार उतरने के बाधक पाप बोझ को त्याग कर खड़े हो पुण्य रूप तरण साधन को साथ ले इसे तर जावें, बस यही उपाय संसार नदी के तरण का है॥

*—

ऋषिः—अथर्वा=स्थिरवृत्ति वाला अचल अडिग वैराग्यवान्।
देवता—कामः=कामभाव कामना इच्छा।
कामभाव को कोई पूरा नहीं कर सकता—

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वाहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥

(अथर्व० ९।२।१९)

*—कामभाव पुरा नहीं होता हैं आत्मा के लिये बन्धन का हेतु है। यह जानकर विवेकी जन कामना से हृदय में वैराग्य धारण कर लेते हैं (पढ़ो—"कामस्तदग्रे सम···" पृष्ठ १५१)

(प्रथमः कामः-जज्ञे) प्राणियों के अन्दर प्रथम कामभाव कामना इच्छाभाव उत्पन्न हुआ (एनं देवाः-नः-आपुः) इसे देवों-विद्वानों ने न पूरा किया या इसका अन्त न पाया (पितरः--न मर्त्याः) पालक जनों ने न मनुष्यों ने पूरा किया या इसका अन्त न पाया (तत्) इससे (काम त्वं विश्वाहा ज्यायान्) ओ कामभाव ! तू सदा ज्येष्ठ है महान् है (तस्मै ते नमः-इत् कृणोमि) उस तेरे लिये नमस्कार करता हूं।

कामभाव—इच्छाप्रवाह तो महान् है, सृष्टि के उत्पत्ति समय प्रथम सब के अन्दर प्रकट हुआ परन्तु इस महान् इच्छा-प्रवाह को किसी ने भी पूरा न किया इसके पूरा करने के पीछे मनुष्य तो उन्मत्त सा बन गया पर यह पूरा होने में न आया पूरा होता भी कैसे यह तो पूरा होने वाला है ही नहीं इसे तो न देव ऊंचे विद्वान् ब्राह्मण पूरा कर सके न पितर रक्षक राष्ट्र के संर-क्षणकर्ता सत्ताधारी और न मनुष्य—जन साधारण, सभी इससे तंग हो गए। क्योंकि "समुद्र इव हि कामः, न कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य" काम—इच्छाभाव तो वस्तुतः समुद्र के समान है न समुद्र का अन्त है न काम का इच्छाभाव का। मनु ने भी कहा है "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते" (मनु० २।९७) कमनीय भोगों के भोगने से काम इच्छाभाव शान्त नहीं होता किन्तु वह घृत डालते रहने से अग्नि के समान बढता चला जाता है, जो इसमें पडता है उसे वह भस्म ही कर देता है। अतः काम का अन्त न हो सकने से इसके पूरा करने का यत्न न करके इसे नमस्कार ही करना-इससे हार मान बच कर चलना ही ठीक है। कामभाव के पीछे पड़ने से राजाओं के राज्य चले गए प्रतिष्ठावालों की प्रतिष्ठा धूलि में मिल गई जो इससे बचे वे ही सच्ची शान्ति प्राप्त कर सके॥

ऋषिः—दीर्घतमाः=लम्बे काल से अज्ञानान्धकार में पडा हुआ प्राणी ।।

देवता—विश्वे देवा=प्राण-प्राणों को धारण करना ।

कर्म के परिणाम तथा परिणाम के कारण की उपेक्षा, संसार के कर्ता को न जानने और कामवासनासे गर्भमें आकर दुःख पाना—

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् । स मातु र्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ।।

(ऋ० १।१६५।३२)

(यः-ईं चकार सः-अस्य-न वेद) जो मनुष्य कर्म करता है वह इसके भावी फल या परिणाम को नहीं जानता है (यः-ईं ददर्श तस्मात्-हिरुक्-इत्-नु) जो मनुष्य सम्मुख आये हुये फल या परिणाम को देखता है—भोगता है, वह उसके कर्मरूप कारण से पृथक देखता है—उसके कारणभूत कर्म पर विचार नहीं करता है (सः-मातुः-योना-अन्तः परिवीतः) वह माता की योनि के अन्दर जरायु से लिपटा हुआ (बहुप्रजाः-निर्ऋतिम्-आविवेश) बहुत वार जन्म लेता हुआ दुःख विपत्ति को प्राप्त होता है !

(यः-ईं चकार-अस्य सः-न वेद) जिस परमात्मा नें इस संसार को बनाया इस उस परमात्मा को यह मनुष्य नहीं जानता (यः-ईं ददर्श हिरुक्-इत्-नु तस्मात्) जो इस संसार को देखता है इसका द्रष्टा ज्ञाता है उससे वह यह मनुष्य पृथक् रहता—छिपा रहता—छिपना चाहता है (सः-मातुः-योना-अन्तः परिवीतः) वह कृतघ्न नास्तिक माता की योनि के अन्दर जरायु से लिपटा हुआ (बहुप्रजाः-नि ऋतिम्-आविवेश) बहुत वार जन्म लेता हुआ दुःख विपत्ति को प्राप्त होता है ।

(यः-ईं चकार-सः-अस्य न वेद) जो मनुष्य गर्भसंस्थापन करता है वह इसके तत्त्व कारण रचनाक्रम को तथा गर्भगत स्थितिवास दुःख को नहीं जानता (यः-ईं ददर्श हिरुक्-इत्-नु तस्मात्) जो गर्भ के तत्त्व कारण रचनाक्रम गर्भगत स्थिति वास दुःख को देखता है अनुभव करता है जानता है वह उस गर्भ के अन्तर्हित है छिपा हुआ है जीव है[1] (सः-मातुः-योना-अन्तः परिवीतः-बहुप्रजाः-निर्ऋतिम्-आविवेश) वह माता की योनि के अन्दर जरायु से लिपटा हुआ घिरा हुआ जकडा हुआ बहुत प्रकार से जन्म पाता हुआ दुःख विपत्ति को प्राप्त होता है।

जो मनुष्य कर्म के भोगरूप परिणाम को नहीं जानता विचारता है तथा जब भोग सम्मुख आता दुःखादि भोग भोगना पडता है तब भी उसके कारणरूप कर्म को नहीं समझता वह ऐसा अज्ञानी मन्दमति पुनः पुनः माता के गर्भ में आकर अति दुःख को प्राप्त हुआ करता है। कार्यकारण का ज्ञान एवं और कर्म और ज्ञान का समुच्चय ही गर्भदुःख से बचाता है॥

इस संसार को परमात्मा ने बनाया है जो इस बात को नहीं मानता और जो परमात्मा इसे जानता है इसके कर्मव्यवहार को जानता है उससे यह अपने दुराचार के वश छिपा रहता है छिपना चाहता है वह नास्तिक पापी जन माता के गर्भ में पुनः पुनः आकर

---

१. "गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् ॥

(ऋ० ४।२७।१)

अर्थात्—मैंने गर्भ में होते हुए इन देवों--इन्द्रियों के सब जन्मों को जाना। मुझे सैकड़ों लोहमय नगरियां भीतरी गुफाएं बन्द किए हुए थी पुनः बाज के वेग की भांति वेग से बाहिर निकल आया हूं।

अपने दुराचार का दुःख फल भोगा करता है। दुराचार से पृथक् होना और संसार के रचयिता को जानना अपने कल्याण को साधना है ॥

गर्भस्थापन करनेवाला पुरुष गर्भ के भीतरी रचनाचक्र और गर्भ दुःख को नहीं जानता किन्तु जो गर्भ के रचनाचक्र में आ उसे तथा उसके दुःख को अनुभव करता है वह गर्भसंस्थापक से भिन्न गर्भ में छिपा हुआ जीव है जो माता के गर्भ में आ पुनः पुनः दुःख प्राप्त करता है। गर्भसंस्थापक गर्भ के दुःखों को क्या जाने ? जाने वही जिसे भोगना पड़े, दूसरा क्या जाने पीड पराई। पर गर्भसंस्थापक तुझे भी तो पुनः पुनः माता के गर्भ में आकर दुःख उठाना पड़ेगा उसके लिये कुछ यत्न कर संयमी बन न गर्भ स्थापन करे तो न गर्भ में आना पड़े ॥

ऋषिः—कुत्सः=सम्बन्धसीमाओं का करने वाला ममत्वबन्धन-बनाने वाला जन।

देवता—आत्मा=जीवात्मा।

माता पिता आदि में ममत्व सहवास और मन में अभ्यास से होता है उत्पत्ति से नहीं।

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ॥

(अथर्व० १०।८।२८)

(एकः-ह देवः) एक ही महानुभाव (मनसि प्रविष्टः) मन में प्रविष्ट हुआ—मन में अभ्यस्त हुआ (उत-एषां पिता-उत वा पुत्रः-एषाम्) हां वह इन बच्चों का पिता है और वही इन वृद्धों का पुत्र है (उत-एषां ज्येष्ठः-उत वा कनिष्ठः) वही इन छोटे बन्धुओं का बड़ा

भाई है और वही इन बड़े बन्धुओं का छोटा भाई है (प्रथमः-जातः) वही किसी देवी के लिये नवजात बच्चे के रूप में तथा (सः-उ गर्भे अन्तः) वही किसी समय गर्भ के अन्दर मन में अपनाया जा रहा था।

मानव ने संसार में ममत्व का प्रसार कर रखा है, ममता के सीमाबन्धन बान्ध लिए हैं और स्वयं अपने मन से बान्ध लिये हैं क्या माता में मातापन ममत्व क्या पिता में पितापन क्या भ्राता में भ्रातापन का पुत्र में पुत्रपन का इत्यादि ममत्व मनमें अभ्यास तथा उस उसके संसर्ग सहवास से ही है उत्पत्ति से इनका कोई सम्बन्ध नहीं यही एक लक्ष्य है अन्य नहीं। कोई देवी पुत्र उत्पन्न करते ही मर जाती है उस बालक को अन्य देवी पालती है वह उसमें मातापन का ममत्व करता है उसे अपनी माता मानता है और कुछ बडा होते ही माता कहता भी है उस बच्चे में उस पालने वाली देवी के प्रति उतना ही ममत्व है जितना अन्य बालक में जन्म देने वाली माता के प्रति मातापन का ममत्व हो ! तथा किसी देवी ने पुत्र को जन्म दिया पर वह मृत था किन्तु उसको विना पता दिए अन्य का नवजात पुत्र उसके आगे रखदिया वह उसे निज पुत्ररूप में देखेगी पुत्रपन का ममत्व उसमें उतना ही होगा जितना किसी अन्य देवी को अपने निज जन्मे पुत्र में हो। न केवल इतना ही जीवित माता पिता और पुत्रों में मातापन पितापन और पुत्रपन का ममत्व नहीं होता यदि उनके सहवास सम्पर्क में न रहे हों। वे जन्म सन्बन्ध से अपने होते हुए भी पराए ही बने रहते हैं, जो बच्चे माता के पास नहीं रहते मासी मामी बुआ के पास रहते हैं वे माता में मातापन का ममत्व नहीं रखते किन्तु मासी आदि में मातापन का ममत्व रखते हैं जिनके पास वे रहते हैं तथा वे पिता जो विदेश में बीसों वर्ष रहकर देश में आतेहैं तो अपने पुत्रों को पहिचान तक भी नहीं पाते उनके अन्दर पुत्र के प्रति पुत्रपन का ममत्व नहींहोता पुनः वहीं

विदेश में चलेजाते हैं यह कहतेहुए कि यहां देशमें हमारा मन नहीं लगता यहां हमारा कोई नहीं है। पुत्रों के साथ सहवास और प्रतिदिन देख देख पुत्र मेरा यह मन में अभ्यास न होने से पुत्र होते हुए न होने के समान है। अतः यह सब ममत्व सहवास और मन में निरन्तर के अभ्यास पर निर्भर है अन्य वास्तविकता नहीं है। तब प्रश्न है कि वास्तविक ममत्व का पात्र कौन है? सो परमात्मा ही हैं। वेद में अन्यत्र कहा है "त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ" (ऋ० ८।९९।११) हे परमात्मन्! तू ही हमारी माता है तू ही हमारा पिता है तू ही वन्धु आदि है॥

❀—

ऋषिः—अगस्त्यः=अगः-पाप एवं शरीररूप वा संसाररूप वृक्ष को त्यागने वाला निष्पाप संयमी नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

देवता—मेखला=कौपीन पट्ठी एवं संयमवृत्ति संयम की दृढ धारणा।

मृत्यु को जीतने, शरीर बन्धन से छूटने का उपाय ब्रह्मचर्य—

---

*—शरीर रूप बन्धन में आकर जीवात्मा जहां तहां भटकता है (पढो—"यदेमि प्रस्फुरन्निव···" पृष्ठ ८१)

शरीर नश्वर है इसके रहते हुए जो श्रेष्ठ कर्म किया जासके करले अपने को सम्भाल के परमात्मा का स्मरण करले (पढो-"वायुरनिलममृतं···" पृष्ठ १७८)

जीवात्मा वासनावश ऊंची नीची योनियों में शरीर धारण करता है, शरीर अस्थिर है। (पढो-"तिरश्चीनो विततो···"पृष्ठ १५२) में नश्वररूप कच्चे घर में फिर न आऊं (पढो-"मोषु वरुण मृन्मयं···" पृष्ठ ८०)

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ (अथर्व० ६।१३३।३)

(यत्) यतः-क्योंकि (अहम्) मैं (यमाय) नियन्ता परमात्मा के लिये—उसके प्रति समर्पणार्थ (भूतात्) भूतमय—भौतिक शरीर से (पुरुषं निर्याचन्) आत्मा को निकालने के हेतु (मृत्योः-ब्रह्मचारी-अस्मि)मृत्यु का ब्रह्मचारी हूं उससे युद्धरूप आलिङ्गन करने को ब्रह्मचारी हूं—गृहिणी का ब्रह्मचारी नहीं हूं-गृहिणी के लिये मेरा ब्रह्मचर्य नहीं है। किन्तु (अहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेण-अनया मेखलया तं सिनामि) मैं ब्रह्म—वेदज्ञान, तप, विहित कर्म, इस मेखला-संयम-डोरी-संयम की दृढधारणा से इसे बान्धता हूं-संयमयुक्त करता हूं।

भौतिक देहरूप बन्धन से छूटनेका उपाय ब्रह्मचर्य ही है,ब्रह्मचर्य का ऐसा दृढ व्रत ले कि शरीर से निकालूंगा तो आत्मा को परमात्मा के प्रति समर्पणार्थ सदा के लिये निकालूंगा ब्रह्मचर्य को नहीं। ब्रह्मचर्यपालन के लिये यहां मन्त्र में प्रदर्शित चार उपाय हैं वेदज्ञान, तप, लोकसेवा, मेखला—संयम वस्त्र धारण। ऐसे दृढव्रती मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी विरले जन ही हुआ करते हैं जिनकी मृत्यु से बचने की दृढ धारणा हो जाती है, वे अपने परिवार में या अन्यत्र मृत्यु के दृश्य देखकर व्याकुल हो उठते हैं उससे बचने के उपाय ढूंढने में लग जाते हैं पर उससे बचने का वास्तविक उपाय वेद में बताया आमरण ब्रह्मचर्यपालन ही है वे अपने जीवन में ब्रह्मचर्य को इतना धारण कर लेते हैं कि उनके अन्दर ब्रह्मचर्य आपूर भरपूर हो जाया करता है उनके दिव्यब्रह्मचर्य तेज को देख कर वेश्याओं तक की भी काया पलट जाती है वेश्यावृत्ति छोड देती हैं, स्त्रीसहवास तो क्या आकस्मिक संस्पर्श भी उन ऐसे महात्माओं को अभीष्ट नहीं होता किन्तु ज्ञान ध्यान तप त्याग और संयम सेवा

में निरन्तर रहा करते हैं, कामवासना का संस्कार भी उनको छू नहीं पाता। इस प्रकार ऐसे विरले महात्मा महापुरुष महर्षि मृत्यु के बन्धन से छूट कर विश्वनियन्ता विश्वात्मा आनन्दघन परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं ॥

*—

इस प्रकरण का सार—

संसार एक वेगवती विषयपाषाणपूर्ण दुस्तर नदी है। सम्पत्ति सदा एक स्थान पर नहीं ठहरती। कामभाव को कोई पूरा नहीं कर सकता यह तो जीव को शरीररूप बन्धन में डालता है, वासनावश जीव ऊंची नीची योनियों में मारा मारा फिरता है, भोगों में शान्ति नहीं शान्ति तो आनन्दघन परमात्मा की शरण में है। कर्म और उसके फल की तथा कर्मफलदाता परमात्मा की उपेक्षा एवं पुत्रैषणा से पुनः पुनः जन्म पाना पडता है, माता पिता आदि में ममत्व औत्पत्तिक नहीं किन्तु चिर संसर्ग सहवास और मनमें अभ्यासके कारण है वास्तविक ममत्व तो परमात्मा का है। शरीर धारण कर जीव का जहां तहां भटकना, शरीर नश्वर है जीते जी कर्तव्य कर लेना, अपने को जान लेना परमात्मा का स्मरण कर लेना चाहिए। मैं नश्वर शरीर में न आऊं, मृत्यु से बचने के लिये ब्रह्मचर्य, हृदय में परमात्मा के लिये अनुराग रखना ऊंचा वैराग्य है ॥



*—भोगों को भोगते रहने से भोगतृष्णा शान्त नहीं होती, असंयमी जन परमात्मा के आनन्दस्रोत से प्यास नहीं बुझा सकता अपितु संयमी जन परमात्मा के आनन्दप्रवाह में पान करता हुआ अघाता नहीं (पढ़ो—"अपां मध्ये तस्थिवांसं…" पृष्ठ ८३)
अपने हृदय में परमात्मा को प्रेममय स्तवन अर्थात् वैराग्य से आमन्त्रित किया जाता है (पढो—"अयं सु तुभ्यं…" पृष्ठ ५५)

मोक्ष

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः=वन्दना में सिद्ध—ईशवन्दना में तत्पर कुशल तथा ईशपरिचरणशील आत्मसमर्पी जन।

देवता—विश्वेदेवाः=श्रेष्ठ विद्वान्।

परोक्ष तथा प्रत्यक्ष सर्वथा निष्पाप होकर मोक्षभागी बनता है—

न वो गुहा चकृम भूरि दुष्कृतं नाविष्कृतं वसवो देवहेडनम्। माकिर्नो देवा अनृतस्य वर्पस आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे॥

(ऋ० १०।१००।७)

(वसवः-देवाः) हे सद्गुणों में वसाने वाले महात्मजनो! (वः-गुहा) तुम्हारे परोक्ष में (भूरि दुष्कृतं न चकृम) हमने भारी पाप नहीं किया है (न-आविष्कृतं देवहेडनम्) न प्रकटरूप में—सम्मुख आप जैसे विद्वानों का अनादर या द्वेष किया (नः-अनृतस्य वर्पसः-माकिः) हमें अनृत रूप[1] अर्थात् नश्वर शरीर[2] की प्राप्ति न हो (सर्वतातिम्-अदितिम्-आवृणीमहे) सर्वात्मिका—सर्वथा अखण्ड सुखसम्पत्ति मुक्ति को हम चाहते हैं उसे प्राप्त हों।

उत्तम गुणों में वसने वाले महात्मजन पापकर्म न स्वयं करते हैं न दूसरों के द्वारा पाप किया जाना पसन्द करते हैं न दूसरों को पाप करते हुए देखना चाहते हैं। यदि उनके सम्मुख उनके देखते हुए उनका हम अनादर करके पाप कर्म करें अथवा उनके परोक्ष में

---

१. "वर्पस् रूपनाम" (निघं० ३।७)।

२. "इतः परं मानुषं रूपं मा भूदित्यर्थः" (सायणः)

पाप करें तब वे हम अपराधी जनों को नहीं अपनाते, जब वे ही नहीं अपनाते पुनः शाश्वत पापरहित सद्गुणमहाभण्डार परमात्मा हमें कैसे अपना सकेगा ? अतः कोई भी पाप पापनिरीक्षक महापुरुषों के सम्मुख या परोक्ष में भी न करते हुए सद्गुणों को धारण करते हुए हम पुनः इस नश्वर देह में न बन्ध सकेंगे अपितु अखण्ड सुख-सम्पत्ति मुक्ति को प्राप्त हो सकेंगे । अतः पापरहित होना और सद्गुणसहित बनना मुक्ति का साधन है ॥

❀—

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः=तेजस्वी प्राणों वाला—प्रबल प्राणशक्ति-सम्पन्न—उच्च जीवन लक्ष्य वाला जन ।

देवता—अनड्वान्=धर्मरूप वृषभ ।

अहिंसा आदि धर्माचरण तथा योगाभ्यास ध्यानोपासना से मोक्षप्राप्ति—

येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥

(अथर्व० ४ । ११ । ६)

(देवाः) श्रेष्ठ विद्वान् मुमुक्षु महात्मजन (येन) जिस अनड्वान्-वृषभ—धर्म[1] के द्वारा (शरीरं हित्वा) शरीर त्यागकर—शरीर—

*—परमात्मा के आदेश का पालन और ध्यानोपासना में रहने से स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर के बन्धन से छूटकर मुक्ति पा सकते हैं (पढ़ो—"उदुत्तमं वरुण पाशः·····"पृ० २७)
निष्पाप होकर परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है और मोक्ष धाम को प्राप्त किया जा सकता है (पढो—"य आपि नित्यो····" पृष्ठ ७६)

१. "वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत" (महाभा० शांति० मोक्ष० अ० ३४२ ।२८)

रूप बन्धन त्याग कर (अमृतस्य नाभिं-स्वः-आरुरुहुः) अमृतत्व के बन्धक संसाधक संस्थापक 'स्वः-स्वर्-अपने अधीन सुख—स्वातन्त्र्य सुखरूप मोक्ष को प्राप्त हुए हैं (तेन सुकृतस्य धर्मस्य व्रतेन तपसा) उस सुकृत अर्थात् धर्म तथा धर्म अर्थात् अध्यात्म यज्ञ के व्रत से अनुष्ठान से और तप से (यशस्यवः-गेष्म) हम उस अपने यशोरूप परमात्मा को चाहते हुए उसे प्राप्त हों[२] ॥

देव जन ऊपर ही ऊपर आरोहण करते जाते हैं जब तक कि उन्हें उनका अभीष्ट अमृत सरोवर का बान्ध न प्राप्त हो जावे यह तो लक्ष्यभेद से देवों की पहिचान है परन्तु कर्तव्यभेद से उनका लक्षण है कि देव जन अहिंसा आदि धर्माचरण और अध्यात्म के अनुष्ठान से शरीरबन्धन को छोड कर मोक्षरूप अमृतसरोवर को प्राप्त होते हैं। मानव जब अपनी साधारण स्थिति से ऊपर उठ जाता है तो वह देव कहलाता है, देव बन कर ही मोक्ष को प्राप्त हुआ करता है और देव बनने के लिए अहिंसा आदि व्रतों का आचरण और परमात्मध्यान योगाभ्यास आवश्यक है। साधारण जन के लिए ये दोनों बातें दुष्कर अवश्य जान पडती हैं परन्तु आगे बढने वाले के लिए दुष्कर कोई कार्य नहीं होता किन्तु दुष्कर भी सुकर हो जाता है पर्वत भी भूतलसमान सुगम्य सुखगम बन जाता है, कहा भी है "शूरस्य दैवमनुकूलम्" (हितोक्तिः) जो शूर—प्रगतिशील आगे बढने वाला होता है उसके लिये ईश्वरीय नियम भी अनुकूल हो जाता है वह अथक अपने गन्तव्य पर पहुंच जाता है तभी मनुष्यों से ऊपर देव कहलाते हैं, मनुष्य संसार में ही रहना

---

२. " न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद् यशः" (यजु० ३२ । ३)
"यशः शब्देनाद्वितीयब्रह्मत्वेन श्रुत्वादत्रापि यशः शब्देन तद् विवक्ष्यते । यशः शब्दोपलक्षितं निरतिशयं मोक्षसुखमात्मन इच्छन्तः"
(सायणः)

चाहता है और देव मोक्ष धाम का पथिक बन कर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

*—

*—मोक्ष धाममें स्थिर ज्योति नितान्त सुख अमृतरूप होता है (पढो- "यत्र ज्योतिरजस्रं···" पृष्ठ ६५)

मोक्षमें मुक्तों का संसार की भांति काल-मरण नहीं, अन्धकार नहीं। प्रकाश ही प्रकाश है और आनन्दप्रवाह प्रवर्तमान होता है (पढो—"यत्र राजा वैवस्वतो···" पृष्ठ ९६)

मोक्ष में प्राप्तव्य परात्मा के प्रकाश से कमनीय अभीष्ट प्रकाशित हो रहे होते हैं और आनन्दप्रवाह प्रवर्तमान होता है (पढो—"यत्रानुकामं चरणं···" पृष्ठ ९७)

मोक्ष में कामपूर्तियां और आत्मशान्तियां तथा निज सत्ता और परमात्मा के विना अन्य मध्यवर्ती बाधक नहीं हैं (पढो—'यत्र कामा निकामा···" ९८)

मोक्ष में आनन्द,हर्ष, प्रसन्नताएं शान्तियां और कमनीय सुखधाराएं हैं (पढो—"यत्रानन्दाश्च मोदा···"पृष्ठ ९९)

कौन मुझे फिर मुक्ति के लिए देने वाला और माता पिता के सम्पर्क में पहूँचाने वाला—-प्रश्न पूर्वक मुक्ति से पुनरावृत्ति (पढो-"कस्य नूनं कतमस्य···पृष्ठ १६)

अग्नि—ज्ञान प्रकाश स्वरूप परमात्मा मुझे फिर मुक्ति के लिए देने वाला और माता पिता के सम्पर्क में पहूँचाने वाला—-उत्तर पूर्वक मुक्ति से पुनरावृत्ति (पढो—-अग्नेर्वयं प्रथमस्य०···" पृष्ठ १४)

जीवात्मा अल्पज्ञ है शरीर इन्द्रिय मन के सम्बन्ध से पूर्व विशेषज्ञ मुक्त था मुक्ति से पुनरावृत्ति (पढो—"न विजानमि यदिवेदास्मि···" पृष्ठ ३२५)

❀—

इस प्रकरण का सार—

सर्वथा निष्पाप हो जाने अहिंसादि व्रतसेवन और परमात्मा के ध्यानोपासन योगाभ्यास से मोक्ष की प्राप्ति। मोक्ष में अविनश्वर ज्योति, मरणभय का अभाव अमृत सुख आनन्द प्रवाह आत्मशान्ति आत्मा परमात्मा का निर्बाध निर्व्यवधान सङ्ग समागम मित्रभाव। मुक्तात्मा की अव्याहत गति, शरीरबन्धन से पूर्व मुक्ति, मुक्ति से पुनरावृत्ति।

अब ग्रन्थ के अन्त में बृहदारण्यकोपनिषत् के आधार पर मुक्ति की अवधि दी जाती है।

मुक्ति की अवधि—

बृहदारण्यकोपनिषद् में "इत ऊर्ध्वा विमुक्ताः" (बृह० ४।४।८) इस वचन द्वारा मुक्तों का प्रकरण चला कर ब्रह्म का ज्ञान करना आवश्यक बतलाते हुए १४ वें वचन में "ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" जो उसे जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं ऐसा कहा, पुनः उसी क्रम में—

यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्॥

(बृह० ४।४।१६)

जिस परमात्मा के ईश्वरत्व में अर्वाक् संवत्सर—ईश्वर का महिमारूप 'सं—वत्स-र'=सन्तत वत्स को देने वाला[1] भांति भांति

बन्धन में आने से पूर्व जीवात्मा और परमात्मा की अभिन्न मित्रता थी उस ऐसे महान् खुले द्वारों वाले बन्धनरहित मोक्ष धाम में फिर जाने को जीवात्मा की इच्छा-मुक्ति से पुनरावृत्ति और वहां पुनर्गमन (पढो—"क्व त्यानि नौ सख्या...." पृष्ठ ७५)।

१. सन्ततं वत्सं राति ददातीति संवत्सरः=हिरण्यगर्भः संसारः। "रा दाने" (अदादि०)

गर्भ प्रकट करने वाला समष्टि गर्भ-समष्टिरूप हिरण्यगर्भ संसार। यह संसार अर्वाक् संवत्सर है "एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥" (यजु० ३१।३) इतना उपलभ्यमान संसार इस पूर्ण परमात्मा की महिमा है इस इतने महिमारूप संसार से परमात्मा महान् है। यह इतना महिमारूप संसार इसका एक पादमात्र है इसका त्रिपात्—तीन-पादवाला स्वरूप अमृतरूप प्रकाशमय लोक में है अर्थात् त्रिपात् की अपेक्षा एक पाद संसार अर्वाक् है—उरला है और भी स्पष्ट "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः" (यजु० ३१।४) त्रिपाद्रूप पुरुष ऊर्ध्व हो गया पुनः उसका पादमात्र जगत् यहां उपलब्धि गोचर व्यक्त हो गया। इस प्रकार त्रिपात् परमात्मा से अर्वाक् संवत्सर–इधर का एक पाद संसार (अहोभिः परिवर्तते) दिनों—दिन मानों के रूप में आता जाता है-एक संसार अर्थात् एक कल्प एक एक दिन बन बन कर आता जाता है, ऐसे ३० दिनों से एक मास, ऐसे १२ मासों से एक वर्ष, ऐसे १०० वर्षों से मुक्त की पूर्ण आयु है (तत्-अमृतम्-आयुः-ज्योतिषां ज्योतिः-ह देवाः-उपासते) उस अमृत आयु—ज्योतियों के ज्योति ब्रह्म—ब्राह्म स्थितिरूप अमृत मोक्ष को[1] देव—मुक्त जन सेवन करते हैं। इस प्रकार मुक्त की अमृत आयु का परिमाण १०० वर्ष का कल्प के दिनमानों से बनना स्पष्ट है जोकि छत्तीस सहस्र वार सृष्टि और प्रलय से परिगणित होता है, इतनी यह मुक्ति की अवधि है॥

॥ इति ॥

–स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

२६-८-१९५७ ई०

१. "ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः" (वेदा० ४।४।५) ब्रह्म के आधार पर मुक्ति में मुक्त रहता है।

मन्त्रों की वर्णानुक्रम-सूची

